द्विवेदीयुगीन पत्रकारिता और रचनात्मक लेखन का अन्तर्सम्बन्ध

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

प्रस्तुतकर्ता
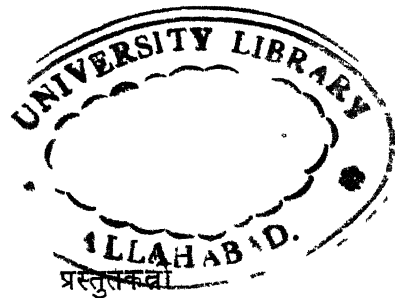
धारा सिन्हा

एम० ए०

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

निर्देशिका

डॉ निर्मला अग्रवाल

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

१९९३

विषयानुक्रम

भूमिका

वर्तमान समय में हिन्दी पत्रकारिता की दशा-दिशा के बारे में पर्याप्त विवाद पूर्ण दृष्टिकोण देखने को मिलता है । उस पर यह आरोप भी लगाया जाता है, कि उसका स्वरूप आज विचारपूर्ण होने के बजाय उत्तेजनात्मक और सनसनीखेज अधिक होता जा रहा है । यह भी कहा जाता है, कि आज पत्रकारिता अपने बुनियादी स्वरूप में साहित्यिक लेखन से इतनी अलग हो चुकी है कि साहित्यकार होना और पत्रकार होना अब एक साथ संभव ही नहीं रह गया है । लेकिन यह बात एक हद तक ही सही हो सकती है । आज भी ऐसे साहित्यकार हैं, जो पत्रकारिता के क्षेत्र से संबद्ध होने के बावजूद अपने रचनात्मक लेखन में भी सक्रिय हैं । यह अवश्य है, कि आज पत्रकारिता पर तात्कालिकता का दबाव इतना ज्यादा है कि संवेदनात्मक स्तर पर स्थायी महत्व की रचनात्मकता से उसे जोड़ पाने में कठिनाई का अनुभव किया जाता है । इस संकट से जूझते हुए मार्ग तलाशने की दिशा में जब हम अग्रसर होते हैं, तो आवश्यक होता है कि रचनात्मक लेखन और पत्रकारिता के अंतर्संबंधों के बारे में गहराई से विचार किया जाए और पुरानी पीढ़ी के उन महान साहित्यकारों, जो पत्रकार के रूप में भी कार्यरत थे, से प्रेरणा ली जाये । इसी दृष्टि से मुझे यह उपयोगी प्रतीत हुआ कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग को आधार बनाकर पत्रकारिता और रचनात्मक लेखन के अंर्तसम्बन्धों के बारे में शोध कार्य करूँ ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को मैंने नौ अध्यायों मे विभक्त किया है । पहले अध्याय में प्रयास किया गया है कि रचनात्मकता और पत्रकारिता के विभिन्न आयामों के आधारभूत तत्वों की विवेचना संभव हो । चूंकि पत्रकारिता की प्रकृति और साहित्य की प्रकृति में कई बिंदुओं पर भेद किया जाता है, इसीलिए दूसरे अध्याय में पत्रकारिता की प्रकृति की प्रकृति एवं उसके स्वरूप पर विस्तार से विचार किया है । तीसरे अध्याय में द्विवेदी-युग का सीमा-निर्धारण कर लेने का औचित्य यह है कि पत्र-पत्रिकाओं में छपी सामग्री को द्विवेदी - युग की सीमा में रखकर देखने के ठोस आधार मिल जाएँ । कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी-युग की गतिविधियों के केन्दिय प्रेरणा-बिंदुओं की पहचान 'सरस्वती' पत्रिका से परिचित हुए बिना असंभव है । इसलिए चौथे अध्याय में विस्तार से साहित्यिक पत्र - कारिता के संदर्भ में 'सरस्वती' के योगदान को विवेचित किया गया है । तत्पश्चात भाषा-शैली और विधागत वैशिष्ट्य आदि के आधार पर विभिन्न शैलियों के और विभिन्न विधाओं के विकास में पत्रकारिता के योगदान को रेखांकित करने की चेष्टा पाँचवे और छठे अध्यायों में की गई है । सातवें और आठवें धियायों में द्विवेदी युगीन महत्वपूर्ण पत्रकारों और पत्रिकाओं का परिचय और उनकी विवेचना है । नवें अध्याय में उपसंहार के रूप में यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है, कि हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता के परस्पर अन्योन्याश्रित होने का जो पुष्ट आधार द्विवेदी युग में बना, वह उस युग के राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि को तो उजागर करता ही है, साथ ही साथ साहित्य और पत्रकारिता के सहवर्ती विकास की संभावनाओं को भी सामने लाता है ।

इस शोध-प्रबन्ध के लेखन में मुझे अपनी शोध-निर्देशिका के रूप आदरणीया डॉ0 निर्मला अग्रवाल जी से जो स्नेहपूर्ण सहयोग मिला, उसके अभाव में इस प्रबंध की परिकल्पना ही असंभव थी । मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ । प्रस्तुत विषय पर अध्ययन करते समय विषयगत् अनेक समस्यायें उत्पन्न । इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रीडर डॉ0 राजेन्द्र कुमार जी से उक्त संदर्भ में जो अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ उसके विषय में कुछ भी कहना कम ही प्रतीत होगा । मैं उनके सहयोग के लिए हृदय से आभारी हूँ । यह भी मेरा सौभाग्य है कि मैं सुयोग्य और जागरूक पत्रकार के रूप में कार्य कर रहे अपने पिता श्री श्रीप्रकाश से भी समय-समय पर अमूल्य सुझाव पाती रही । उनके प्रोत्साहन से प्रेरणा पाकर ही इस शोध - कार्य के लिए उपयुक्त विषय मैं चुन सकी । उन सब लेखकों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी पुस्तकों से मैंने इस कार्य को संपन्न करने में संदर्भों का उपयोग किया । नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी आदि के कर्मचारियों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनका मुझे भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ ।

धारा सिन्हा

(धारा सिन्हा)
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अध्याय प्रथम

रचनात्मकता तथा पत्रकारिता के आधारभूत आयाम

- साहित्य तथा पत्रकारिता के संदर्भ में रचनात्मकता शब्द का आशय
- रचनात्मकता का व्यावहारिक परिवेश
- सृजन - प्रक्रिया बनाम पत्रकारी प्रक्रिया
- परिवेश के प्रति लेखक तथा पत्रकार की संवेदना और बोध-वृत्ति की दिशाएं
- संवेदनशील रचनाकार तथा बोध-वृत्ति वाले पत्रकार के सह-अस्तित्व की संभावनाएं
- निष्कर्ष

रचनात्मकता तथा पत्रकारिता के आधारभूत आयाम

साहित्य तथा पत्रकारिता के संदर्भ में रचनात्मकता शब्द का आशय :-

वैदिक कवियों ने कहा है कि सृजन - प्रक्रिया तथा समस्त सृजन आनन्द से ही सम्भव होते हैं - ऐसा आनन्द जिसमें पारलौकिक शाश्वत् सत्य तथा पीड़ा का अलौकिक सम्मिश्रण हो ।

सा तापस तापत्व: सर्वम् असराजत: यादिदम् किंच् ।[1]

जगत नियंता ईश्वर ने भी ऐसी ही पीड़ा के ताप से इस समस्त सृष्टि की रचना की ।

सृजन में एक ही क्षण में आनन्द भी है और पीड़ा भी । सृजन-प्रक्रिया कलाकार की भावनाओं को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्वतन्त्र विचरण के पंख लगा देती है ।

दूसरी ओर पत्रकारिता एक दूसरे ही दृश्य को प्रस्तुत करती है । उदाहरण के लिए मैकबेथ की भयंकर आकांक्षायें और आथेलो की विकट ईर्ष्या संभवत: पुलिस तथा न्यायालय के लिए सनसनीखेज कार्यवाई का विषय बन सकती थी और समाचार पत्रों के लिए वे कार्यवाइयाँ सनसनी - खेज सुर्खियों में छपने योग्य समाचार बन सकती थीं । किन्तु शैक्सपियर के नाटकों में मैकबेथ की आकांक्षायें और आथेलो की विकट ईर्ष्या शाश्वत्

---

1. Rabindra Nath Tagore, The Creative Ideal, P. 40.

मनोविकारों तथा शाश्वत् पीड़ा से अनुप्राणित सृजन बिम्ब बन गए ।

सृजन - प्रक्रिया से अनुप्राणित कलाकार का आनन्द सागर जैसा गहन और आकाश जैसा अनन्त होता है । इसकी पीड़ा अँधेरी रात जैसी भव्य होती है, जिसका अनन्त अंधकार अपने अन्दर भय - प्रेरक शान्ति और सीमाहीन व्यथा समोये रहता है । पत्रकार पीड़ाओं और व्याथाओं की अनुभूति से तस्त्र मन लिये हुए भी महाभारत का संजय बना घटनाओं का केवल यथातथ्य वर्णन मात्र कर सकता है, न उनका विवेचन कर सकता है, न अपनी कल्पना से प्रेरित अपनी कोई अनुभूति उससे जोड़ सकता है । अतः कलाकार का लेखन जहाँ आनन्दानुभूति प्रदान करता है, वहीं पत्रकार का लेखन मात्र तथ्य की सूचना देता है ।

कलाकार के लेखन का आधार है भाव, पत्रकार के लेखन का आधार है तथ्य निरूपण । कलाकार अपने सृजन में परम आनन्द की अनुभूति पाता है, तो पत्रकार अपने लेखन में मात्र तथ्य निरूपण का संतोष ।

उत्कृष्ट साहित्य तथा कलात्मक कृति अधिकांशतः देश और काल की संकीर्णता में नहीं बंधती । वह ऐसी संकीर्णताओं से मुक्त होकर ही उत्कृष्टता प्राप्त कर पाती है । इसके विपरीत पत्रकार की लेखनी सदैव ही देश और काल के बंधन में बंधी होती है । साहित्यकार अथवा कलाकार अपने व्यक्तिगत परिवेश से पूरी तरह मुक्त होकर कला - सृजन नहीं कर सकता । उसकी रचनात्मक जिजीविषा कहीं-न-कहीं उसके व्यक्तिगत परिवेश से अवश्य ही जुड़ी होती है । वह साहित्यकार या कलाकार के

अलावा एक व्यक्ति भी होता है, इसी कारण वह आत्मनिष्ठ भी होता है, जिसका प्रतिबिम्ब उसके रचनात्मक साहित्य अथवा उसकी कला में परिलक्षित होता है । पत्रकार का व्यक्तित्व उसके लेखन से अनिवार्य रूप से अलग रहता है । वह आत्मनिष्ठ होकर लेखन कर ही नहीं सकता । उसे तो प्रयत्न करके व्यक्तिगतता और आत्मनिष्ठता से अपने को मुक्त रखना होता है । इसी में उसके पत्रकारी - लेखन की ईमानदारी निहित होती है । सृजनशील साहित्य या कला आत्मगत प्रतिक्रिया का प्रतिफल होती है, तो पत्रकारी - लेखन बहिर्गत, वस्तुनिष्ठ, समाजनिष्ठ, देशनिष्ठ लेखन - प्रक्रिया का प्रतिफल है ।

<u>रचनात्मकता का व्यावहारिक परिवेश</u> :-

मानव मन - मस्तिष्क के झंझावातों, विचारों तथा कुविचारों, इच्छाओं - अपेक्षाओं तथा चेतनाओं की अभिव्यक्ति ही युगो - युगों तक कालजयी बने रहने वाले साहित्य तथा कला का आधार होती है । दृश्य जगत की वस्तुएं तथा मानव व्यापार भी साहित्यकार तथा कलाकार की सृजनशीलता के परिवेश निःसन्देह बनते हैं, किन्तु तभी जब वे साहित्यकार या कलाकार की अन्तः चेतना को स्पर्श कर पाते हैं । पत्रकार के लिए दृश्य जगत की वस्तुओं, घटनाओं तथा मानव व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण ही पर्याप्त होता है ।

किन्तु कलाकार की सृजनशीलता को प्रेरित करने के लिए उसकी अन्तः चेतना का जागृत होना भी अनिवार्य है । ऐसा भी संभव है कि

कोई बड़ी - से - बड़ी घटना भी साहित्यकार की सृजनशीलता को प्रेरित न कर सके और बहुत छोटी - सी घटना एक उत्कृष्ट सर्जनात्मक ग्रन्थ अथवा कलाकृति का आधार बन जाये ।

डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल ने जेन ऑस्टिन के उपन्यासों की चर्चा करते हुए लिखा है कि - " नेपोलियन के जिन युद्धों ने समस्त इंग्लैण्ड के जीवन को थर्रा दिया था, जेन ऑस्टिन जैसी सुसंस्कृत और संवेदनशील महिला उनसे नितान्त अछूती रह गयी • • • • • कम - से - कम उसके सृजनात्मक पक्ष पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।"[1]

पत्रकार के लिए ऐसा कुछ भी अनिवार्य नहीं है । वह न बड़ी घटना की उपेक्षा कर सकता है, न छोटी घटना को वृहद रूप दे सकता है ।

पत्रकार के विपरीत सृजनशील साहित्यकार की स्वचेतना उसकी सर्जनात्मकता के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, और इस जगत की कोई भी घटना या कोई भी मानव व्यापार जब तक उसकी स्वचेतना को झकझोर न दे तब तक वह किसी सर्जनात्मक कृति का विषय नहीं बन सकता । पत्रकार अपने इर्द - गिर्द घटित हो रहे जगत के व्यापारों की लगभग एक जैसी मिलती - जुलती व्याख्या ही प्रस्तुत कर सकता है । यही उसके लेखन की सीमा है । किन्तु कलाकृतियों में जगत के व्यापारों की अलग-अलग तथा सर्वथा भिन्न व्याख्यायें कलाकार के अलग - अलग व्यक्तित्व के अनुरूप

1- डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल, हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ0 49•

देखने को मिलती है। साहित्यकार की स्वचेतना जगत के व्यापारों को जिस रूप में ग्रहण करती है, उसी रूप में वह उनको अपनी कलाकृति में अभि - व्यक्ति प्रदान करता है। मैथ्यू आर्नल्ड की यह बात किसी हद तक मान्य हो सकती है कि -"Journalism is a literature in hurry. "[1] आगे उन्होंने लिखा है "Perhaps you can draw a line between literature and Journalism"[2] उनकी इस बात से असहमत होने का कोई कारण नहीं है, किन्तु उनके निम्न कथन से सहमत होना कुछ कठिन दिखाई देता है - " I can only say that there is a difference which is sometimes easy to see and sometimes not. They over - lap and blur into each other."[3]

मेरे विचार में साहित्य तथा पत्रकारिता के बीच जो सीमा रेखा है, वह कदापि ऐसी सूक्ष्म नहीं है जिसे कभी देखा न जा सके। आर्नल्ड ने स्वयं अपनी ही बात से अपनी व्याख्या को काट दिया है, जब वे लिखते हैं - " The speeches of U.S. President are usually classi- cal as literature and in fact have often been written by Professional Journalists."4

इसी तरह किसी दुर्घटना अथवा घटना का समाचार भी कदापि साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सकता।

1- Journalism, Mathew Arnold, Preface.

2- वही।

3- वही।

4- वही।

सृजन - प्रक्रिया बनाम पत्रकारी लेखन - प्रक्रिया

साहित्यिक लेखन अथवा कलाकृति अपने समग्र रूप में हमारे समक्ष प्रकट होती है । इसी प्रकार पत्रकारी-लेखन के अन्तर्गत लिखा गया समाचार, समाचार समीक्षा, सम्पादकीय अथवा खोजी रपट भी अपने समग्र रूप में ही पाठक के समक्ष प्रस्तुत होती है । इन कृतियों के पीछे सृजन की जो एक जटिल प्रक्रिया छिपी होती है, उसे कोई पाठक प्रयास करने पर भी समझ नहीं पाता, भले ही उसे कितना भी तीव्र कुतूहल क्यों न हो । कला - सृजन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि - " जिस प्रकार हम अपने समक्ष फैले हुए इस वस्तु जगत को परमात्मा की सृष्टि के रूप में जानमान कर भी उसकी सृजन-प्रक्रिया से अनजान ही रहते हैं, उसी प्रकार कलाकृति को समाज विशेष, युग-विशेष अथवा व्यक्ति-विशेष की सृष्टि के रूप में जानकर भी उसकी प्रक्रिया का कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नही पा सकते ।"[1]

फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लाबेयर की मान्यता[2] का हवाला देते हुए डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल ने भी सृजनशील कलाकार को स्रष्टा के समकक्ष माना है । इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि प्राचीन युग में कलाकार को स्रष्टा का ही पद मिलता रहा है और उसकी सृजन क्षमता

1- डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल, प्रेमचंद - परवर्ती हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य उपन्यास का प्रभाव, पृ0 49.

2- The author in his work must be like God in the universe, present everywhere and visible nowhere; art being a second nature, the creator of this nature must act by similar methods; in each atom, in every aspect, there must be felt a hidden and infinite impossability." The Novel and the People: Ralph Fox, P.117.

को 'प्रतिभा', 'दैवी वरदान', अथवा 'ईश्वर-प्रदत्त' मानकर संतोष कर लिया जाता था। कला - सृजन की प्रक्रिया एक अगम, प्रच्छन्न और अचेतन प्रक्रिया के रूप में मानी जाती थी, जिसके प्रति स्वयं कलाकार भी अनजान रहता था क्योंकि वह अधिक-से-अधिक अपने चेतन मन का ही उद्घाटन कर सकता था। इसीलिए बहुत दिनों तक कला की सृजन - प्रक्रिया रहस्यावृत्त ही बनी रही। यही नहीं, जिस प्रकार जगत-कर्ता समस्त सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी, कहीं भी प्रत्यक्ष नहीं होता, उसी प्रकार कलाकार भी अपनी कृति में सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी उसमें प्रकट नहीं मिलता।[1]

परमात्मा की सृष्टि और एक साहित्यकार अथवा कलाकार की रचना में कुछ अन्तर भी दृष्टिगत होता है। साहित्यकार परमात्मा की भाँति कोई ऐसी अदृश्य शक्ति नहीं है, जिसके अन्तर्तम के मर्म को किसी प्रकार समझा ही न जा सके। उसकी रचना भी परमात्मा की सृष्टि की भाँति आदि-अन्तहीन नहीं होती, जिसे उसकी समग्रता में देख पाना असम्भव हो। कलाकार की रचना को तो उसकी समग्रता में देखकर उसका विश्लेषण भी किया जा सकता है। और जब हम उसकी रचना को उसकी समग्रता के

1- डॉ0 भारत भूषण अग्रवाल, प्रेमचन्द्र परवर्ती हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य उपन्यास का प्रभाव, पृ0 49.

साथ विश्लेषित कर सकेंगे, तो उसके सृष्टा के अन्तर्तम के भेद की झलक भी अवश्य पा लेंगे। जहाँ तक उसकी सृजन - प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वह निश्चय ही गूढ़ और रहस्यमय है। कुछ ऐसा ही आशय प्रकट करते हुए प्रख्यात मनोवैज्ञानिक युग ने सत्य ही लिखा है कि सृजन - प्रक्रिया सर्वदा मानव के अभिज्ञान से परे बनी रहेगी।[1]

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक समय में सृजन - प्रक्रिया के सम्बन्ध में बहुत शोध किये गये हैं। अनेक साहित्यकारों ने भी अपनी रचना - प्रक्रिया पर प्रकाश डाल कर इस सम्बन्ध में किये जा रहे शोध कार्यों को सहायता प्रदान की है। किन्तु इसके बावजूद वह नहीं कहा जा सकता कि साहित्य अथवा कला सृजन - प्रक्रिया के गूढ़ रहस्य को पूरी तरह उद्घाटित कर लिया गया है।

इसके विपरीत पत्रकारी - लेखन की सृजन - प्रक्रिया न तो इतनी गूढ़ है न रहस्यपूर्ण। पत्रकार किसी - न - किसी तथ्य को आधार बना कर ही कुछ लिखता है - चाहे वह सार्वजनिक सभा हो, अग्निकाण्ड या अन्य कोई दुर्घटना हो, अदालत में चल रहा कोई विवाद हो, किसी राजनेता का भाषण हो या उस पत्रकार के इर्द - गिर्द घटित हो रही

1- The creative aspect of life which finds its clearest expression in art baffles all attempts at rational formulation. Any reaction to stimulus may be casually explained but the creative act, which is the absolute antithesis of mere reaction, will for ever elude the human understanding. The Creative Process, P. 209.

कोई अन्य घटना । कभी - कभी उसे अपने दृष्टिकोण से अपनी टिप्पणियों सहित समाचार प्रस्तुत करने की भी छूट मिल जाती है । सम्पादक हुआ तो उसे किसी विशेष घटना पर टिप्पणी करने , उसकी समीक्षा करने या उसकी व्याख्या अथवा मूल्यांकन करने का पूरा अवसर प्राप्त होता है । साहित्यिक पत्रकारिता से जुड़ा पत्रकार हुआ तो उसे पुस्तकों, नाटकों, संगीत, कला आदि की समीक्षा करने या मूल्यांकन करने का अवसर मिलता है । किन्तु ऐसे समस्त पत्रकारी - लेखन की सृजन - प्रक्रिया के पीछे उस सृष्टा जैसा भाव नहीं रहता जो अपनी सम्पूर्ण रचना में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टगत न होकर भी कहीं - न - कहीं आवश्यक रूप में बना रहता है । यही कारण है कि पत्रकारी - लेखन की सृजन - प्रक्रिया सीधी, सरल और पूर्णतया बोधगम्य है । किसी घटना को देखा, उसकी पृष्ठभूमि को जाँचा - परखा, कुछ खोज की, थोड़ा मनोमंथन किया और तुरत - फुरत रचना की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी ।

पत्रकारी - लेखन के लिए सृजन - प्रेरणा जैसी कोई प्रक्रिया नहीं होती, जबकि साहित्य - सृजन के लिए यह वह आवश्यक बिन्दु है, जिसका उदय साहित्यकार के मन में कब, क्यों और कैसे होता है यह अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय है ।

परिवेश के प्रति लेखक तथा पत्रकार की संवेदना और बोध-वृत्ति की दिशायें

साहित्यकार और पत्रकार दोनों ही निःसंदेह अपने चारों ओर व्याप्त जीवन तथा समाज को बहुत निकट से देखते - गुनते हैं । पत्रकार

जो कुछ देखता है, उसकी यथातथ्य रपट लिख देता है । किन्तु साहित्यकार की संवेदनशीलता इतनी चरम सीमा पर पहुंची होती है कि समाज और जीवन की उन्हीं घटनाओं को वह गूढ़तम दृष्टि से देखता है जो उसके अन्तर्मन में सृजन - प्रेरणा का कारण बन जाती हैं । साहित्यकार के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी प्रत्यक्ष तथा यथार्थ घटना को देख कर ही उसके मन में सृजन - प्रेरणा उत्पन्न हो । उसका अवचेतन मन इतना संवेदनशील होता है, कि प्रत्यक्ष रूप से न देखने पर भी जीवन के किसी आयाम से उसके मन में सृजन - प्रेरणा का उदय हो सकता है ।[1]

इस विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जीवन - क्रम तथा घटना - क्रम का साक्षात्कार पत्रकार के लिए पूर्ण रूप से तथ्यपरक होता है । किन्तु वही साक्षात्कार साहित्यकार के लिए ऋषियों, ज्ञानियों और दिव्य द्रष्टाओं जैसा अलौकिक होता है, जो दृष्टा - साहित्यकार के मन में सृजन की अकुलाहट उत्पन्न कर देता है । और यह सब - कुछ साहित्य - कार के मन में अनजाने ही होता है, जिसके संबन्ध में क्यों, कब और कैसे

1- The creative imagination of the literary person may take the same material that appeared as news in a newspaper and reshape it in such fashion that becomes a novel, a short story, a play or even a poem. In doing this, he doesn't have to stick to facts as the reporter does; he may use the facts merely as a starting point or as the framework for what he writes. Edwin H. Fold, New Survey of Journalism में संकलित लेख The Art and craft of the Literary Journalist. P. 304.

जैसे प्रश्न नहीं उठाये जा सकते और न ऐसे प्रश्नों का कोई उत्तर प्राप्त हो सकता है। ऐसी प्रक्रिया से उपजी रचना के लिए फ्रायड ने लिखा है कि - ऐसी रचना स्नायु - विकार के ही समकक्ष होती है और रचयिता उसमें नितान्ता ही अवश होता है।[1] किन्तु किसी भी साहित्य - सृजन को स्नायु - विकार मानना कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके संबंध में तो यही कहा जा सकता है कि फ्रायड की ऐसी सोच स्वयं उन्हीं के मन की विकृति को प्रदर्शित करती है।

साहित्यकार का सृजन उसका स्नायु - विकार नहीं होता, बल्कि पत्रकारी शब्दों में कहें तो वह अपने पात्रों के मन, मस्तिष्क तथा आत्मा की गहराइयों की रपट अपनी रचना में अंकित करता है।

फ़ेरीन मोलनर के अनुसार - " कोई एक पात्र, कोई सामान्य - सी लगने वाली घटना अथवा भावना या कोई दृश्य साहित्य स्रष्टा के मन में कभी-कभी अचानक ही इस तरह कौंध जाता है कि उसके मन-मस्तिष्क में उसकी भावी रचना का बीज पड़ जाता है और बीज चाहे तत्काल ,

---

1- And a work of art is brought into questionable proximity with the neurosis when it is taken as something which can be analysed in terms of the Poet's repressions. In a sense it finds itself in good company, for religion and philosophy are regarded in the same light by Freudian Psychology. - The creative Process, P. 220.

चाहे लघु अथवा लम्बे अन्तराल के बाद एक साहित्यिक रचना के रूप में विकसित हो जाता है ।[1]

उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने लिखा है - " यह बड़ा रोचक सत्य है कि एक स्फुट सुझाव , एक विचरते शब्द, एक अस्पष्ट गूंज के स्पर्श - मात्र से उपन्यासकार की कल्पना उद्‌बुद्ध होती है, मानों कोई तीक्ष्ण सुई चुभ गई हो । उसका गुण उसकी सुई - सदृश्य तीक्ष्णता में निहित होती है, सूक्ष्म रूप में वेध सकने की शक्ति में • • • • • • हमारा विषय मात्र एक दाने में होता है, सत्य के, सौन्दर्य के, यथार्थ के एक ऐसे फल में जो सामान्य चक्षु को कदाचित ही दिखाई दे ।[2]

1- We (authors) report the news of the mind and soul of our characters as much as we do the actions and happenings of daily life, which are after all, the material accidents of existence rather than the significant realities of life. There is a disposition, in some quarters to call that fiction. But some of it, I insist, is literature. True literature is life translated into letters. - The Plays of Ferene Molnar, Introduction by Louis Rittenberg, P.XV

2- The Art of the Novel : Critical Prefaces; Edited by Richard P. Blackmur, P. 119.

इसी प्रकार इटली के विख्यात लेखक अल्बार्टो मोलारिया ने अपने उपन्यास " ला रोमाना " (रोम की रमणी) के सम्बन्ध में बताया था - "दस साल पहले मैं एक रोमवासिनी महिला से मिला था । उपन्यास से उसके जीवन का कोई सम्बन्ध न था, किन्तु उपन्यास लिखते समय मुझे उसका ध्यान आ गया, उसने मानों एक चिन्गारी उत्पन्न कर दी ।"[1]

पत्रकार को किसी प्रेरणा अथवा बीज की आवश्यकता नहीं होती । न ही उसे समय के अन्तराल का लाभ मिलता ~~मिलता~~ है । उसे तो तत्काल किसी भी घटना पर रपट लिखनी होती है, टिप्पणी करनी होती है, व्याख्या करनी होती है । जबकि साहित्यकार चाहे तो उसकी उसी रपट को कल्पना के पंख लगा कर अपनी सृजनशीलता के सहारे एक उपन्यास एक कहानी, एक नाटक या एक कविता के ढांचे में ढाल सकता है । पत्रकार की तरह उसे तथ्यों से चिपके रहने की आवश्यकता नहीं है । तथ्यों का तो वह अपनी रचना के केवल केन्द्र-बिन्दु के रूप में इस्तेमाल कर सकता है । किन्तु यह बात ऐसे साहित्य - सर्जक के लिए नहीं कही जा सकती, जो अपनी रचना का आधार प्रत्यक्ष जीवन की अपेक्षा बौद्धिक तत्व को बनाने में रूचि रखता है । ऐसे साहित्य - सर्जक की रचना गहन तथा लम्बे मनन-चिन्तन का प्रतिफल होती है ।

साहित्य - सृजन एक साधना है । इसमें संदेह नहीं कि सृजन की प्रतिभा साहित्यकार में जन्मजात होती है । प्रतिभा श्रम से नहीं प्राप्त की जा सकती । किन्तु प्रतिभा के प्रस्फुटन के लिए साधना और तपस्या

1- Writers at work ; First Series , P. 195.

आवश्यक होती है । किसी भी रचना के सृजन की प्रेरणा निःसंदेह साहित्य - कार के मन में अक्सर अचानक ही कौंध उठती है, किन्तु वह प्रेरणा केवल बीज रूप में होती है, जिसे सृजनशील साहित्यकार अपनी साधना से सींचता रहता है । तभी वह प्रेरणा - बीज उचित समय आने पर पल्लवित होता है और एक तरोताजा रचना का सृजन आरम्भ हो जाता है । सृजनशील साहित्यकार अपनी रचना के पात्रों के साथ स्वयं जीता है, उसकी घटनाओं और भावनाओं की वेदना को स्वयं झेलता है, और इन सबको अपनी रचना में जीवन्त बना देता है । इन पात्रों और घटनाओं में साहित्यकार द्वारा वर्षों पहले देखे गये वास्तविक पात्रों या घटनाओं की भी झलक अनायास ही मूर्त रूप प्राप्त कर लेती है । साधना उसकी रचना में जीवन को एक अर्थ दे देती है ।

सृजन प्रेरणा का बीज साहित्यकार के मन में प्रत्यारोपित होने और एक लम्बे अन्तराल तक उस पर मनन - चिन्तन के पश्चात् एक रचना के रूप में उसके प्रस्फुटन को एक प्रसिद्ध समीक्षक ने प्रसव - प्रक्रिया के समकक्ष रखा है । राबर्ट लिडेल ने कहा है कि साहित्य - सृजन फूलों को सजाने - संवारने, यहाँ - वहाँ रखने - सहजने या उन्हें तोड़ने - मरोड़ने जैसी प्रक्रिया नहीं है । सृजन - प्रक्रिया तो वास्तव में प्रसव - प्रक्रिया के समान है ।[1]

1- The process of working out one's conception in fiction is not at all like arranging flowers, putting this here, that there, and giving a pull or a twist or a spray in order to make it stand out. It is very much more like giving birth to a baby. A Treatise on the Novel : Robert Liddell. P. 86

पत्रकारी लेखन में ऐसी किसी लम्बी प्रक्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती । इसमें संदेह नहीं कि पत्रकार के लिए भी प्रतिभा और संवेदना की आवश्यकता होती है । किन्तु पत्रकारी लेखन की प्रतिभा श्रम और यत्न से भी विकसित की जा सकती है । निःसंदेह पत्रकारी लेखन के लिए किसी लम्बी साधना, लम्बी अवधि तक मनन - चिंतन अथवा सृजन की पीड़ा की आवश्यकता नहीं होती । वास्तव में उसके पास तो किसी जीवन - बिन्दु पर लेखन के लिए इतनी लम्बी समयावधि ही नहीं होती । वह किसी जीवन - बिन्दु को अपने मन में लम्बी अवधि तक बीज की तरह पाल ही नहीं सकता । उसका जीवन - बिन्दु तो समाचार होता है, चाहे वह कैसा भी हो । और समाचार के लिए कहा जाता है - " It is a most perishable commodity " . तात्पर्य यह है कि एक समय पर प्राप्त हुआ समाचार चंद घंटों में ही इतना बासी हो जाता है कि उसका इस्तेमाल निरर्थक हो जाता है । सम्भवत: फल और सब्जियाँ भी इतनी शीघ्रता से बासी नहीं होतीं । फिर उसे बीज रूप में लम्बी अवधि तक कैसे पाला जा सकता है ? पत्रकार के लिए किसी जीवन - बिन्दु पर समाचार, टिप्पणी या व्याख्या लिखने की प्रेरणा साहित्य सर्जक जैसी अन्तर्दृष्टि का रूप नहीं ले सकती, चाहे वह पत्रकार उसे कितनी भी सूक्ष्मता और तीव्रता से ग्रहण करने का प्रयास करे । वही अन्तर्दृष्टि जब सृजनशील साहित्यकार को मिलती है तो उसकी साधना और संवेदना उसे एक मौलिक सत्य तथा एक नई उद्‌भावना का दर्शन कराती है । वही मौलिक सत्य तथा नवीन उद्‌भावना उसकी सृजन -

प्रक्रिया का मेरूदण्ड बन जाती है ।

पत्रकार किसी घटना, घटनास्थल अथवा चरित्र का सदैव यथातथ्य चित्रण ही करता है, किन्तु सृजनशील साहित्यकार अक्सर ही अपने किसी एक चरित्र में वास्तविक जगत के भिन्न - भिन्न अनेक चरित्रों के गुण-अवगुण का मिश्रण कर देता है, और इस तरह उसका वह चरित्र अनूठा बन जाता है । इसी प्रकार वह अनेक वास्तविक घटनाओं तथा घटना स्थलों का घाल - मेल करके एक पूर्णतः नवीन घटना अथवा घटनास्थल का चित्रण कर देता है ।

इस प्रकार सृजनशील साहित्यकार का प्रत्येक पात्र अनेक वास्तविक पात्रों का मिश्रण होता है और प्रत्येक घटना अनेक वास्तविक घटनाओं का मिश्रण होती है । वास्तविक चरित्रों तथा तथ्यों का यह संकलन और सम्मिश्रण सृजनशील साहित्यकार अधिकतर अवचेतन रूप में अनायास ही करता रहता है ।

कोई संवेदनशील घटना अथवा वास्तविक चरित्र सृजनशील साहित्य -कार के अवचेतन मन में अनायास ही अज्ञात रूप से समा जाता है और लम्बे अन्तराल के बाद वह अचानक साहित्यकार की रचना में सवांगि पात्र या घटना के रूप में प्रकट हो जाता है ।

इस सम्बन्ध में फ्लाबर्ट का तो यहाँ तक कहना है कि किसी भी कलाकृति में शायद ही कोई पात्र या घटना कभी ऐसी मिले जिसका उसके सर्जक ने किसी - न - किसी अंश में प्रत्यक्ष अनुभव न किया हो ।[1] प्रसिद्ध

1- Flaubert : Correspondence, P. 149.

साहित्यकार लॉ बेयर ने ठीक ही लिखा है कि जिसका कभी अनुभव न किया गया हो उसकी अभिव्यक्ति करना कठिन है। यद्यपि यह मान्यता विवाद का विषय हो सकती है।

पत्रकारी लेखन में भी उसी घटना या चरित्र के संबंध में लिखा जाता है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जाये किन्तु अंश रूप में नहीं पूर्ण रूप से और लम्बे अन्तराल के बाद नहीं, तत्काल। सृजनशील साहित्यकार अनेक रूपों में समाचार पत्रों का उपयोग कर लेता है, जबकि पत्रकार साहित्य का उपयोग अपने लेखन के लिए नहीं कर पाता। कुछ साहित्यकार समाचार पत्रों में छपी घटनाओं का उपयोग अपने सृजन में कर लेते हैं। ऐसे ही एक फ्रांसीसी साहित्यकार आन्द्रे जीद थे, जो समाचार पत्रों में अपराध समाचारों की कतरने काट कर रख लिया करते थे और उन्हें अपने लेखन का आधार बनाते थे। एक बार उन्हें ऐसी दो भिन्न घटनाओं के समाचारों ने इतना झकझोरा कि उन्होंने उन दोनों घटनाओं का घाल - मेल करके एक उपन्यास लिख डाला।[1] इतना अवश्य है कि ये घटनायें किसी साहित्यिक कृति में जब उपयोग की जाती हैं तो पूरी तरह परिवर्तित हो जाती हैं।

संवेदनशील रचनाकार तथा बोध-वृत्ति वाले पत्रकार के सह - अस्तित्व की संभावनाएं :-

सृजनशील साहित्यकार पत्र - पत्रिकाओं का उपयोग अपने साहित्य के प्रकाशन तथा प्रचार - प्रसार के लिए भी करते हैं। और ऐसे साहित्य -

---

1- A Treatise on the Novel, P. 79.

कारों को मूलत: पाँच श्रेणियों में बाँटा जा सकता है - निबन्धकार, कथाकार, उपन्यासकार, हास्य - व्यंग्य लेखक तथा समीक्षक - साहित्या - लोचक ।

अनेक साहित्यकारों ने अपने साहित्यिक जीवन का प्रशिक्षण ही समाचारपत्रों से प्राप्त किया था । चार्ल्स डिकन्स अपने आरम्भिक जीवन में लन्दन में एक समाचार पत्र संवाददाता का ही कार्य करते थे । अपने इस कार्य के द्वारा ही वे समाज के भिन्न-भिन्न पात्रों और उनके जीवन में रुचि लेने लगे और फिर उन पर लिखने लगे । डेनियल डिफो भी आरम्भिक जीवन में इंग्लैण्ड में एक पत्रकार ही थे और उन्होंने अंग्रेजों के जीवन को निकट से देखा - सुना और उस पर लिखा था । विलियम डीन हावेल्स भी 'ओहियो स्टेट जार्नल' में पत्रकार थे, लेकिन उन्हें पुलिसिया रिपोर्टिंग इतनी अरूचि - कर लगी कि उन्होंने समाचारपत्रों का कार्य ही छोड़ दिया । इस घटना के कुछ दिन बाद उन्होंने स्वयं लिखा था - " I think if I had been wiser than I was then, I would have remained in the employ offered to me , and learned in the school of reality the many lessons of human nature which it could have taught"[1]

इसी प्रकार उपन्यासकार रिचर्ड हार्डिंग डेविस अपने जीवन के अंतिम समय तक समाचारपत्रों से सम्बद्ध रहे । उन्हें अपने उपन्यासों और

1- New Survey of Journalism, P. 306 - 308.

कहानियों के मूल बीज रिपोर्टर तथा युद्ध संवाददाता के रूप में समाचारपत्रों में प्रकाशित घटनाओं से ही प्राप्त होते रहे ।

रूड्यार्ड किपलिंग ने अपना - "बेरक - रूम बेलाईस" एक भारतीय समाचार पत्र के ही लिए लिखा था । ब्रेट हार्टे ने 'नार्दन कैलीफोर्नियन' समाचारपत्र में संवाददाता का कार्य करते - करते ही यथार्थवादी लेखन की तकनीक सीखी थी । ओ हेनरी ने 'हाउसपेन पोस्ट' के लिए स्तम्भ लिखना शुरू किया था और आरम्भ में 'न्यूयार्क सिटी' समाचारपत्र के लिए ही कहानियाँ लिखा करते थे । 'हाउसपेन पोस्ट' के लिए जो कालम वह लिखा करते थे, उन्हीं से उनकी दो प्रसिद्ध कहानियों के बीज उनके अवचेतन में समा गये थे, जो बाद में उनकी प्रसिद्ध कहानियों " अ पुअर रूल " {आपसन्स} और "द एनचार्टेड प्रोफाइल " { रोड्स आफ डेस्टिनी } के रूप में पल्लवित हुए । फिलिप फ्रेन्यू जैसा कवि, जिसे 'द पोयट आफ द रेवोल्यूशन' कहा जाता था, वह भी अपने जीवन के अधिकांश वर्षों में पत्रकार ही था । विलयम कुलेन ब्रायन्ट जैसे कवि अपने जीवन के पचास वर्षों तक 'न्यूयार्क इवनिंग पोस्ट' के सम्पादक रहे ।

कार्ल सैण्डबर्ग 'शिकागो डेली न्यूज' में पत्रकार थे और अपनी कविताओं में समाचारपत्र में छपी सामग्रियों का अक्सर इस्तेमाल करते थे । उन्होंने सामान्य जन से अपना तादात्म्य बना लिया था और घटनाओं को अपनी अन्तर्दृष्टि तथा संवेदनाओं के माध्यम से देखते - सुनते थे ।

प्रसिद्ध निबन्धकार जोसेफ एडिसन तथा रिचर्ड स्टील 18वीं शताब्दी के पत्रकार थे तथा 'एक्सपेक्टेटर' में संकलित उनके निबन्ध प्रारम्भिक अंग्रेजी

साहित्यिक पत्रकारिता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । अमेरिका के ऐसे ही एक निबन्धकार नैथेनियन पार्कर विलीस 18 वीं शताब्दी में प्रसिद्ध हुए ।

निःसंदेह ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य तथा पत्रकारिता में भी अनेक हैं, जिनके संबंध में विस्तार से अलग अध्याय में ही लिखना उचित होगा।

प्रसिद्ध हास्य व्यंग्यकार बेन्जामिन फैंकलिन अपने भाई के समाचार - पत्र "न्यू इंग्लैंड कोरेन्ट " में जीवन तथा चरित्रों पर व्यंग्य लिखा करते थे । बाद में स्वयं अपने पत्र "पेन्सिलवानिया गजट " में हास्य - व्यंग्य लिखते रहे । मार्कट्वेन अपने साहित्यिक जीवन में "वार्जीनिया सिटी इन्टरप्राइज के हास्य - व्यंग्य लेखक थे । बाद में जब वे नेवाडा से सैनफ्रांसिस्को गये तो वहाँ के पत्र " सैनफ्रांसिस्को फाल " में हास्य सामग्री लिखते रहे और न्यूयार्क के " बुफैलो एक्सप्रेस " के लिए भी हास्य - व्यंग्य की रचना देते रहे ।

कभी - कभी कोई समाचार किस तरह कविता, किसी कहानी या किसी उपन्यास का रूप सृजनशील साहित्यकार की कल्पना के सहारे प्राप्त कर लेता है, इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण कार्ल सैंडबर्ग के सम्बन्ध में प्राप्त होता है । एक बार पत्रकार सैंडबर्ग अपने समाचारपत्र के लिए समाचार संग्रह करने शिकागो स्टाकयार्ड गये । वहाँ उन्हें लोगों ने बताया कि स्टाकयार्ड क्षेत्र में हाइड पार्क की तुलना में सात गुना अधिक बच्चे अपने जीवन से असमय ही हाथ धो बैठते हैं । वहाँ कार्ल सैंडबर्ग ने जो कुछ देखा उसके फलस्वरूप उनकी प्रसिद्ध कविता " द राइट आफ ग्रीफ " प्रस्फुटित हुई, जिसकी आरम्भिक पंक्ति है - " Take your fill of intimate remorse, Perfumed sorrow . . . ."

और अन्त में उन्होंने विद्रोही स्वर में उद्घोषित किया -

" I shall cry over the dead child of a stockyard's hunky."

भारतीय परम्परा में कवि को इसी अर्थ में दृष्टा कहा गया है और ऐसी अनेक काव्य कृतियाँ हैं, जो इस प्रकार के साक्षात् अनुभव से ही जन्मी हैं। कलाकृति में पहुँचकर प्रत्यक्ष अनुभव का इस प्रकार का रूपान्तरण सृजन-प्रेरणा तथा अन्तर्दृष्टि के कारण ही हो पाता है।

निष्कर्ष :-

1. सृजनात्मक साहित्य लेखन तथा पत्रकारी लेखन के बीच एक स्पष्ट सीमा रेखा है। किन्तु यह भी सत्य है कि पत्रकारिता अक्सर ही रचनात्मक लेखन की ओर जाने वाले सहज स्वस्थ मार्ग को प्रशस्त करती रही है।

2. साहित्य - सृजन - प्रक्रिया एक अवचेतन प्रक्रिया है जिसका रहस्य अज्ञात है। पत्रकारी लेखन में ऐसी अज्ञात अवचेतन सृजन - प्रक्रिया का न तो कोई महत्व है और न कोई स्थान।

3. सृजन - प्रेरणा ही वह बिन्दु है, जहाँ से सृजन - प्रक्रिया आरम्भ होती है। कोई भाव, कोई विचार, कोई दृश्य, कोई पात्र या कोई घटना अनायास ही सर्जक साहित्यकार के अवचेतन में बीज रूप में प्रवेश पा लेती है और उचित अवसर पर पल्लवित हो उठती है। पत्रकारी लेखन में ऐसे बीज का कोई महत्व नहीं हो सकता। पत्रकार को तो किसी घटना, दृश्य, चरित्र अथवा विचार पर तुरन्त समाचार, टिप्पणी या व्याख्या लिखनी होती है। उसके लिए कोई समय का अन्तराल नहीं हो सकता। उसके लिए सबसे अधिक महत्व तात्कालिकता का है।

4. साक्षात् अनुभव कभी - कभी उत्कृष्ट साहित्यिक रचना का कारण बन जाता है। अक्सर ऐसा अनुभव संवेदनशील पत्रकार को भी ऐसी रचना लिखने की प्रेरणा दे देता है, जो उसे उत्कृष्ट साहित्यकार की श्रेणी में खड़ा कर देती है।

5. अनेक साहित्यकारों ने समाचारपत्र - पत्रिकाओं को अपने साहित्य सृजन तथा उसके प्रचार - प्रसार का माध्यम बनाया है। यह बात अंग्रेजी साहित्य ही नहीं, हिन्दी साहित्य के लिए भी सत्य है।

द्वितीय अध्याय

पत्रकारिता : प्रकृति और स्वरूप

- पत्रकारिता का आदिम स्वरूप तथा विकास
- प्राचीन समाचार केन्द्र
- नियमित समाचार संग्रह तथा प्रसारण
- आधुनिक पत्रकारिता का आरम्भ
- भारत में मुद्रित समाचार पत्र
- समाचार तथा समाचार-लेखन की मान्यताएँ
- पाठक की अभिरुचि
- घटनास्थल और प्रकाशनस्थल
- समाचारों की पाठक-केन्द्रिकता
- समाचार के अन्य तत्व
- प्रारम्भिक विकास-यात्रा के इतिहास का अभाव

पत्रकारिता : प्रकृति और स्वरूप

पत्रकारिता का आदिम स्वरूप तथा विकास

पत्रकारिता के सम्बन्ध में विचार करने पर सामान्यत: किसी समाचार पत्र का चित्र ही मानस पटल पर उभरता है । किन्तु पत्रकारिता के आयाम इतने छोटे नहीं हैं कि उन्हें केवल समाचारपत्र के दायरे में सीमित किया जा सके । इस बात को अच्छी तरह और स्पष्ट रूप से समझने के लिए पत्रकारिता और समाचार पत्र के वास्तविक स्वरूप तथा आदिम रूप पर गम्भीरता से मनन करना आवश्यक है ।

जार्ज फॉक्समाट ने लिखा है - " विचारों और सूचनाओं का सम्प्रेषण, अनेक तकनीकी और समाजशास्त्रीय पक्षों के कारण एक जटिल प्रक्रिया हो गया है । आधुनिक जगत में प्रेस अपने आप में एक स्वत: सम्पूर्ण संस्था का रूप पा चुका है ।"[1]

आधुनिक पत्रकारिता के संदर्भ में उनकी यह अवधारणा बहुत कुछ सही है । परन्तु समाचार तो उस समय भी थे, जब समाचारपत्रों का कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं था, और पत्रकार भी किसी - न - किसी रूप में किसी-न-किसी नाम से उस समय भी थे जब समाचारपत्र नहीं थे । इस

---

1. The communication of ideas and information has become a complicated process with infinite technical and sociological aspects. The press is a full fledged institution in our modern world, and the various media utilized by the press are generally called by, and now professionally united under, the common name of journalism. - George Fox Mott, New Survey of Journalism, Preface (third edition).

संदर्भ में जार्ज फॉक्समॉट के ही उपरोक्त कथन से पूर्व के वाक्य की यह टिप्पणी विचारनीय है कि - " किसी विचार या प्रत्यय को इस रूप में दूसरों तक पहुँचाना कि दूसरों के लिए जो तत्काल श्रव्य नहीं था, वह भी दूसरों को बिना सुने, परिचित प्रतीत हो यही तो पत्रकारिता के अस्तित्व की सार्थकता है ।"[1]

पत्रकारिता की उक्त अवधारणा मेरे आकलन के अनुसार आदिम पत्रकारिता के लिए और आज की पत्रकारिता के लिए भी उपयुक्त प्रतीत होती है ।

पत्रकारिता का मूल आधार मनुष्य की यह जिज्ञासा है, कि उसके चारों ओर व्याप्त संसार में क्या हो रहा है । यह जिज्ञासा मनुष्य में उसके अस्तित्व के प्रारम्भिक काल से ही निश्चित रूप से रही होगी भले ही उस समय उसका संसार बहुत सीमित रहा हो, किन्तु चारों ओर घटित हो रही हर घटना और हर बात के सम्बन्ध में सब कुछ जान लेने की इच्छा मनुष्य में अवश्य ही स्वाभाविक रूप से रही होगी । और यह सब-कुछ जान लेने की मनुष्य की इच्छा ही पत्रकारिता की मूल पृष्ठ - भूमि है तथा वह 'सब-कुछ' ही समाचार है । समाचार जानने के कुतूहल का यह तत्त्व वास्तव में मानव मात्र के अस्तित्व के साथ स्वाभाविक रूप

---

1. George Fox Mott , New Survey of Journalism, Preface (third edition).

से इस तरह जुड़ा हुआ है, कि यदि हम इस तत्व को उसकी इंद्रियों में ही निहित मान लें तो अनुचित न होगा। ब्रह्माण्ड में अवतरित होने वाले प्रथम मानव के मन में भी संभवत: अपनेइर्द - गिर्द के संसार के प्रति उदा - सीनता नहीं रही होगी। उस प्रथम मानव के मन में भी सम्भवत: सबसे पहली जिज्ञासा यही उत्पन्न हुई होगी, कि उसके चहुँ ओर फैले सम्पूर्ण वातावरण में क्या-कुछ है - वह अपने जैसा अकेला है या उस जैसे और भी हैं, वह जो कुछ देख रहा है वही सम्पूर्ण संसार है या उससे इतर भी कुछ है, जिसे उसे देखना है। मानव मन की यह जिज्ञासा एक चिरंतन सत्य है, जो प्रथम मानव के मन में भी स्वाभाविक रूप से रही होगी। और यही जिज्ञासा समाचार की जननी है। इस प्रकार समाचार तो इस धरती पर मनुष्य के अवतरण के साथ ही स्वयमेव अस्तित्व में आ गया। और समाचार जान लेने की इस आदिम इच्छा को ही यदि समाचार पत्रों तथा पत्रकारिता की नींव माना जाय, तो अनुपयुक्त नहीं होगा।

इसी प्रकार प्रत्येक नये विचार और अपने इर्द-गिर्द घटित हो रही घटना को किसी से कह डालने की उत्कंठा भी मनुष्य में स्वाभाविक रूप से इस धरती पर अवतरित होने के साथ ही विद्यमान रही है और आज भी है। चाहे बच्चा हो या अनपढ़ गँवार महिला, किसी भी घटना की जानकारी होने पर किसी और तक उसे संवाहित करने की उसमें ऐसी उत्कंठा होती है, जिसे किसी भी तरह रोकना उसके लिए असंभव होता है। और यही तो

एक पत्रकार का मौलिक गुण है । तात्पर्य यह है कि पत्रकार का यह मौलिक मूल बीज प्रत्येक व्यक्ति में नैसर्गिक रूप से विद्यमान है । जिसमें यह बीज पुष्पित पल्लवित हो गया वह मान्य पत्रकार बन गया, किन्तु जिसमें यह बीज पुष्पित -पल्लवित नहीं हुआ वह भी मूल रूप से पत्रकार के मौलिक गुण से तो अनुप्राणित है ही । यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्येक व्यक्ति मूल रूप से पत्रकार है, क्योंकि प्रत्येक जानकारी को अन्य व्यक्तियों तक संचारित करने की उसमें उत्कंठा है और प्रत्येक व्यक्ति में वह जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा है, जो पत्रकारिता के जन्म का मूल बीज मंत्र है । प्राचीन काल में जब न आज जैसे गाँव थे न शहर, उस समय मनुष्य टोलियाँ बना कर भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की तलाश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते थे । उनके जीवन में कहीं स्थिरता न थी । किन्तु हर नये स्थान, वहाँ उपलब्ध साधनों तथा खतरों और आसपास घूमने वाली अन्य टोलियों के बारे में सब-कुछ जानते रहने की इच्छा उन आदिम मनुष्यों की टोली में भी अवश्य रहती थी । आसपास की अन्य टोलियों के सदस्यों की संख्या कितनी है, उनके सरदार कौन हैं, उनका रहन-सहन कैसा है, वह किस प्रकार शिकार करते हैं, आदि सामान्य-सी बातें ही उस समय के मनुष्य के लिए खबरें थीं । किसी नये स्थान पर क्या-क्या है, उसके आसपास कैसी नदियाँ हैं, कैसे झरने हैं, कैसे जंगल है, उनमें किस तरह के जानवर हैं, यह बातें भी उन मनुष्यों के लिए खबरें ही थीं, जिनकी जानकारी उनके अस्तित्व मात्र के लिए अनिवार्य थी ।

सभ्यता के अगले पड़ाव में जब मनुष्य ने पारिवारिक जीवन आरम्भ किया और स्थिर होकर गाँव के रूप में जीवन व्यतीत करना शुरू किया, तो उसे यह जानने की उत्कट इच्छा होने लगी कि निकटवर्ती गाँव में लोग जीवन कैसे व्यतीत करते हैं, केवल शिकार से जीविकोपार्जन करते हैं अथवा खेती भी करते हैं, खेती करते हैं तो क्या उगाते हैं और किस तरह के पशु पालना वे पसंद करते हैं। यह सारी बातें समाचार बन गयीं। सभ्यता जब और विकसित हुई और छोटे-छोटे कबीले या राज्य स्थापित हुए तो उनके सरदार और राजा भी बने। उन्हें अपने कबीले तथा राज्य को सुरक्षित रखने के लिए पड़ोस के राज्यों औरकबीलों की शक्ति तथा उनके औजारों, हथियारों के संबंध में समाचार एकत्र करने की आवश्यकता पड़ने लगी। एक कबीला या राज्य दूसरे कबीले या राज्य की धन-दौलत और उसके लोगों के बारे में भी समाचार प्राप्त करने को उत्सुक रहने लगा, और उसकी कोई-न-कोई व्यवस्था करने लगा। उस व्यवस्था के तहत ऐसे समाचारों के संकलनकर्ता और वाहक ही उस समय के पत्रकार थे।

प्राचीन समाचार केन्द्र :

मानव सभ्यता के लिए विकास और प्रगति एक सतत् प्रक्रिया है, जिसके साथ समाचार, उनके संकलन तथा उनके संचार के साधन भी विकसित होते गये। विकास की गति आगे बढ़ी, तो स्थान-स्थान पर कभी-कभी हाट लगने लगे, जहाँ दूर - दूर के व्यापारी अपना माल लेकर इकट्ठे होने

तथा उनका विनिमय करते । उनका विनिमय माल तक ही सीमित नहीं रहता था उनमें विचारों, सूचनाओं, या यों कहें कि समाचारों का भी खुल कर आदान-प्रदान होता था । एक तरह से यह हाट उस समय के समाचार-केन्द्र बन गए थे । व्यापारी महीनों की यात्रा करके हाट में पहुंचने पर व्यापार करने के अतिरिक्त विश्राम भी करते थे और विश्राम के समय अपने गाँव, कस्बे या राज्य का हाल चाल विस्तार से सुनाते थे । ये व्यापारी जब अपने गाँव-शहर लौटते थे, तो हाट में प्राप्त दूरस्थ स्थानों की सूचनाएं अपने यहाँ के निवासियों को बड़े चाव से सुनाते थे । उन सूचनाओं को उस समय के समाचार और उन व्यापारियों को उस समय का समाचार-संग्राहक तथा समाचार-वाहक मानना अनुपयुक्त न होगा ।

उन दिनों पर्यटन का आज जैसा स्वरूप भले ही न रहा हो, किन्तु पर्यटन का महत्व आज से कहीं अधिक था । समाज का कोई भी व्यक्ति तीर्थ यात्रा या अन्य किसी यात्रा पर निकलता था, तो पूरा समाज उसे प्रेरित करता था, उसकी सहायता करता था और उसकी अनुपस्थिति में उसके घर-परिवार की देख-भाल करने की जिम्मेदारी लेता था । महीनों वर्षों यात्रा करके जब ऐसे पर्यटक लौटते थे, तो उनके इर्द-गिर्द पूरा समाज समाचार जानेने की ही जिज्ञासा के कारण एकत्र हो जाता था । पर्यटक अपना यात्रा वृतांत सुनाते थे । दूर-दूर के स्थानों के बारे में,वहाँ के लोगों के बारे में, प्राकृतिक छटा के बारे में, व्यवस्था-कुव्यवस्था के बारे में,

कठिनाइयों और खतरों के बारे में वे विस्तार से सब-कुछ सुनाते थे । यात्रा के दौरान यदि कोई विशेष घटनाएँ घटित हुई होतीं, तो उनका विवरण भी पर्यटक अवश्य सुनाते थे । उस समय समाचार का यही स्वरूप था और पर्यटक समाचार-संग्राहक और समाचार-वाहक का भी कार्य करते थे ।

सभ्यता के विकास के साथ घुड़सवार पत्रवाहकों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पत्र भेजने की व्यवस्था भी बनने लगी । किन्तु ये पत्र केवल व्यक्तिगत पत्र नहीं होते थे, ये छोटे-मोटे समाचार पत्र का कार्य करते थे । लोग अपने गाँव - शहर का हाल - चाल वहाँ की विशेष घटनायें अपने राजा तथा उसकी शासन व्यवस्था की चर्चायें अपने यहाँ की सेना के कौशल की प्रशंसायें भी अपने पत्रों में अवश्य लिख भेजते थे ।

<u>नियमित समाचार संग्रह तथा प्रसारण</u>

राजतन्त्र का विकास होने के साथ ही समाचारों के नियमित संग्रह और प्रसारण की व्यवस्था भी की जाने लगी । स्वयं राजा, नवाब अथवा बादशाह अपने राज्य के हित में इस व्यवस्था को अधिक-से-अधिक सुदृढ़ बनाने लगे । उन्हें दूसरे राज्यों की सैन्य शक्ति, राज्य विस्तार की योजना, आक्रमण की तैयारियाँ आदि के संबंध में तो जानने की उत्सुकता रहती ही थी, अपने देश में भी वे यह पता लगाते रहते थे कि जनता में कहाँ संतोष है और कहाँ असंतोष तथ किन क्षेत्रों में जनता विपदाओं से

ग्रस्त है । इसके लिए राजतन्त्र ने गुप्तचर व्यवस्था का समारम्भ किया । एक राजा दूसरे राजा के दरबार में जो राजदूत भेजता था उसके साथ एक पूरा गुप्तचर तन्त्र रहता था, जो उस राज्य के महत्वपूर्ण समाचार अपने राज्य को भेजता रहता था । ये समाचार गोपनीय तो होते थे, किन्तु जनता के बीच भी उनका अक्सर ही प्रसारण हो जाता था । इन गुप्त - चरों को यदि तत्कालीन समाचार-संग्राहक तथा संवाददाता मान लें तो शायद अनुचित न होगा ।

इस व्यवस्था का और सुसंगठित रूप जब बना तो उसके अन्तर्गत घटना लेखक रखे जाने लगे, जिन्हें हम पत्रकारों के पूर्ववर्ती भी कह सकते हैं । समाचार प्राप्त करने की स्वाभाविक उत्कंठा अथवा भूख ने समाचार प्राप्त करने के कई साधनों को खोजा था और उन्हें पूरा प्रोत्साहन प्रदान किया था । मुद्रण कला के अविष्कार के पूर्व समाचार के संचार के जो साधन थे, उनमें पहला स्थान एक मुँह से दूसरे कान तक समाचार पहुँचाने का साधन था । मुँह-दर-मुँह समाचार का संचार होते-होते वह पूरे समाज में फैल जाता था । दूसरा प्रमुख साधन था व्यक्तिगत पत्रों का आदान - प्रदान । इन पत्रों में व्यक्तिगत बातों के अतिरिक्त अपने चारों ओर फैले समाज, राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक वातावरण और अन्य ऐसे ही अनेक प्रकरणों का उल्लेख हुआ करता था, जिन्हें केवल एक व्यक्ति या परिवार नहीं पढ़ता था । ऐसे ही पत्रों ने बाद में समाचारपरक पत्र अर्थात न्यूज़ लेटर का रूप ले लिया था । जिन्हें ऐसा व्यावसायिक रूप भी मिला कि उनका क्रय -

विक्रय होने लगा । इनका क्रय-विक्रय होना ही इनके महत्व को स्थापित करने के लिए एक ठोस प्रमाण है । ऐसे ही न्यूज लेटर का कुछ विकसित रूप अब हमें सुव्यवस्थित मुद्रित समाचारपत्रों में अमुक स्थान, स्थान की चिट्ठी अथवा अमुक स्थान के पत्र के रूप में देखने को मिलता है । उस समय के ये व्यक्तिगत अभिलेख तत्कालीन समाज के लिए समाचारपत्र से कम महत्वपूर्ण नहीं होते थे । समाचारों तथा सूचनाओं के संचार का एक और साधन था सार्वजनिक स्थलों पर सूचनाओं को लिखित रूप में चस्पा करना । इन सूचनाओं में मुख्य रूप से तो राज आज्ञायें तथा जनता के लिए राज्य द्वारा प्रसारित महत्वपूर्ण सूचनाएं ही हुआ करती थीं । मुद्रण के साधन के पूर्व स्तम्भों पर अंकित शिलालेख भी राज्य आज्ञाओं तथा महत्वपूर्ण सूचनाओं से जनमानस को अवगत कराने का महत्वपूर्ण साधन था । सम्राट अशोक के स्तम्भ इस बात के जीवंत उदाहरण हैं । विभिन्न राज दरबारों तथा सार्वजनिक स्थलों पर नियुक्त समाचार लेखक भी समाचार संकलन तथा समाचारों के प्रसारण में बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह करते थे । मुस्लिम आक्रमण के पूर्व हिन्दू क्षत्रिय राजाओं के काल में राजाओं - नरेशों ने अपने गुप्तचर विभाग की अद्भुत स्थापना कर रखी थी, जिसके व्यक्त तथा अव्यक्त प्रतिनिधि स्वयं अपने राज्य के कोने -कोने तथा दूसरे राज्यों के दरबारों और प्रमुख स्थलों पर नियुक्त रहते थे । इनके गुप्त प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की समस्त सूचनाओं को उन्हें निरन्तर पहुँचाते रहते थे । और राजदूत स्तर के लोग अपने राजा अथवा नरेश के दरबार तक उन सूचनाओं

को पहुँचाते थे, ताकि वे अपने राजपरिवार तथा अपनी प्रजा के हितों की रक्षा प्रभावशाली ढंग से कर सकें । हिन्दू राजाओं - नरेशों के इन राजदूतों, जासूसों तथा प्रतिनिधियों को निःसंकोच भारत के प्राचीन पत्रकारों का दर्जा दिया जा सकता है । ये प्राचीन पत्रकार ही राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था तथा विदेश नीति के निर्धारण और संचालन के आधार स्तम्भ थे । विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों ने जब भारत पर विजय प्राप्त की, तो उसके पीछे भी समाचारों के संचार अथवा उन समा - चारों पर पूर्ण विश्वास करके उनके अनुसार नीतियाँ निर्धारित न कर पाने की एक कमजोरी भी थी । बहरहाल मुस्लिम विजेताओं ने प्राचीन भारत की समाचार संचार व्यवस्था के महत्व को इतनी गहरायी से समझा, कि उन्होंने अपने प्रशासन को चलाने के लिए इसे पूरी तरह स्वीकार कर लिया अपने प्रशासन के लिए उन्होंने समाचार-संग्राहकों तथा समाचार भेजने वालों की पूरी सहायता ली और उनकी पूरी व्यवस्था में गुणात्मक सुधार भी किये । इस व्यवस्था में उन्होंने विशेष रूप से जिम्मेदारी की एक विशिष्ट भावना का संचार किया और इस संगठन को मजबूत बनाया । विशेष रूप से मुगल काल में इस व्यवस्था ने "प्रेस " का बहुत-कुछ वैसा ही स्वरूप प्राप्त कर लिया जैसा वर्तमान समय में है । वाक्या-निगारों का महकमा मुगल प्रशासन का एक महत्वपूर्ण नियमित विभाग बन गया, जो बादशाह के दरबार तक समाचार, विभिन्न घटनाओं तथा समारोहों का विवरण तथा जनता की शिकायतें भी नियत अवधि पर पहुँचाता रहता था । ये विवरण

"वाकया " अथवा "न्यूजलेटर " के रूप में हुआ करते थे । इस सन्देशों को प्रशासन की समाचार पुस्तिका में वाकयानवीसों द्वारा अंकित किया जाता था । और उन्हें सरकार के महत्वपूर्ण केन्द्रों पर रखा जाता था । इस विभाग के प्रधान को वाकयानिगार कहते थे । अठ्ठारवीं सदी में बंगाल में जो अंग्रेज व्यापारी के रूप में रह रहे थे, वे अपनी शिकायतों को मुगल दरबार तक पहुँचाने के लिए हुगली में मुगल शासन द्वारा नियुक्त वाकयानवीसों की भी सहायता लिया करते थे । वास्तव में मुगल शासन के दौरान वाकयानवीस प्रशासन का एक सशक्त अंग था ।

अबुल फजल के आईन-ए-अकबरी में मुगलकालीन अखबारनवीसी और उसके महत्व पर बहुत कुछ लिखा गया है, जिससे यह तथ्य स्थापित होता है कि अकबर तथा अन्य मुगल बादशाहों के शासन तन्त्र में तत्कालीन प्रेस का कितना अधिक महत्व था । बाद में ब्लोचमैन ने आईन-ए-अकबरी का अंग्रेजी अनुवाद किया उसमें भी इस तथ्य को भली भाँति उजागर किया गया है|फैंकोइस बर्नियर' की टिप्पणीसे मुगलकालीन पत्रकारों वाकयानवीसो क

---

1. "The Emperor appointed vacea-Navils in each district and they sent reports of the important events that took place by Sandni-Sawars, Carvan or Harcara. On the basis of these records Imperial decisions were taken and policies formulated. The Vacea-Navils made collision with provincial governors, and did not report of their tyrannies and exactments. So there was no redress or any enquiry of wrong made to the public."

Vide Travels in the Mogul Empire: Francois Bernier 1656-1668 Edition, Constable and Smith, P. 231.

महत्व उजागर होता है, वहाँ उनके अन्दर व्याप्त कमजोरी या स्थानीय प्रशासकों से उनकी मिलीभगत की बात भी सामने आती है। बाकायदा - नवीस प्रान्तीय प्रशासकों से मिलकर यदि उनकी भूलों और अत्याचारों को मुगल दरबार से न छिपाते, तो शायद मुगल शासन कमजोर न पड़ता। मुगल शासन के पतन के कारणों में एक बड़ा कारण यह भी था।

औरंगजेब के संबंध में आमतौर पर यही कहा जाता है कि वह मुगलों में सबसे कठोर हृदय का बादशाह था। किन्तु इसके संबंध में "सीरूल मुतख्खरीन " ने एक आश्चर्यजनक बात लिखी है कि इस बादशाह ने प्रेस को पूरी आजादी दे रखी थी।[1]

इटली का एक विदेशी यात्री निकोला मानूची औरंगजेब के दरबार में कुछ वर्षों तक रहा था। उसने अखबारनवीसों के बारे में लिखा है कि प्रत्येक अखबार नवीस के लिये यह आवश्यक था कि वह हर सप्ताह अपने क्षेत्र की घटनाओं का विवरण मुगल दरबार को नियमित रूप से भेजे। उनकी यह चिटि्ठयाँ बादशाह को महल की स्त्रियाँ रात नौ बजे पढ़कर सुनाती थीं, ताकि बादशाह को यह जानकारी हो सके कि उसके साम्राज्य में कहाँ क्या घटित हो रहा है। बादशाह इन चिटि्ठयों को इतना महत्व देता

---

1. Quoted by S.C. Sanial in his series of articles in Calcutta Review, Vols. CXXIV to CXXX, 1907-1912.

था कि वह मध्यरात्रि तक बैठक कर इन्हें सुनता रहता था ।[1]

जैसा हमने ऊपर उल्लेख किया था, मुगल सल्तनत के पतन में इन वाकयानवीसों का बहुत बड़ा दोष था । इनकी नियुक्ति मुगल प्रशासन ने की थी, किन्तु इन्हें स्थानीय प्रशासकों ने इतना भ्रष्ट बना दिया था कि वे मुगल दरबार को सही खबरें देते ही नहीं थे या महत्वपूर्ण घटनाओं और क्रियाकलापों पर चुप्पी साध जाते थे । परिणामत: मुगल दरबार को अपने साम्राज्य की सही और वास्तविक स्थिति का पता नही चलता था । क्रोरके द्वारा सम्पादित "ट्रेवेल्स " तथा मेजर जनरल सर विलियम स्लीमैन के "रेमबल्स एण्ड रिकलक्सन्स " में यह बात स्पष्ट रूप से उल्लिखित है ।[2]

बादशाह के तर्ज पर ही अवध के अन्तिम नवाब वाजिदअली शाह ने अपने राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में छ: सौ साठ वाकयानवीस नियुक्त कर रखे थे, जिन्हें चार से पाँच रूपये तक मासिक वेतन दिया जाता था । इन वाकयानवीसों को तथा उनके द्वारा भेजे गये समाचारों को महत्व भी बहुत दिया जाता था । अक्सर तो इनके भेजे समाचारों के आधार ही नवाब महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय लिया करते थे और उन्हें कार्यान्वित करने के लिये बड़े ठोस और कारगर कदम उठाते थे ।[3]

---

1. "The king sits up till midnight and is increasingly occupied with the above sort of business."

   Storia de Mogar by Niccola Manuci, p.p. 331-332 translated by M. Barns in 'Indian Press'

वाक्यानवीसों द्वारा लिखे गये समाचारों को राजदरबार तक भेजने के लिये बड़ी सुविचारित व्यवस्था की गई थी । हरकारे घोड़ों पर सवार होकर समाचार ले जाते थे और दस मीलों के बाद स्थित अगले पड़ाव पर नियुक्त हरकारा घोड़े पर सवार होकर तुरन्त अपने आगे के पड़ाव पर जाता था । इस प्रकार बड़ी तीव्रगति से समाचार को राज - दरबार तक पहुँचा दिया जाता था । वास्तव में यही उस समय की डाक व्यवस्था भी थी । इतिहासकार कहते हैं कि छत्रपति शिवाजी ने भी बहुत-कुछ ऐसी ही व्यवस्था अपने अधीनस्थ क्षेत्र में कर रखी थी, जो कुछ मानों में मुगल व्यवस्था से श्रेष्ठ ही थी ।

हस्तलिखित पत्र में ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं कि उस काल में ही दरबार को भेजी जाने वाली समाचार चिट्ठियों के अलावा भी हस्तलिखित समाचारपत्र निकलने लगे थे । ऐसे समाचारपत्रों का सबसे पहला और स्पष्ट उल्लेख कफी खाँ की पुस्तक " मुन्तखाबत-अल-लुबाल " में मिलता है, जिसमें लिखा है कि शिवाजी के वंशज राजाराम की मृत्यु का समाचार हस्तलिखित पत्रों द्वारा ही शाही शिविरों तक पहुँचा था । एक इतिहास लेखक के अनुसार औरंगजेब के समय हस्तलिखित पत्र सिपाहियों के बीच भी बाँटे जाते थे और उन्हें काफी स्वतन्त्रता भी दी जाती थी ।

उदाहरणार्थ बंगाल के एक हस्तलिखित पत्र ने बादशाह और उनके पौत्र मिर्जा अज़ीम ओसो के आपसी संबंधों की कटु आलोचना करने का भी साहस किया था । अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर ने स्वयं एक

हस्तलिखित पत्र निकाला था, जिसका नाम था "सिराज-उल-अखबार" और मुगलों की अन्तिम दरबारी डायरी का तो नाम ही 'उर्दू अखबार' था, जो अठ्ठारह सौ सत्तावन के गदर के बाद तक चलता रहा। दिल्ली के लाल किले के अन्तिम वाकयानवीस थे ममराज, जिन्हें हम आज के भारतीय पत्रकारों का पुरखा कहें तो अत्युक्ति न होगी। उस समय के समाचार-लेखकों में एक और विशिष्ठ नाम है, मिर्जा अली बेग।

हस्तलिखित पत्रों में एक विशेष पत्र "बयानी वाक्या" भी था, जिसे छत्रपति शिवाजी के एक वाक्यानवीस आनाजी रंगनाथ मालेकर ने स्थापित किया था। वाकया लिखने की यह परम्परा सन् 1818 में नाना फड़नवीस तक चलता रहा। इस तरह के अनेक हस्तलिखित समाचारपत्र लंदन की रॉयल सोसाइटी में संग्रहीत हैं। मुद्रित समाचारपत्रों के पूर्व वाक्यानवीस, पर्चानिवीस, अखबारनवीस और हरकारा जैसे पदनाम वाले लोगों की सहायता से चल रहे हस्तलिखित पत्र मुगल सल्तनत के अन्तिम दिनों में भी अस्तित्व में थे और उनमें से कुछ का अस्तित्व तो मुगल सल्तनत के पतन के बाद भी बना रहा। अन्तिम मुगल बादशाह ने दरबार की दैनिक डायरी (रोजनामचा) के रूप में उर्दू अखबार का प्रकाशन-प्रसारण शुरू किया था, जो 1857 में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के समय तक चलता रहा। ख्वाजा हसन निजामी ने इस अखबार की अनेक कतरनों का प्रकाशन किया है।

हस्तलिखित पत्रकारी से 18वीं सदी में जो अखबारनवीस बड़ी प्रमुखता से जुड़े थे, उनमें एक थे आसफजाह के वजीर आजुन-उल-उमरा, जो बाद में असफगाह के प्रधान वजीर तक के ओहदे पर पहुँचे। दूसरे प्रमुख अखबारनवीस थे मिर्जा अली बेग, जो मुगल दरबार के वाकयानिगार थे और बादशाह के सम्पर्क में दरबार में रहते थे। गुजरात के तत्कालीन प्रमुख अखबारनवीस थे बेलगाँव के सैयद अब्दुल जलील।

सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के समय हस्तलिखित पत्रों ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। हाथों-हाथ लोगों के पास पहुँचने वाले इन पत्रों में एक अखबार था "तिलिस्म"। इस पत्र का सम्पादन बुन्नी नामक एक जागरूक व्यक्ति करते थे। सर जॉन मालकम ने अपने एक स्मृति पत्र में ऐसे हस्तलिखित पत्रों का उल्लेख करते हुए बताया है, कि 1857 के विद्रोह के समय उत्तर भारत में ये पत्र दक्षिण तक हाथों-हाथ पहुँचा दिये जाते थे। इनमें जनता को अंग्रेजों के विरूद्ध संघर्ष करने के लिये प्रेरित तो किया ही जाता था, उनसे यह आग्रह भी होता था कि पत्र को दूसरों को भी पढ़वायें और उसकी नकल करके दूर तक प्रसारित करें। उस समय यह पत्र अंग्रेजों के विरूद्ध बड़े कारगर अस्त्र बन गये थे।

मुद्रण-कला के आरम्भ के बाद भी विशेष अवसरों पर हस्तलिखित पत्रों का चलन जारी रहा। स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय जब अखबार मुद्रित कराना खतरनाक लगता था, उस समय लोग हस्तलिखित पत्र ही निकालते थे। अंग्रेजों के दमन के कारण कभी किसी अखबार का मुद्रण जब असंभव हो

जाता था, उस समय भी हस्तलिखित पत्रों की सहारा लेना पड़ता था । ऐसे ही एक अवसर पर जब पंडित मोती लाल नेहरू के समाचारपत्र 'इंडिपेन्डेंट' का प्रकाशन बंद हो गया था, उस समय उसे हाथ से ही लिख कर साइक्लो - स्टाइल मशीन द्वारा आनन्द भवन के ड्राइंग रूम में श्री देवदास गांधी तथा श्री महादेव देसाई, श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह के सहयोग से प्रकाशित करते थे । सन् 1930 के नमक सत्याग्रह आन्दोलन के समय भी प्रयाग से "क्रान्ति" नामक हस्तलिखित पत्र हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में साइक्लोस्टाइल मशीन की सहायता से प्रकाशित होता था, जिसका संचालन कु0 कृष्णा नेहरू करती थीं और संपादन श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह । वह साइक्लोस्टाइल मशीन आज भी आनन्द भवन में सुरक्षित है ।

मुगल दरबार के समाचार विभाग से सम्बद्ध वाक्यानवीसों और उनके प्रधान वाक्यानिगारों की परम्परा ब्रिटिश शासनकाल में भी किसी - न-किसी रूप में बनी रह गयी थी । और उन प्राचीन पत्रकारों से आंग्ल-भारतीय समाचारपत्रों को भी समाचार संग्रह में बहुत सहायता प्राप्त होती रही ।

आधुनिक पत्रकारिता का आरम्भ

कतिपय तथ्यों के आधार पर यह माना जाता है कि आधुनिक पत्रकारिता का आरम्भ चीन में हुआ था । वास्तव में आधुनिक पत्र - कारिता मुद्रण-कला से बहुत निकटता से जुड़ी हुई है । यह एक वास्तविकता है कि मुद्रण - यंत्र तथा कागज का आविष्कार सर्वप्रथम चीन में चौदहवीं

शताब्दी के आरम्भ में हुआ था । विश्व का पहला मुद्रित समाचारपत्र भी चीन से ही प्रकाशित हुआ । सन् तेरह सौ चालीस में पीकिंग से एक समाचारपत्र प्रकाशित हुआ था जो दैनिक था । यह भी एक वास्तविकता है कि मुद्रित समाचारपत्रों के इतिहास में दूसरा नाम इटली का है । मुद्रण यंत्र का अविष्कार निःसन्देह चीन में हुआ था, किन्तु मुद्रण-कला का विकास इटली में हुआ । और वहीं चीन के बाद सर्वप्रथम मुद्रित समाचारपत्र प्रकाशित हाने शुरू हुए । इटली के संबंध में यह एक विशेष बात थी कि मुद्रित समाचार पत्रों के पूर्व वहाँ हस्तलिखित पत्रों का बड़ा व्यापक प्रचलन था । वहाँ का यह प्रचलन बहुत व्यवस्थित भी था । इटली में युद्ध तथा व्यापार के समाचार हस्तलिखत पत्रों से पढ़कर श्रोताओं को सुनाये जाते थे । प्रत्येक श्रोता से एक छोटा सिक्का "गजेटा" शुल्क के रूप में लिया जाता था । 'गजेटा' के इसी उपयोग के कारण भविष्य में वहाँ समाचारपत्रों को भी 'गजेट' का नाम दिया गया । इटली में जुलियस सीजर के समय तक समाचारों के संकलन, प्रकाशन तथा प्रसारण का काफी विकास हो गया था । मुद्रित समाचारपत्रों के प्रकाशन के क्रम में तीसरा स्थान जर्मनी का है, जहाँ पहला मुद्रित पत्र पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रकाशित हुआ । सन् पन्द्रह सौ छब्बीस में हालैण्ड से भी पहला मुद्रित-पत्र निकलना आरम्भ हुआ ।

मुद्रित समाचारपत्रों के विकास-क्रम में पाँचवाँ स्थान फ्रांस का है, यहाँ सर्वप्रथम सन् सोलह सौ इकत्तीस में मुद्रित समाचारपत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ । फ्रांस में समाचारपत्रों के आरम्भ के विषय में कहा जाता है,

कि वहाँ एक डाक्टर ने अपने मरीजों का मन बहलाने के लिये एक अभिनव तरीका अपनाया था। वे नित्य एक पर्चे पर कुछ लिख कर ले जाते थे और मरीजों को उसे पढ़ कर सुनाते थे। यह पर्चा ऐसे समाचारों तथा विचारों का संकलन होता था, जिन्हें सुनकर मरीज प्रसन्न हो जाते थे। डाक्टर के इस पर्चे ने मरीजों में समाचारपत्र पढ़ने तथा समाचारों को सुनने की उत्सुकता पैदा कर दी। ऐसा कहा जाता है, कि उस डाक्टर के मरीज ही फ्रांस के सबसे पहले समाचारपत्र पाठक थे। और वह अनाम डाक्टर ही फ्रांस का पहला पत्रकार। फ्रांस की क्रान्ति के समय वहाँ जनता में क्रान्ति सम्बन्धी समाचार जानने की उत्सुकता इतनी बढ़ी, कि वहाँ समाचारपत्रों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी।

मुद्रित समाचारपत्रों के प्रकाशन के क्रम में ब्रिटेन छठे स्थान पर है, जहाँ पहला समाचारपत्र 'पोस्टमैन' सन् 1632 में प्रकाशित हुआ। सन् 1690 में अमेरिका में भी मुद्रित समाचारपत्र निकलने लगा। और रूस में पहला मुद्रित पत्र अठारवीं शताब्दी में निकलना आरम्भ हुआ। जापान ने मुद्रित समाचारपत्रों के क्षेत्र में इन सब के बाद प्रवेश किया, किन्तु वहाँ समाचारपत्रों के ग्राहकों की संख्या का अनुपात अमेरिका और ब्रिटेन से भी अधिक बताया जाता है।

भारत में मुद्रित समाचारपत्र

भारत में मुद्रित समाचारपत्रों का आरम्भ अंग्रेजी समाचार पत्र 'कलकत्ता जनरल एडवाइजर' से हुआ, जिसे 1780 में जेम्स आगस्ट हीकी

ने निकालना शुरू किया था । बाद में इस पत्र का नाम उसी के नाम पर 'हीकी गजट' पड़ गया । भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य के कारण 1780 से 1818 तक केवल अंग्रेजी पत्र ही भारत में प्रकाशित हुए और उन पर अंग्रेजों का ही आधिपत्य बना रहा । उस समय ब्रिटिश शासन का केन्द्र कलकत्ता था । इसलिये ये सारे समाचार पत्र कलकत्ते से ही प्रकाशित हुए । इस वास्तविकता का ही यह प्रभाव था कि किसी भारतीय भाषा में पहला समयपारपत्र बंगला भाषा में ही प्रकाशित हुआ । सन् 1818 में बंगला भाषा के दो पत्र 'दिग्दर्शन मासिक' तथा समाचार दर्पण' साप्ताहिक प्रकाशित होने प्रारम्भ हुए । गुजराती ने बंगला भाषा के बाद समाचार - पत्रों के क्षेत्र में अपनी नींव डाली और 1823 में पहला गुजराती पत्र 'बम्बई समाज' प्रकाशित हुआ । हिन्दी का पहला मुद्रित समाचारपत्र था 'उदंत मार्तण्ड', जो कलकत्ता से ही सन् 1826 में प्रकाशित हुआ । 1832 में मराठी का पहला पत्र 'बम्बई दर्पण' प्रकाशित हुआ। और 1837 में उर्दू का पहला मुद्रित ~~में उर्दू का पहला मुद्रित~~ पत्र 'सैयादुल अखबार' निकला। सन् 1818 में ही हमारे देश में फारसी पत्रकारिता का भी आरम्भ हो चुका था, जब बंगला भाषा के साप्ताहिक 'समाचार दर्पण' का फारसी संस्करण भी प्रकाशित हुआ था ।

समाचार तथा समाचार-लेखन की मान्यताएँ

समाचार पत्रों के विकास की विस्तार से चर्चा करने के पूर्व इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि आधुनिक पत्रकारिता के आरम्भिक

काल में समाचार तथा समाचार लेखन की क्या मान्यतायें थी ।

पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में समाचार के संबंध में यह प्रचलित मान्यता थी कि - If a dog bites a man That's not news; if a man bites a dog that's news. " किन्तु इस फार्मूले के आधार पर यदि यह परिभाषा कर दी जाय कि असाधारण और आश्चर्य - जनक घटना को ही समाचार की संज्ञा दी जा सकती है तो संभवत: इतने समाचार ही न मिल पायेंगे कि समाचारपत्रों के संस्करण प्रकाशित हो सकें । समाचार की यह अव्यावहारिक कसौटी समय के साथ अपने आप ही समाप्त हो चुकी है । लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि असाधारण और आश्चर्य-जनक घटनायें समाचार की परिधि में आती ही नहीं । ऐसी घटनाएं भी नि:सन्देह समाचार हैं, किन्तु केवल वे घटनायें ही समाचार नहीं हैं । उनके अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी घटनाएं हैं जो समाचार की परिधि में आती हैं ।

डीन एम0 लाइल स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'न्यूज राइटिंग' में कहा है - "News may be defind as any accurate fact or idea that will interest a large number of readers."[1]

'क्लीवलैण्ड प्लेन डीलर' के भूतपूर्व सम्पादक एरी सी॰ हॉपवुड का कथन है : "News is the first report of significant events which have interest for the public."[2]

1-हिन्दुस्तानी, हिन्दी समाचार पत्रों में समाचार संग्रह एवं समाचार-लेखन ऐतिहासिक अनुदृष्टि में,श्रीप्रकाश,डीन, एम0लायल स्पेंसर कृत न्यूज राइटिंग से उद्धृत, पृ0 3॰

2-हिन्दुस्तानी,हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार संग्रह एवं समाचार-लेखन - ऐतिहासिक अनुदृष्टि में, श्रीप्रकाश, एरी सी हॉपवुड कृत 'क्लीवलैण्ड प्लेन डीलर' से उद्धृत, पृ0 1

विलियम एस० मल्सबी ने अपनी पुस्तक 'गेटिंग दि न्यूज' में कहा है - "News may be defined as an accurate, unbiased account of the significant facts of a timely happening that is of interest to the readers of the newspaper that prints the account."[1]

और इसी तरह अपनी पुस्तक "न्यूजपेपर राइटिंग एण्ड एडिटिंग" में डा० विलर्ड जी० ब्लेयर ने कहा है -

"In actual practice the definition of news for a given newspaper amounts to this : News is anything timely that is selected by the news staff because it is of interest singnificance to their readers or because it can be made so."[1] यद्यपि समाचार की ये चारों परिभाषाएं एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न हैं, फिर भी इन सब में पाठक की रुचि तथा विवरण की यथार्थता की बातें समान रूप से विद्यमान हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि समाचार की कसौटी में पाठक की रुचि का सर्वमान्य महत्व है। इतना अवश्य है कि पाठक की रुचि ही समाचार की एकमात्र कसौटी नहीं है।

पाठक की अभिरुचि

पाठक की रुचि की बात आयी, तो हमारे लिये इस बात की पड़ताल करना आवश्यक हो जाता है कि पाठक की रुचि का आधार

1- वही, गेटिंग द न्यूज, विलियम एस० मल्सबी, प्रीफेस।

2- हिन्दुस्तान, हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार संग्रह एवं समाचार लेखन - ऐतिहासिक अनुदृष्टि में, श्री प्रकाश, 'न्यूज पेपर राइटिंग एण्ड एडिटिंग', डा० विलर्ड जी ब्लेयर से उद्धृत, पृ० 4.

क्या है । वास्तव में पाठक की रुचि समाचार की सामयिकता, उसके घटना-स्थल, प्रकाशन स्थल तथा उसके विषय पर निर्भर करती है । इनमें सबसे महत्वपूर्ण सामयिकता है । पाठक को सबसे अधिक रुचि उसी समाचार में होती है, जो सामयिक हो, अर्थात एकदम ताजा हो । इतना जरूर है कि समाचार की ताजगी की परिधि निरन्तर परिवर्तित होती गई है । पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में समाचार हफ्तों और कभी-कभी महीनों बाद पत्रों में प्रकाशित हो पाते थे । किन्तु उस काल में वे समाचार ही पाठक के लिये ताजे होते थे । तीव्र संचार माध्यम के अभाव में समाचारपत्रों को शीघ्र समाचार मिल ही नहीं पाते थे । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में महाजनी का काम करने वाली मद्रास स्थित एक संस्था 'अर्बुथ नॉट एण्ड कम्पनी' का दिवाला निकल गया । तत्कालीन भारत सरकार को उस कम्पनी में रुचि थी, किन्तु उसे भी कम्पनी का दिवाला निकल जाने का समाचार तुरन्त नहीं मिल सका । महीनों बाद एक समाचारपत्र ने जब यह समाचार प्रकाशित किया, तो एक साधारण से सरकारी कर्मचारी ने उसे पढ़कर भारत सरकार को सूचित किया । सूचना पाकर वाइसराय तथा उनके वित्तीय सलाहकार सर विलियम मेयर बहुत चिंतित हो गये और वे समाचार का विस्तृत विवरण प्राप्त करने को उत्सुक हो उठे । किन्तु तीव्र गति वाले संचार माध्यम के अभाव में लम्बे अरसे तक उन्हें पूरा विवरण प्राप्त नहीं हो सका । ऐसी परिस्थितियों में समाचारों की जानकारी देर से प्राप्त होना स्वाभाविक ही था ।

समाचारपत्रों का पाठक भी उस स्थिति में महीनों बाद भी किसी घटना के समाचार को पढ़कर सन्तुष्ट हो जाता था और उसे ही ताजा समाचार मानता था । किन्तु समय के साथ स्थितियाँ बदल चुकी हैं । विज्ञान की प्रगति ने देशगत् दूरी को लगभग समाप्त कर दिया है । आज के वैज्ञानिक युग में तो संचार माध्यम इतना विकसित हो चुका है कि दुनिया के किसी भी कोने में घटित हो रही किसी घटना का समाचार कुछ क्षणों में ही पूरे विश्व में प्रसारित हो जाता है । इस शताब्दी के मध्य में भी संचार माध्यम इतना विकसित हो चुका था कि समाचार प्रसारित होने में अधिक समय नहीं लगता था । तीस जनवरी सन् 1948 को दिल्ली स्थित बिड़ला भवन में सायंकाल पाँच बज कर दस मिनट पर गाँधी जी की हत्या हुई थी और उस समय भारत जैसे अल्प विकसित देश द्वारा दो मिनट से भी कम समय मे यह समाचार विश्व भर मे प्रसारित कर दिया गया था ।

विज्ञान की प्रगति के साथ समाचार की ताजगी कीकसौटी बदल चुकी है । आज संचार व्यवस्था इतनी विकसित हो चुकी है कि सामान्यतः आजका समाचार कल ही पाठक के लिये बासी पड़ जाता है । अक्सर तो चंद घंटे पहले का भी समाचार ताजा नहीं रह जाता । कभी-कभी तो समाचार-पत्र कार्यालय तक समाचार पहुँचते-पहुँचते ही घटना चक्र इतनी तीव्र गति से घूम चुका होता है कि वह समाचार बासी पड़ जाता है और आगे का समाचार पत्रों तक पहुँच जाता है ।

पहले का पाठक पुराने समाचारों को पढ़कर केवल इसलिए सन्तुष्ट हो जाता था, क्योंकि उसके अस्तित्व की परिधि बहुत सीमित थी और उसके इर्द-गिर्द बिखरे संसार की गति बहुत धीमी थी। किन्तु विज्ञान के इस तीव्रगामी युग की संतानें सामयिकता और ताजगी को घंटे भी नहीं वरन मिनटों और क्षणों की कसौटी पर आंकने लगी हैं।

पाठक की रूचि में समाचार की सामयिकता और ताजगी की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण कसौटी इस प्रकार समय के साथ परिवर्तित होती गई है और भविष्य में भी परिवर्तित और परिवर्धित ही होती जायेगी।

कुछ घटनाएं ऐसी भी होती हैं, जिनमें निरन्तर कुछ-न-कुछ नई बात होती जाती है और वे काफी समय तक सामयिक बनी रहती हैं। इन घटनाओं में कुतूहल की मात्रा इतनी अधिक होती है, कि पाठक की रूचि और उत्सुकता लगातार कायम रहती है। किसी घटना का अन्त क्या होगा यदि यह बात अंधकार में रहे तो कुतूहल अपने आप उत्पन्न हो जाता है और उससे संबंधित समाचार कई-कई दिनों तक ही नहीं वरन अक्सर तो हफ्तों और महीनों तक ताजे बने रहते हैं। युद्ध, आन्दोलन, चुनाव, प्राकृतिक प्रकोप तथा खेलकूद के समाचारों में कुतूहल किसी - न - किसी रूप में अन्त तक बना रहता है। परिणामत: ऐसे समाचारों की ताजगी की अवधि अपेक्षाकृत अधिक होती है।

घटनास्थल और प्रकाशनस्थल

पाठक की रूचि किसी समाचार के घटनास्थल और उसके प्रकाशनस्थल पर भी बहुत अधिक निर्भर करती है। घटनास्थल पाठक से जितनी ही कम

दूरी पर होगा, उसके समाचार में उसकी उतनी ही अधिक रूचि होगी । यही कारण है कि सामान्य पाठकों को स्थानीय समाचारों में सबसे अधिक रूचि होती है और वे सबसे पहले स्थानीय समाचारों के पृष्ठ को ही खोलते हैं । अपने ही नगर के किसी क्षेत्र में अग्निकांड हो जाये या डाका पड़ जाए, या हत्या हो जाये या ऐसी ही कोई अन्य घटना हो जाय, तो उसमें उस नगर के पाठक को किसी अन्य नगर में घटित ऐसी ही किसी घटना के समाचार की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी होगी । घटनास्थल की यह परिधि जितनी ही संकीर्ण होती है पाठक की रूचि की केन्द्रिकता उतनी ही बढ़ जाती है । इसीलिए समाचारपत्रों के नगर संस्करण में स्थानीय समाचार काफी बड़ी मात्रा में दिये जाते हैं । इन समाचारों में से अधिकांश में तो वास्तविक अर्थों में समाचारत्व होता ही नहीं । यह बात बड़े नगरों की अपेक्षा छोटे नगरों और कस्बों में अधिक देखने को मिलती है, क्योंकि वहां का पाठक अपने नगर या कस्बे के चप्पे-चप्पे से परिचित होता है तथा अक्सर तो वहां के बहुत सारे नागरिकों को भी वह जानता रहता है, जिनसे संबंधित समाचारों में उसकी गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी रहती है । स्थानीय महत्व के ऐसे अधिकांश समाचार बाहर के समाचारपत्रों में तो स्थान ही नहीं पाते क्योंकि पाठक से घटनास्थल की दूरी जितनी बढ़ती जाती है, उतने ही अनुपात में पाठक की उसमें रूचि भी घटती जाती है । स्थानीय समाचारों में से एकआध महत्वपूर्ण समाचार यदि बाहर के पत्रों में स्थान पाते भी हैं, तो उनका स्वरूप बहुत

संक्षिप्त होता है और समाचारपत्र में उन्हें स्थान भी बहुत कम महत्व वाला ही दिया जाता है ।

कभी-कभी घटनास्थल स्वयं अपने आप में इतने महत्वपूर्ण या दिल - चस्प होते हैं कि वहाँ के समाचारों में पाठक सहज ही रुचि लेने लगता है । उदाहरणार्थ न्यूयार्क के किसी भी समाचार में जागरूक पाठक को अवश्य रुचि होगी, क्योंकि वहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्यालय है और अन्तर्रा - ष्ट्रीय समस्याओं से उसका अटूट संबंध है । इसी तरह हॉलीवुड के समा - चारों में किसी दूरस्थ देश का पाठक भी उतनी ही रुचि लेगा जितनी हॉलीवुड का पाठक, क्योंकि हॉलीवुड अमेरिकी फिल्म उद्योग का केन्द्र होने के कारण विश्व भर में अपनी रंगीनियों के लिये प्रसिद्ध है । इसी प्रकार दिल्ली के किसी भी समाचार में प्रत्येक समाचारपत्र पाठक को निश्चित रूप से अभिरूचि होगी, क्योंकि दिल्ली भारत की राजधानी है और वहाँ के समाचार का प्रभाव पूरे देश पर भी पड़ सकता है तथा उसकी प्रतिक्रियायें विश्व राजनीति में भी दिखाई पड़ सकती है । भारत के हॉलीवुड बम्बई के समाचारों की स्थिति भी पाठकों के बीच वैसी ही है जैसी स्वयं हॉलीवुड के समाचारों की, क्योंकि बम्बई भारतीय फिल्म उद्योग का मुख्य केन्द्र होने के कारण अपनी रंगीनियों के कारण देशभर में जाना जाता है ।

समाचारों की पाठक-केन्द्रिकता

पाठकों की आर्थिक तथा सांस्कृतिक अभिरूचि पर भी अक्सर समाचारों का महत्व निर्भर करता है । किसी समाचार में निहित कोई

छोटी सी बात भी यदि पाठकों की आर्थिक अथवा सांस्कृतिक रुचि की तुष्टि करने में सक्षम है, तो वह समाचार पाठकों के लिये महत्वपूर्ण बन जायेगा और इसी लिए समाचारपत्रों के लिये भी उसका निःसन्देह महत्व है ।

समाचार का विषय और उसका विवरण ऐसा होना चाहिए कि पाठक के विचारों तथा भावनाओं में उथल-पुथल मच जाये । किसी भी समाचार को पढ़कर यदि पाठक के मस्तिष्क के तन्तु किसी भी रूप में उत्तेजित अथवा उद्वेलित हो गये, तो वह उस समाचार में अवश्य ही रुचि लेगा । किसी समाचार की प्रतिक्रिया यदि बौद्धिक रूप में होती है और मस्तिष्क उस पर कुछ सोचने-विचारने को मजबूर हो जाता है, या यदि उसकी प्रतिक्रिया भावनात्मक होती है अर्थात उससे मन में क्रोध, अवसाद या आनन्द की सृष्टि होती है, तो पाठक की रुचि उस समाचार में बराबर बनी रहेगी ।

मनुष्य को स्वभाव से ही स्वयं अपने आप में तथा अपने आपसे संबंधित अन्य सभी बातों में सबसे अधिक रुचि होती है । इस संबंध में "अमेरिकन मैगजीन " के सम्पादक जॉन एम० सिडेल[1] का कथन उल्लेखनीय है ।

---

1. "What interests prople ? One thing only interest all human being always, and that is the human being himself.
"There you have the gist of the matter No prescription can beat it–if you want to know how to get at people and grip their attention.
"Every human being likes to see himself in reading matter–just as he likes to see himself in a mirror...
"Newspapers are read widely because the individual reader sees himself constantly in the paper... He reads about things happening to individuals which might happen to him, and he keeps camparing himself with what he reads."

हिन्दुस्तानी, हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार संग्रह एवं समाचार-लेखन - ऐतिहासिक अनुदृष्टि, श्रीप्रकाश, पृ० 6 पर उद्धृत जॉन एम॰सिडेल का कथन ।

तात्पर्य यह है कि यदि समाचार का विषय स्वयं पाठक की समस्याओं और उसके आसपास के वातावरण या किसी अन्य बात से संबंधित है तो उसमें पाठक की रूचि होना स्वाभाविक है ।

समाचार के अन्य तत्व

अनेक घटनाएँ असाधारण होने के कारण भी समाचार की परिधि में आ जाती हैं और पत्रों में प्रकाशित होती हैं । आशा के विपरीत कोई बात हो जाए या सामान्यत: जो कुछ जैसा होता आया है उसके विपरीत कोई घटना घटित हो जाये, तो उसका विवरण सहज ही समाचार की परिभाषा में आ जायेगा, क्योंकि उसमें पाठक की रूचि होना निश्चित है । सम्भवत: इसी तथ्य के आधार पर पत्रकारिता के प्रारम्भिक काल में कहा जाता था कि यदि कुत्ता मनुष्य को काट खाये तो वह समाचार नहीं है किन्तु यदि मनुष्य कुत्ते को काट ले तो वह समाचार है । लेकिन जैसा पहले ही कहा जा चुका है, समाचार की यह परिभाषा आज के युग में निरर्थक हो गई है । आज असाधारण तथा विचित्र घटनायें भी समाचार तो हैं किन्तु वे पत्रों में "बाक्स समाचार" के रूप में ही स्थान पाती हैं । ऐसी असाधारण घटनाओं के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ ऐसा है, जो आज के युग में समाचार माना जाता है ।

समाचारपत्रों में यदि किसी अति महत्वपूर्ण व्यक्ति के संबंध में छोटी-सी बात भी प्रकाशित होती है, तो वह पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती । प्रधानमंत्री को यदि हल्का-सा

जुकाम-बुखार भी हो जाय तो वह समाचार है क्योंकि प्रधानमंत्री का देश भर के लोगों की दृष्टि में बहुत महत्व है और उनसे संबंधित छोटी-से-छोटी बात में भी प्रत्येक पाठक रुचि रखता है । समाचारपत्र पाठक बड़े नेताओं तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों में इतनी अधिक रुचि लेता है कि उनकी कठिन बीमारियों के समय तो दिन में कई-कई बार उनके स्वस्थ के संबंध में समाचार प्रसारित करना आवश्यक हो जाता है । ऐसा इसी कारण होताहै, क्योंकि पाठक को जिसमें रुचि हो वही बात समाचार की परिधि में आती है । किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि किन्हीं पाठकों की कुरुचि को भी समाचार का आधार मान लिया जाये । ऐसी स्थिति में तो समाचारपत्र का कर्त्तव्य यही बनता है कि वह कुरुचि का परिष्कार करें ।

समाचारपत्रों में जिन समाचारों को सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिलता है उनमें कहीं-न-कहीं किसी प्रकार का संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता अवश्य छिपी रहती है । समाचारों का सबसे अधिक सृजन या उत्पादन राजनीति, व्यवसाय और खेलकूद के क्षेत्र में होता है और इन तीनों ही क्षेत्रों में संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता निहित है । अपराध समाचारों में अपराधी और कानून के प्रतिनिधियों का संघर्ष दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार पर्वतारोहण या किसी अन्य ऐसे ही अभियान में प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष का दिग्दर्शन होता है । यहाँ तक कि रहस्यपूर्ण समाचारों में भी अनजाने-अनबूझे रहस्यों को खोज निकालने के लिये मनुष्य

का अनवरत संघर्ष दिखता है । यही नहीं, भावनात्मक संघर्ष से अनुप्राणित घटनाएँ भी समाचार बन जाती हैं । कारण यह है कि मनुष्य को स्वभाव से ही संघर्ष में रुचि होती है । जहाँ कहीं भी किसी तरह का संघर्ष या प्रतिद्वन्द्विता होगी वहाँ मनुष्य सबसे अधिक रुचि दिखायेगा और यही कारण है कि ऐसे समाचार समाचारपत्रों में सबसे अधिक और सबसे महत्वपूर्ण स्थान पाते हैं ।

जिन समाचारों में लम्बे-चौड़े आँकड़े होते हैं या जिन समाचारों से बहुत अधिक लोगों का संबंध होता है, उनमें भी पाठक को उनकी विशालता के कारण दिलचस्पी हो जाती है । अखबार के पहले पृष्ठ पर जब आठ कालम का बैनर लगाया जाता है, तो उस शीर्षक की विशालता के कारण पाठक का ध्यान उसकी ओर अवश्य आकर्षित होता है । बहुत - कुछ यही बात समाचार में प्रस्तुत आँकड़ों की विशालता के संबंध में भी होती है । पाठक की रुचि ही इसमें भी सर्वोपरि है ।

समाचारपत्रों में अक्सर ऐसे समाचार भी प्रकाशित होते हैं, जिनका स्वयं अपने आप में तो अधिक महत्व नहीं होता किन्तु उनसे ऐसे परिणाम निकलने की संभावना रहती है, जिनके कारण पाठक को उनमें दिलचस्पी होती है । किसी विधानसभा या लोकसभा द्वारा किसी विधेयक के पारित हो जाने में हो सकता है पाठक को अधिक रुचि न हो, किन्तु यदि उसके परिणाम उसके हितों के विरुद्ध होने वाले हैं तो पाठक के लिये उस विधेयक से संबंधित सारे समाचार चिन्ताजनक बन सकते हैं । कोई

समाचार यदि चिन्ताजनक होगा, तो उसमें पाठक की रुचि भी अवश्य होगी, भले ही उसे हम नकारात्मक रुचि कहें ।

पाठक के अन्तर्मन को अन्य मनुष्यों के जीवन की कारुणिक घटनाओं के विवरण सबसे अधिक प्रभावित करते हैं । क्योंकि वह संवेदनशील प्राणी है । मनुष्य के मन में स्वभावत: अन्य मानव प्राणियों के प्रति गहरी सहानुभूति होती है, इसीलिए उनके सुख-दुख का समाचार पढ़ कर उसका मन द्रवित हो जाता है । उसे लगता है जैसे वे घटनाएं स्वयं उसके जीवन में घटित हुई हों, जैसे उस सुख-दुख को वह स्वयं जी रहा हो । ऐसे मानवीय समाचारों में पाठक की गहरी रुचि के कारण ही समाचारपत्र ऐसे समाचारों को कुछ विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं । ऐसे समाचारों के अक्षर या कहें कि "टाइप " साधारण समाचारों के "टाइप" से भिन्न रखे जाते हैं । उनके शीर्षक भी साधारण समाचारों के शीर्षकों से भिन्न टाइप में मुद्रित किये जाते हैं । अक्सर ऐसे समाचारों को बार्डर से घेर कर "बाक्स " बना दिया जाता है ।

पशु पक्षियों संबंधी समाचारों में भी पाठकों की विशेष रुचि होती है । ऐसे समाचारों को पढ़कर पाठक में बहुत-कुछ वैसी ही प्रतिक्रिया होती है जैसी मानवीय समाचारों को पढ़कर । अत: ऐसे समाचारों को

भी समाचारपत्र विशेष रूप से प्रकाशित करते हैं । जार्ज सी० बेस्टया[1] ने अपनी पुस्तक "एडिटिंग दि डेज़ न्यूज " में एक बहुत दिलचस्प समाचार-गणित (न्यूज अरिथमैटिक) का ब्योरा दिया है ।

यह समाचार-गणित यद्यपि पहले बिल्कुल ठीक मालूम पड़ती थी और आज भी सिद्धान्त रूप में इससे मतभेद का कोई कारण नहीं है, फिर भी यह अपूर्ण अवश्य है । आज के युग में पत्रकारिता की जो अवधारणा है, उसके अनुसार इस समाचार-गणित की परिधि के बाहर की असंख्य ऐसी घटनाएं हैं जो समाचार की कसौटी पर खरी उतरती हैं ।

---

1. One ordinary man + one ordinary life = 0
   One ordinary man + one extraordinary adventure = news
   One ordinary husband + one ordinary wife = 0
   One husband + 3 wives = news
   One bank cashier + one wife + 7 children = 0
   One bank cashier - $ 10,000 = news
   One chorus girl + one bank president = $ 10,000 = news
   One man + one auto + one gun + one quart = news
   One man + one wife + one row + one lawshit = news
   One man + one achievement = news

   One ordinary man + one ordinary life of 79 years = 0
   One ordinary man + one ordinary life of 100 years = news
   One Woman + One adventure or achievement = news

   हिन्दुस्तानी, हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार संग्रह एवं समाचार लेखन - ऐतिहासिक अनुदृष्टि में, श्री प्रकाश , जार्ज सी० बेस्टया कृत 'एडिटिंग दि डेज न्यूज' से उद्धृत, पृ० 8

समाचारपत्र कार्यालयों में आज ढेर-के-ढेर समाचार किसी फैक्ट्री में आने वाले कच्चे माल की तरह अविरल गति से आते रहते हैं और इनमें से अधिकांश समाचार उपरोक्त समाचार-गणित की परिधि से बहुत दूर होते हैं। यही नहीं, समाचार आज के युग में मात्र सीधे-साधे समाचार नहीं रह गये हैं। वाल्टर लिपमैन[1] की एक टिप्पणी इस संबंध में बहुत महत्व-पूर्ण है कि किसी तथ्य में निहित सच्चाई को उभार कर सामने लाना समाचार के लिए आवश्यक है।

इस सारी विवेचना के बावजूद यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि आधुनिक पत्रकारिता के मूल में जिज्ञासा या ज्ञान की प्यास के साथ ही कुछ ऊँचे आदर्श भी जुड़ते गए, जिससे पत्रकारिता एक कला के रूप में विकसित होती गई, साहित्य से उसका गहरा नाता बनता गया और पत्रकारिता का एक ऐसा आदर्श निर्धारित हुआ जिससे पत्रकारिता ही नहीं पत्रकार का भी मान-सम्मान बढ़ता गया।

---

1. "The function of news is to signalize an event, the function of truth is to bring to light the hidden facts, and make a picture of reality. It is no longer enough to report the fact truthfully. It is now necessary to report the truth about the fact."

हिन्दुस्तानी, हिन्दी समाचारपत्रों में समाचार-संग्रह एवं समाचार लेखन - ऐतिहासिक अनुदृष्टि में, श्री प्रकाश, हिलियर क्रीगबाम कृत 'फैक्ट्स इन पर्सपेक्टिव' से उद्धृत, पृ0 12.

प्रारम्भिक विकास-यात्रा के इतिहास का अभाव
==================================

पत्रकारिता के तमाम मान-सम्मान के बावजूद उसकी प्रारम्भिक विकास-यात्रा के इतिहास का अभाव होना एक विडम्बना ही है । वास्तव में इसे चिराग तले अँधेरा जैसी उक्ति दी जाये तो अनुचित न होगा पत्रकार, जो देश, दुनिया और अपने चारों ओर व्याप्त समस्त ब्रह्माण्ड का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, उसने कभी पत्रकारिता के ही सर्वांगपूर्ण इतिहास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की ओर ध्यान नहीं दिया ।

वास्तविकता तो यह है कि यह विडम्बनापूर्ण स्थिति किसी एक देश में ही नहीं है । पत्रकारिता के सर्वाधिक उन्नत देशों में भी पत्रकारिता के प्रारम्भिक इतिहास का कोई सर्वांगीण ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । ऐसी स्थिति में अविकसित, अर्द्धविकसित अथवा विकासशील देशों में पत्रकारिता के इतिहास की प्रामाणिक पुस्तकें उपलब्ध होने की तो आशा ही नहीं की जा सकती । भारत में भी बहुत - कुछ ऐसी ही स्थिति हैं । प्राचीन अथवा मध्यकालीन पत्रकारिता के इतिहास की बात तो दर-किनार, मुद्रित पत्रों से प्रारम्भ आधुनिक पत्रकारिता के इतिहास का भी पूर्वार्द्ध धुंध में ही डूबा हुआ लगता है । उदाहरण के लिये यह बात लगभग सर्व - मान्य है कि हिन्दी में प्रथम मुद्रित पत्र 'उदन्त-मार्तण्ड' साप्ताहिक था, जो सन् 1826 में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था । किन्तु कुछ लोग यह भी कहते हैं कि इससे भी पहले सन् 1823-24 या 1825 में हिन्दी में एक बुलेटिन जैसा पत्र प्रकाशित हो चुका था, जिसका उद्देश्य इसाई धर्म का

प्रचार मात्र था । कुछ इसी तरह का अनिर्णय या विवाद हिन्दी के प्रथम दैनिक पत्र "समाचार सुधावर्षण" के बारे में भी उठाया जाता रहा है । इन पत्रों के संबंध में हम आगे चर्चा करेंगे, किन्तु उपरोक्त अनिर्णय की स्थिति से यह स्पष्ट है कि पत्रकारिता का इतिहास धुंध के घेरे से बाहर नहीं आ सका है, जिससे सारी स्थितियाँ पूरी तरह निर्णीत हो पाती । जैसा श्री हेरम्ब मिश्र ने कहा है - "अनेक सरकारी और गैर सरकारी प्रकाशन संस्थाओं का कर्त्तव्य था कि वे भारतीय पत्रकारिता की पृष्ठ - भूमि, जन्म और विकास का एक अधिकृत, वृहत इतिहास तैयार करा लेतीं । कम-से-कम इस दृष्टि और विचार से कि स्वतन्त्रता के सूर्य का दर्शन कराने में कुछ हद तक पत्रकारिता ने भी योगदान किया है और आगे भी नये समाज की रचना में उसका कुछ योगदान हो सकता है ।"[1]

यहाँ हम उनके इस वक्तव्य को और बढ़ाते हुए कहना चाहेंगे कि स्वतन्त्रता प्राप्ति में पत्रकारिता का योगदान कुछ हद तक ही नहीं सीमित था, बल्कि उसका विस्तार बहुत बड़ी सीमा तक था । वर्तमान युग में पत्रकारिता के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए हम यह भी कहेंगे कि नये समाज की रचना में पत्रकारिता का कुछ ही योगदान हो सकने की बात वास्तव में पत्रकारिता के साथ अन्याय है । हमारे विचार से तो नये समाज की रचना के जो भी आधार स्तम्भ हो सकते हैं, उनमें पत्रकारिता

1- हरेम्ब मिश्र , सम्पूर्ण पत्रकारिता, पृ० 14

सर्वाधिक सुदृढ़ स्तम्भ है, जिसका दुरूपयोग होने पर समाज को हानि भी उठानी पड़ सकती है । इस दृष्टि से समाज की नई रचना में पत्रकार की भूमिका और उसकी जिम्मेदारी बहुत बढ़ी हुई है । यही नहीं, मानव-समाज भी पत्रकार और पत्रकारिता से बड़ी अपेक्षाएं रखता है ।

स्वतन्त्रता के जिस सूर्य का दर्शन कराने में पत्रकारिता के कुछ योगदान की बात श्री हरेम्ब मिश्र ने अपने ग्रन्थ "सम्पूर्ण पत्रकारिता" में कही है, उस संबंध में वास्तविकता तो यह है कि 1857 में आजादी की पहली लड़ाई से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के क्षण तक पत्रकारिता और पत्रों बड़ी अहम भूमिका का निर्वाह पूरी जिम्मेदारी से किया है - कभी हस्त - लिखित पत्रों के माध्यम से, कभी साइक्लोस्टाइल पत्रों के माध्यम से, तो कभी मुद्रित पत्रों के माध्यम से । स्वतन्त्रता संघर्ष के दौरान पत्रकार और पत्र उस संघर्ष से इतने अधिक जुड़े हुए थे कि उस समय पत्रकारिता व्यवसाय या पेशा न होकर एक मिशन के रूप में प्रतिष्ठापित थी । उसका भी उद्देश्य जन-जन को स्वतन्त्रता प्राप्ति के आदर्शों के प्रति प्रेरित करना था । और एकमात्र उद्देश्य विदेशी शासन से पूरी तरह मुक्ति प्राप्त करना था ।

किन्तु स्वतन्त्रता संघर्ष में प्रमुख भागीदारी दर्ज करने वाले तथा समाज रचना के इस सर्वाधिक सुदृढ़ स्तम्भ के इतिहास को कड़ियां आज भी टूटी बिखरी पड़ी हैं । इन बिखरी कड़ियों को जोड़ना भी आसान नहीं है । जैसा डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने "आधुनिक हिन्दी साहित्य 1850-1900" शीर्षक अपने शोध प्रबन्ध में कहा है - "19वीं शताब्दी के

लगभग सभी समाचारपत्र अब लगभग दुर्लभ हैं ।"[1] इस सम्बन्ध में डॉ0 राम - रतन भटनागर ने अपने शोध प्रबन्ध में कुछ और अधिक विस्तार से पत्र - कारिता के इतिहास लेखन की कठिनाइयाँ बताई है ।[2]

इसमें सन्देह नहीं कि 1826 में 'उदन्त मार्तन्ड' के प्रकाशन के बाद से आज तक के 166 वर्षों में हिन्दी पत्रकारिता ने अपने विकास की अनेक मंजिलें तय की हैं । किन्तु सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक प्रगति तथा विकास के उसके महत्वपूर्ण योगदान का क्रमबद्ध विवरण कहीं

---

1. Almost all the 19th Century papers are now scarce, Dr. L.S. Varshney; Modern Hindi Litrature, 1850-1900; D.Phil Thesis.
1. "The chief difficulty lies in the fact that the material which must form the basis of such study lies scattered, where it has not already been extinct and lost, through the whole of Northern India extending from the Bay of Bengal to the "land of the five rivers,." and embracing the whole of Rajputana, the central India and most of C.P. in private, public and state libraries, and in some cases private possession."

   Dr. RamRatan Bhatnagar: The Rise and Growth of Hindi Journalism - 1826-1945, page IV.

भी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं होता । वास्तविकता तो यह है कि ऐसा कोई ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता भी पिछली शताब्दी के अन्त तक किसी ने नहीं समझी थी । 19वीं शताब्दी के अन्त में भारतेन्दु युग में जब पत्रों तथा पत्रकारों के अनेक नाम पत्रकारिता तथा साहित्य के क्षितिज पर अवतरित हुए, तभी उनके महत्व को कुछ-कुछ समझा गया । उसका मुख्य कारण यह था कि भारतेन्दु युग के अधिकांश पत्रकार ऐसे थे जो अपने समय के महत्वपूर्ण साहित्यकार भी थे । वह समय ऐसा था जब सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में अपने मन के उद्वेलनों को प्रकाश में लाने की उत्कंठा रखने वाला प्रत्येक महत्वपूर्ण व्यक्ति स्वयं अपना पत्र प्रकाशित करने को प्रेरित होता था । पाठकों की संख्या उस समय भले ही कम रही हो, किन्तु ऐसे प्रयासों को भरपूर सराहना और प्रतिष्ठा भी मिलती थी ।

पत्रों तथा पत्रकारों के बढ़ते प्रभाव तथा महत्व से प्रेरित होकर ही 1896 में बाबू राधाकृष्ण दास ने "हिन्दी सामयिक पत्रों का इतिहास" लिखा और उसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित भी किया । उन्होंने 1845 से 1894 के बीच प्रकाशित समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं का अध्ययन इस पुस्तक में प्रस्तुत किया । यह अध्ययन भले संक्षिप्त रहा हो, किन्तु बाद के पत्रकारिता तथा साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिये बाबू राधाकृष्ण दास का वह ग्रन्थ आधार बना । अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने 'भारतोदय' तथा 'हिन्दुस्तान' शीर्षक दो दैनिक पत्रों, उन्तालिस

साप्ताहिकों, तिरासी मासिक पत्रिकाओं, सात पाक्षिकों और एक त्रैमासिक "कवि व चित्रकार" का अध्ययन प्रस्तुत किया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की पत्रकार-कला पर उन्होंने जो कुछ प्रकाश डाला वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। किन्तु क्रमबद्ध इतिहास की कसौटी पर वह भी खरा नहीं उतरता।

बाबू लाल मुकुन्द गुप्त तो राधाकृष्ण दास के इस ग्रन्थ से इतने प्रभावित हुए थे, कि उसके प्रकाशन के कुछ महीनों बाद ही उन्होंने 'भारत - मित्र में हिन्दी पत्रकारिता के विकास पर लेख प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया था। ये लेख बाद में पण्डित लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा सम्पादित किये गये और 'गुप्त निबन्धावली' के रूप में सन् 1912 में प्रकाशित हुए। किन्तु महत्वपूर्ण कृति होने के बावजूद उसे हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास नहीं कहा जा सकता, भले ही उसमें इतिहास की कुछ टूटी-बिखरी कड़ियाँ प्राप्त होती हैं।

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास के कुछ सूत्र गार्सां द तासी के "Histoire de la Literature Hindoui et Hindoustani Vols I, II, III" और उनके "Discourses-1850-76" में भी प्राप्त होते हैं। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले साहित्यकार - समालोचकों ने भी पत्रकारिता के इतिहास को छुआ अवश्य, किन्तु इसके महत्व को पूरी तरह पहचाना नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे पहले हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा, किन्तु उन्होंने पत्रों, पत्रकारों तथा

पत्रकारिता पर बड़े हल्के-फुल्के ढंग से ही अपनी लेखनी चलायी । उनसे इससे अधिक की शायद अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि उनका उद्देश्य पत्रकारिता का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करना नहीं था । वे तो हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे और केवल प्रसंगवश ही उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता तथा पत्रकारों पर थोड़ा-बहुत लिख दिया था । इतना जरूर है कि पत्रकारों और पत्रों की भाषा की समीक्षा करने के लिए उन्होंने पहले-पहल उनके कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये । किन्तु पत्रकारिता के इतिहास की दिशा में उन्होंने कोई महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया । वास्त - विकता यह है, कि उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं के शीर्षक ही दिये हैं तथा उनके सम्पादकों के नाम प्रस्तुत किये हैं । उन्होंने इन पत्रों का प्रकाशन आरम्भ होने तथा बन्द होने के वर्ष भी दिये हैं । किन्तु इससे पत्रकारिता के इतिहास का कोई महत्वपूर्ण दिग्दर्शन नहीं होता ।

डॉ० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पत्रकारिता की कुछ विस्तृत झलक अवश्य प्रस्तुत की, किन्तु उसमें कोई गहरी अर्न्तदृष्टि दृष्टिगोचर नहीं होती । हिन्दी पत्रकारिता के विस्तृत फैलाव पर उन्होंने प्रारम्भिक समय से लेकर अपने समय तक दृष्टि तो डाली, किन्तु न तो उसमे विस्तार है न आलोचनात्मक दृष्टि । श्री नंदकुमार देव शर्मा ने अपनी पुस्तक "पत्र सम्पादन कला" में पश्चिमी देशों तथा हिन्दी पत्रकारिता की चर्चा तो की किन्तु बहुत संक्षिप्त । पं० विष्णु दत्त शुक्ल की पुस्तक "पत्र कला" अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट

अवश्य है, किन्तु उन्होंने पश्चिमी देशों की पत्रकारिता पर ही अधिक ध्यान दिया है। श्री बी० एस० ठाकुर तथा श्री सुशील कुमार पाण्डेय ने 'हिन्दी पत्रों के सम्पादक' ग्रन्थ में जो दृष्टि दी है और तत्कालीन पत्रकारिता की जो समीक्षा प्रस्तुत की है, वह बहुत-कुछ पूर्वाग्रहों से ग्रसित प्रतीत होती है। उन्होंने तो अति-उत्साह में श्रमजीवी पत्रकारों पर ही छींटाकशी कर डाली है। उनकी पुस्तक में शोधपरक दृष्टि का नितान्त अभाव प्रतीत होता है।

पं० कमलापति त्रिपाठी तथा पत्रकार पुरूषोत्तम दास टंडन के प्रयास से रची गई पुस्तक 'पत्र और पत्रकार' में पहले - पहल पत्रकारिता पर गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यही वह प्रथम पुस्तक है, जिससे पत्रकारिता के इतिहास की खोज-खबर लेने में वास्तविक अर्थों में कुछ सहायता मिलती है। पत्रकारिता के स्वरूप का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में लेखक-द्वय ने प्रस्तुत किया है। पत्रकारिता के इतिहास पर भी छुट-पुट रूप में प्रकाश पड़ता प्रतीत होता है। किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि पत्रकारिता के इतिहास और उसके विकास का क्रम - बद्ध विवेचन इस पुस्तक में भी प्राप्त नहीं होता। और-तो-और, पत्र - कारिता के साहित्यिक पक्ष तथा उसकी भाषा के विकास पर भी इन दोनों लेखकों ने पर्याप्त अर्न्तदृष्टि प्रस्तुत नहीं की। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक-द्वय का उद्देश्य पत्रकारिता का स्वरूप-विवेचन मात्र ही था।

हिन्दी पत्रकारिता पर पहला शोध कार्य इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अन्तर्गत डॉ0 राम रतन भटनागर ने किया । किन्तु हिन्दी विभाग के अन्तर्गत कार्य करने पर भी उन्होंने अपना शोध-प्रबन्ध अंग्रेजी भाषा में 'द राइज एण्ड ग्रोथ आफ हिन्दी जार्नलिज्म' शीर्षक से प्रस्तुत किया । और उन्हें विश्वविद्यालय से डी0 फिल0 की उपाधि भी मिली । किन्तु इसे एक सफल अन्तर्दृष्टि से प्रेरित शोध-प्रबन्ध नहीं कहा जा सकता । पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी[1] जैसे मूर्धन्य सम्पादकाचार्य ने भटनागर जी के शोध-प्रबन्ध की काफी आलोचना की है । डॉ0 राम रतन भटनागर के शोध-प्रबन्ध में कलकत्ता बंग भाषी मार्निंग कालेज के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ0 कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार -"भटनागर जी ने हिन्दी पत्रकारिता के समग्र परिप्रेक्ष को लेकर उसे अपने प्रबन्ध में प्रस्तुति देने की जो चेष्टा की है, उसमें वह सफल नहीं हो सके ।....... प्राचीन पत्रों के प्रकाशन काल की अनेक गलत सूचनाएं हैं । बीसवीं शताब्दी के भी पत्रों तक के नाम और प्रकाशन-काल सही नहीं हैं । उदाहरण के लिए 7 अगस्त, 1880 में 'उचितवक्ता' का प्रकाशन हुआ था, किन्तु भटनागर जी के मत से 'उचितवक्ता' 1878 में निकला था । इसी प्रकार 'भारतमित्र' की प्रकाशन तिथि 17 मई 1877 ई0 मानते हैं । 'सारसुधानिधि' का प्रकाशन 13 जनवरी 1879 ई0 को हुआ था, किन्तु

1- समाचार पत्रों का इतिहास - भूमिका, लेखक पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, पृ0 ग

भटनागर जी का विश्वास है कि वह 1878 में निकला था। इसी प्रकार 1907 में प्रकाशित 'नृसिंह' इस शताब्दी की प्रथम महत्वपूर्ण राजनीतिक पत्रिका थी। ध्यान देने की बात है कि प्रकाशन-काल के साथ ही उक्त पत्र का नाम भी भटनागर जी ने गलत लिखा है। इस पत्र का नाम 'नरसिंह' नहीं बल्कि 'नृसिंह' था, जिसके संचालक-सम्पादक पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी थे। इस प्रकार तथ्य-सम्बन्धी त्रुटियाँ विशेष रूप से देखने को मिलती हैं। इसके अलावा पत्रकारिता के अनुशीलन का अपेक्षित दृष्टिकोण और सही दिशा भी इस प्रबन्ध में नहीं दिखाई पड़ती। कहना होगा कि राजनीतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों बल्कि कहना चाहिए, जातीय चेतना को स्पर्श कर देने से पत्रकारिता के अनुसंधान में कोई विशिष्ट अर्थवत्ता नहीं आ जाती। होना यह चाहिए था कि उन सम्पूर्ण सन्दर्भों को मूल्यांकित और उद्घाटित किया जाये जहाँ से पत्रकारिता का जन्म और विकास हुआ है। भटनागर जी की दृष्टि तो उधर गयी, किन्तु उन्होंने उसे सही प्रस्तुति नहीं दी; और उनके प्रबन्ध का यह भी एक बड़ा अभाव है। पत्रकारिता की भाषा-विषयक और साहित्यिक उपलब्धि की ओर भी भटनागर जी ने बड़ी हल्की दृष्टि डाली है। कुल मिलाकर भटनागर जी के पूरे प्रबन्ध में एक बिखराव-सा आ गया है।"[1]

हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास पर जो कुछ भी लिखा गया वह पत्र-पत्रिकाओं के नाम और उनकी प्रकाशन तिथियों तक ही सीमित रह

1- कृष्ण बिहारी मिश्र - हिन्दी पत्रकारिता, प्रस्ताविका - पृ0 32-33

गया । वह भी किसी में अधिक है तो किसी में कम । तिथियाँ भी किसी में प्रामाणिक हैं, तो किसी में अप्रामाणिक । दुखद बात यह है कि पत्रकारिता और उसकी श्रेष्ठ कला के अन्दर गहरे पैठ कर उसकी प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास प्राय: नहीं हो सका ।

पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी का ग्रन्थ 'समाचार पत्रों का इतिहास' पत्रकारिता के इतिहास की दृष्टि से सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है । बाजपेयी जी ने हिन्दी पत्रकारिता के उतार-चढ़ाव के विभिन्न चरणों को स्वयं अपनी अनुभूति से देखा-परखा था । सम्पादन कला को उन्होंने जिस प्रकार समृद्ध बनाया था, उसी कारण उन्हें सम्पादकाचार्य की उपाधि से भी विभूषित किया गया । किन्तु अपने ग्रन्थ के अभावों के प्रति वे स्वयं जागरूक थे और उसे स्वीकार करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था । एक सत्यनिष्ठ लेखक-पत्रकार की भाँति उन्होंने अपने ग्रन्थ की भूमिका में बिना किसी लाग-लपेट के सत्य को स्वीकार करते हुए लिखा है - "यह काम जितना श्रम, शक्ति और अर्थसाध्य है, उसका इस लेखक में अत्यन्त अभाव था और इस अभाव में जो कसर थी, वह रुग्णता ने पूरी कर दी । ... चेष्टा इसलिए की गयी कि लेखक को गत 48-49 वर्षों की पत्रकारिता का जो अनुभव था और पुराने सम्पादकों के सत्संग से जो जानकारी प्राप्त हुई थी, उसका अन्त उसके साथ ही हो जाना न लेखक को अभीष्ट था और न उसके मित्रों को ।"[1]

1- समाचार पत्रों का इतिहास - भूमिका, लेखक पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, पृ0 ग

हिन्दी पत्रकारिता की डेढ़ शताब्दी से भी अधिक लम्बी अवधि के इतिहास की पृष्ठ भूमि में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों तथा चेष्टाओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। वास्तव में ये सभी गतिविधियाँ पत्रकारिता के इतिहास का अभिन्न अंग हैं। किन्तु यह सब कुछ उन पत्र-पत्रिकाओं के अंकों के अथाह सागर में छुपा हुआ है, जिसमें गहरे पैठ कर उसे निकाल लाने की आवश्यकता है।

हिन्दी पत्रकारिता का एक वर्ष (1826-27) वास्तव में उर्दू पत्र - कारिता का वर्ष था। उर्दू पत्रकारिता, हिन्दी पत्रकारिता पर पूरी तरह हावी थी। अधिकांश हिन्दी पत्र भी विशुद्ध हिन्दी पत्र नहीं थे। जो विशुद्ध हिन्दी पत्र थे भी उनके पाठक नगण्य थे। सम्भवतः वे पत्र हिन्दी के प्रति अगाध प्रेम के कारण ही प्रकाशकों सम्पादकों द्वारा स्वान्तः सुखाय निकाले गये थे।

किन्तु हिन्दी पत्रकारिता का 1867 - 83 तक का चरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग होने के कारण साहित्यिक पत्रकारिता का युग बन गया था तथा इस काल में हिन्दी भाषा की वास्तविक नींव पड़ी। इस काल में पत्रकारिता साहित्यिक पत्रिकाओं तक ही सीमित थी। और उनमें सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयों पर विभिन्न विधाओं में रचनायें प्रकाशित होती थीं। और-तो-और, इनमें समाचार भी साहित्यिक रंग से भर कर प्रकाशित होते थे। वास्तव में उस काल के लेखक-पत्रकार

अपने मन के उद्वेलनों की अभिव्यक्ति के लिए ही पत्र-पत्रिकायें पूरे उत्साह से प्रकाशित करते थे ।

हिन्दी पत्रकारिता का 1883 से लेकर 1900 तक का चरण वह युग था, जब धार्मिक और सामाजिक सुधार तथा रूढ़ियों को तोड़ने की आवश्यकता बड़ी तीव्रता से महसूस की जाने लगी थी. । इसी कारण प्रचार-प्रवृत्ति इस युग में पत्रकारिता पर हावी हो गयी थी । साहित्यिक पत्रकारिता को आगे बढ़ाने वाले 'हिन्दी प्रदीप', 'आनन्द कादम्बनी', 'ब्राह्मण' तथा अनेक ऐसे ही पत्र प्रकाशित तो उस समय भी हो रहे थे, किन्तु धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का बीड़ा उठाने वाले पत्रों के समक्ष इनकी लोकप्रियता गौण थी ।

सन् 1900 से 1920 की दो शताब्दियाँ हिन्दी साहित्य के विकास से इतने अभिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं कि इस युग की पत्रकारिता मूल रूप से साहित्यिक पत्रकारिता बन गई है । यह साहित्यिक पत्रकारिता का युग था, जिसमें साहित्यिक पत्रिकायें प्रकाशित करने की होड़ थी । उन पत्रिकाओं में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' निःसन्देह श्रेष्ठतम् थी । हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी भाषा के विकास में द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' का सर्वश्रेष्ठ स्थान है । यही नहीं, हिन्दी पत्रकारिता का 'सरस्वती' ने एक ऐसा श्रेष्ठ स्तर स्थापित किया था कि कहा जाता था कि द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में यदि कोई हिन्दी प्रेमी प्रशिक्षार्थी पत्रकार के रूप में भी कुछ वर्ष कार्य कर ले, तो उसके प्रतिष्ठित

साहित्यकार बन जाने में कोई सन्देह नहीं । यह वह युग था जब पत्र - कारिता निःसन्देह साहित्य-साधना थी । उस काल की पत्रिकाओं में लिखने वाला प्रत्येक पत्रकार साहित्यकार ही बन जाता था, और उसे साहित्यकार के रूप में पूर्ण मान्यता प्राप्त होती थी ।

सन् 1921 से 1935 के बीच प्रथम दशाब्दी में यद्यपि साहित्यिक पत्रकारिता का ही द्विवेदी जी की 'सरस्वती' पत्रिका तथा उस जैसी अन्य पत्रिकाओं में वर्चस्व था । किन्तु इस अवधि को दैनिक पत्रों का युग ही कहना उचित होगा । सन् उन्नीस सौ चौदह के विश्व युद्ध के पूर्व दैनिक पत्रों का प्रकाशन छुट-पुट ही हो रहा था । किन्तु इस प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि राष्ट्रवादी शक्तियाँ उभर कर सामने आने लगीं । उनकी आवाज सुनने तथा ताजे-से-ताजे समाचार प्राप्त करने की ललक जनमानस में बढ़ने लगी, जिसकी प्रेरणा से दैनिक पत्रों का प्रकाशन एक के बाद एक होने लगा, तथा उनका महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा । राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में समाचार का महत्व इतना बढ़ गया कि उसकी पूर्ति करना केवल दैनिक पत्रों द्वारा ही सम्भव हो सका । इसके पहले जनता तक समाचारों के मुख्य संवाहक साप्ताहिक पत्र थे । किंतु दैनिक पत्रों की महत्ता बढ़ने के साथ ही साप्ताहिक पत्रों का महत्व कम होता गया । जनसाधारण को अब नित्य प्रति ताजे-से-ताजा समाचार जानने की आकांक्षा थी । और हिन्दी पत्रों ने केवल इस आकांक्षा को

पूरा किया बल्कि जन भावनाओं को भी उद्घाषित किया और उसके लिए विदेशी शासन की यातनायें भी सहन की ।

सन् उन्नीस सौ तैंतीस के बाद हिन्दी पत्रकारिता पर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के उद्देश्यों और आदर्शों का कोई प्रभाव नहीं रह गया । धीरे-धीरे दैनिक पत्रों के विकास के साथ साहित्यिक पत्रों का महत्व समाप्त होता गया । गिने - चुने मासिक पत्र केवल साहित्यिक पत्र - कारिता तक सीमित हो गये और वर्तमान युग में तो साहित्यिक पत्रकारिता स्वान्त: सुखाय मात्र ही रह गयी । कतिपय साहित्यकार अथवा साहित्य कारों के गुट अपने मानसिक सुख के लिए छोटी-छोटी साहित्यिक पत्रिकायें प्रकाशित करते हैं, जिनका न कोई खरीदार होता है न पाठक वर्ग, जिन्हें केवल कुछ साहित्यकार पढ़ कर संतोष लाभ प्राप्त करते हैं । इनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय होती है कि ऐसे साहित्यिक पत्रों की अकाल मृत्यु लगभग सुनिश्चित होती है । वर्तमान युग में राजनीति साहित्य और संस्कृति पर भी इतनी हावी हो चुकी है कि जानी-मानी साहित्यिक, सांस्कृतिक, विविध विषयक पत्रिकाओं का कलेवर भी बदलकर मुख्य रूप से राजनीति, राजनीतिक खबरों के पीछे की खबरें, यहां तक कि पीत - पत्रकारिता और अफवाह जैसी सनसनीखेज राजनीतिक रपटों तक सीमित हो गया है ।

बहरहाल विसंगतियों और विडम्बनाओं के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में संचालित स्वतन्त्रता आन्दोलनों

के बीच समाज के अभिजात्य वर्ग की राजनीतिक शिक्षा के स्रोत जहाँ अँग्रेजी पत्र बने, वहीं जनसाधारण में राष्ट्रवादी राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने का कार्य हिन्दी पत्रों ने किया, और इस रूप में वे सशक्त माध्यम बने। राजनीति के साथ-साथ हिन्दी पत्रकारिता में जो दूसरी सशक्त धारा प्रवाहित हुई वह साहित्यिक थी, जिसमें राष्ट्रीयता का स्वर प्रमुख था।

यूँ तो स्वराज्य को अपना जन्म सिद्ध अधिकार घोषित किया था, बाल गंगाधर तिलक ने, किन्तु उनकी उस प्रेरक उद्घोषणा की आवाज गाँव में रहने वाले किसानों और मजदूरों तक नहीं पहुँची थी। ऐसा नहीं कि तत्कालीन समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं ने तिलक की उद्घोषणा को उचित महत्त्व नहीं दिया, किन्तु तिलक की आवाज को पत्र-पत्रिकायें ग्रामवासियों तक नहीं पहुँचा सकीं। जैसा कि आचार्य नरेन्द्र देव ने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीयता और समाजवाद" में लिखा है -"इस महान कार्य को गाँधी युग ने सम्पन्न किया।"[1] महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीयता की भावना को बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग की सीमा से बाहर निकाल कर एक क्रान्तिकारी जन-संघर्ष के रूप में प्रवाहित कर दिया।[2]

1- राष्ट्रीयता और समाजवाद, आचार्य नरेन्द्र देव, भूमिका

2- It is he who convertrd Indian Nationalism, a movement confined to intellectual middle classes, into a revolutionary mass struggle. It is he who developed its organisation and disciplines and provided it with a method of effective action."

The Foundation of New India by K.M. Pannikar, Page 180.

सन् उन्नीस सौ उन्नीस में जब रौलट एक्ट आया तो उसके विरोध में गांधी जी ने जो आंदोलन खड़ा किया वह पहली बार एक जन आन्दोलन बन गया । गांव-गांव तक आन्दोलन फैला और उस आन्दोलन के साथ कांग्रेस पार्टी की भी गांवों में पैठ हुई । किसानों से आंदोलन के संबंध में बहुत सारी बातें किसानों के ही दृष्टिकोण से कही गईं जो किसानों के मन-मस्तिष्क में घर कर गईं । इसका पूरा श्रेय वास्तविक अर्थों में महात्मा गांधी को था ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हिन्दी पत्रकारिता में जहां एक ओर साहित्य की अजस्त्र धारा प्रवाहित हो रही थी और उसके आलम्बरदार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के अपने सम्पादन के माध्यम से बने हुए थे, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीयता की प्रेरक भावना समाचार-लेखन तथा राजनीतिक टिप्पणियों की मूल धारा बनी हुई थी । वास्तविकता तो यह है कि इस काल में जिस साहित्य का सृजन हो रहा था, उसमें भी राष्ट्रीय भावना की भीनी-भीनी सुगन्ध थी । यूं तो राष्ट्रीय भावना, साहित्य और पत्रकारिता की प्रेरक पृष्ठभूमि पहले ही से बनने लगी थी, किन्तु महात्मा गांधी के राष्ट्रीय पटल पर अवतरण के बाद तो समाचार राष्ट्रीय क्रिया-कलापों का ही पर्याय बन गया । हिन्दी पत्रकारिता को सम्पूर्ण शक्ति महात्मा गांधी द्वारा समय-समय पर छेड़े गए राष्ट्रीय आन्दोलनों से ही प्राप्त होती थी । शायद इसी कारण हिन्दी पत्रों को इस कालावधि में ब्रिटिश शासन का सर्वाधिक कोप -

भाजन बनना पड़ा । 'प्रताप', 'अभ्युदय', सैनिक', 'नवशक्ति', 'कर्मवीर' और 'भविष्य' जैसे पत्र राष्ट्रीयता के नये आदर्शों की मशाल लेकर आगे बढ़ रहे थे और राष्ट्रीयता ही उनकी जीवनी-शक्ति थी । राष्ट्रीयता-वादी हिन्दी प्रेस तथा उसकी साहित्यिक रचनाओं के रचनाकार तथा समाचार-लेखक और टिप्पणीकार गांधी जी के नेतृत्व तथा उनके संघर्ष की सबसे प्रेरक थाती थे । यहाँ तक कि जब राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश बन्दीगृहों की चारदीवारी में बंद हो जाते थे, उस समय भी 'आज', 'स्वतन्त्र', 'विश्वमित्र', 'अर्जुन', जैसे अनेक दैनिक तथा साप्ताहिक पत्र तथा अवैध कहलाने वाले जाने कितने हस्तलिखित तथा साइक्लोस्टाइल पत्र स्वतन्त्रता आन्दोलन की मशाल को लगातार जलाये रखते थे और जन-जन में राष्ट्रीय भावना की दिव्य शक्ति प्रवाहित करने का अथक प्रयास करते रहते थे । स्वयं गांधी जी ने भी सन् उन्नीस सौ चौबीस में 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था, जो राष्ट्रीयतावादी पत्रकारिता को लगातार प्रेरणा देता रहता था । राष्ट्रीय नेता के रूप में गांधी जी की प्रतिष्ठा के कारण उनकी पत्रकारिता को भी अन्तर्रा-ष्ट्रीय महत्व मिला और उनके विचारों तथा आदर्शों ने समाचारों और टिप्पणियों को ही नहीं बल्कि साहित्य को भी प्रभावित किया । हिन्दी पत्रकारिता, समाचार-लेखन तथा साहित्य सृजन को इस काल में एक नई पहचान मिली । समाचार - लेखन , साहित्य सृजन तथा सम्पादन में

क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए ।

गाँधी जी ने अपनी राजनीति को आध्यात्मिक स्वरूप दिया, जो विश्व राजनीति के लिए उनकी बहुत बड़ी देन है । उनका यह आध्यात्मिक स्पर्श उस काल की पत्रकारिता और साहित्य-लेखन में भी स्पष्ट दिखाई देता है । जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक "मेरी कहानी" में लिखा है कि "राजनीति को आध्यात्मिकता के संकीर्ण धार्मिक मानों में नहीं - साँचे में ढालना मुझे एक उम्दा ख्याल मालुम हुआ । निःसंदेह एक उच्च ध्येय को पाने के लिए साधन भी वैसे ही उच्च होने चाहिए । यह एक अच्छी नीति, सिद्धान्त ही नहीं बल्कि निर्भ्रान्त व्यवहारिक राजनीत भी थी । क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते थे अक्सर हमारे उद्देश्य को ही विफल बना देते हैं और नई समस्यायें तथा नई दिक्कतें पैदा कर देते हैं ।"[1]

लुई फिशर ने गाँधी जी के सम्बन्ध में लिखा था - " उनकी पैगम्बर जैसी दृष्टि थी और उन्होंने महसूस किया था कि युद्धों से राष्ट्रों के बीच की खाई अधिक चौड़ी होगी और उनके बीच समझदारी घटेगी । तथा इस प्रकार अधिक युद्धों और अधिक घृणा के लिए रास्ता तैयार होगा और अन्ततः मानवता बर्बरता तक पहुँच जायेगी । यह विश्व शांति के लिए गाँधी जी की देन है ।"[2]

1- जवाहरलाल नेहरू, 'मेरी कहानी', पृ0 80

2- लुई फिशर - साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 5 अक्टूबर 1953.

गाँधी जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ मानव माँगल्य की भी चिन्ता की थी, जिसकी झलक उस काल की पत्रकारिता और साहित्य-लेखन में निःसन्देह मिलती है । के० एम० पणिक्कर ने कहा है कि - "गाँधी जी अपने युग के ऐसे नेता थे जिनका देश की समग्र चेतना पर प्रभाव था । राजनीत के साथ ही शिक्षा और साहित्य पर भी उनका गहरा प्रभाव पड़ा ।"[1]

"पुराने संस्कारों के प्रति विद्रोह और नवीन संस्कारों के बीजा - रोपण का यह समय था ।"[2] इस रूप संदर्भ में यदि छायावादी काव्य को भी गाँधी युग की साहित्यिक उपलब्धि कहें तो गलत नहीं होगा । मैथिली शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, 'नवीन' और सियारामशरण गुप्त जैसे कवि तथा प्रेमचन्द्र और जैनेन्द्र जैसे कथा लेखकों पर गाँधी-दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था ।

सन् उन्नीस सौ बीस की पाँच सितम्बर को वाराणसी से प्रकाशित 'आज' के पहले ही अंक में इसके सम्पादक पराड़कर जी ने लिखा था - "हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सब प्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है । हम हर बात में स्वतन्त्र होना चाहते हैं । हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ायें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें,

---

1. The Foundation of New India Panikkar

उनको ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो संकोच न हो।"[1]

गांधी युग में साहित्यिक पत्रकारिता राजनीतिक पत्रकारिता से पृथक अवश्य हुई, किन्तु उसमें भी गांधी युग की राष्ट्रीय चेतना पूर्वत: मुखर थी । 'मतवाला', 'सुधा', 'माधुरी', 'चांद', 'हंस' और 'विशाल भारत' जैसी पत्रिकायें इसी समय निकलीं । 'सरस्वती' भी वस्तुत: इसी युग की ऐसी पत्रिका कही जायेगी जिसका साहित्यिक महत्व और राष्ट्रीय स्वर महत्वपूर्ण है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि - "इस काल में हिन्दी में कुछ इतने महत्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए, जो दीर्घकाल तक याद किये जायेंगे । बुद्धिगत प्रौढ़ता के साथ-साथ चरित्रगत दृढ़ता ने इन पत्रकारों को बड़ी सफलता दी ।"[2] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेश शंकर विद्यार्थी, पराड़कर जी, अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, लक्ष्मी नारायण गरदे और बनारसी दास चतुर्वेदी इसी युग की देन थे । यही नहीं, इस काल की साहित्यिक पत्रकारिता वास्तव में हिन्दी साहित्य के लिए इतनी महत्वपूर्ण थी कि इस युग को साहित्यिक पत्रकारिता का स्वर्ण युग कहना अनुचित न होगा । साहित्यिक पत्रकारिता में भी 'सरस्वती' और उसके सम्पादक आचार्य महाबरी प्रसाद द्विवेदी ने इतनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया कि हिन्दी साहित्य की इस कालावधि को द्विवेदी युग माना जाता है ।

1- 'आज' सम्पादकीय, पराड़कर, 5 सितम्बर, 1920.

2- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0 146.

तृतीय अध्याय

द्विवेदी युग : काल-निर्धारण

- द्विवेदी युग के काल - विभाजन पर मत-मतान्तर
- उल्लेखनीय तिथियाँ

द्विवेदी युग : काल - निर्धारण

साहित्य मस्तिष्क और हृदय की ऐसी शाश्वत् चेतना से सम्बद्ध होता है, कि काल - विशेष में बंधने के बावजूद अपने पूर्वकालीन साहित्यिक युग की संवेदनशीलता से अपने को मुक्त नहीं कर पाता और अपने काल - विशेष के बाद आने वाले युग को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहता। साहित्य काल की सीमा में बंधा होने पर भी युग विशेष की सीमाओं को लांघकर युग - युगान्तरों तक संवेदनशील बना रहता है और किसी एक देशीय सीमा में आबद्ध होने पर भी उस सीमा को लांघ कर अनेक देशीय प्रभाव स्थापित किये बिना नहीं रहता। इसके बावजूद ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक युगों की कालावधि का निर्धारण आवश्यक है।

अधिकांश विद्वान द्विवेदी युग की कालावधि सन् 1900 से सन् 1920 के दो दशकों में सीमित मानते हैं। किन्तु इस काल - निर्धारण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं और उनके अपने तर्क भी हैं। अतः काल - निर्धारण के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विवेचन करना आवश्यक है।

इतिहास के सत्य को यदि स्वीकार किया जाये तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का निधन सन् 1885 ईसवी में हो गया था और इसके साथ ही सन् 1868 ईसवी से आरम्भ हुआ हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग स्थूल रूप से समाप्त हो जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को 'सरस्वती ' के सम्पादन का दायित्व सन् 1903 में सौंपा गया। ऐसी स्थिति में यदि ऐतिहासिक तिथियों के बंधन को स्वीकार किया जाये तो

द्विवेदी युग आरम्भ सन् 1903 से मानना चाहिए । और सन् 1885 से सन् 1903 की कालावधि को संक्रांति काल मान लेना चाहिए । किन्तु साहित्य के इतिहास में काल - निर्धारण करते समय इन तिथियों का कठोरता से पालन नहीं किया गया है ।

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु युगीन साहित्य में खड़ी बोली को गद्य के लिए तो स्वीकार किया गया, किन्तु काव्य के लिए उसे स्वीकार नहीं किया गया था । काव्य की भाषा ब्रज भाषा ही रही । वैसे तो भारतेन्दु के पूर्व भी महंत शीतल दास ने और 1876 में बाबू लक्ष्मी प्रसाद ने खड़ी बोली में 'भारत दुर्दशा' पर दस छन्द लिखे थे । स्वयं भारतेन्दु ने भी 'भारत-मित्र' में खड़ी बोली मे कविता लिखी थी । सन् 1884 में भवदेव ने लिखा था -

"उठो अब नींद को त्यागो , बहुत सोये हो अब जागो ।
मेरी यह बात मानो, तुम दशा भारत की जानो ।"[1]

श्रीधर पाठक का "एकान्तवासी योगी" सन् 1886 में और अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का आंदोलन' सन् 1888 में प्रकाशित हो चुकी थी । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की "काव्य मंजूषा" भी सन् 1902 में प्रकाशित हुई थी, जिसमें ब्रजभाषा ही नहीं, खड़ी बोली की भी रचनायें संग्रहीत थीं । लेकिन द्विवेदी जी की खड़ी बोली की रचनाओं का केन्द्र

1- डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल, आधुनिक काव्यधारा, पृ0 113.

बिन्दु सन् 1900 में ही पुष्ट हुआ जब 19 अक्टूबर सन् 1900 को उनकी खड़ी बोली रचना 'बलीवर्द' प्रकाशित हुई तथा उन्नीस नवम्बर सन् 1900 को 'द्रौपदी वचन वाणावली' प्रकाशित हुई । द्विवेदी जी ने जब सन् 1903 में 'सरस्वती' के सम्पादन का दायित्व ग्रहण किया, तो वे साहित्य तथा साहित्यिक पत्रकारिता के प्रशिक्षक, गुरू, मार्गदर्शक, भाषा परिष्कार, साहित्यिक संस्कार तथा अनुशासन के कठोर नियामक के विविध स्वरूपों में प्रतिष्ठित हुए । इन तथ्यों की दृष्टि से यह प्रश्न उठता है, कि द्विवेदी जी का युग हम सन् 1897 से मानें जब उन्होंने खड़ी बोली में काव्य रचना आरम्भ की थी या सन् 1903 से मानें जब उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का दायित्व ग्रहण किया या सन् 1885 से मानें जब भारतेन्दु का निधन हुआ और इसके साथ ही भारतेन्दु युग समाप्त हो गया, या सन् 1900 से मानें जो द्विवेदी जी की खड़ी बोली में रचित रचनाओं का केन्द्र बिन्दु है ?

एक प्रश्न और उठता है कि युग - प्रवर्तक अथवा युग -निर्माता जैसा प्रतिष्ठित पद किसे दिया जा सकता है या दिया जाता है । युग - निर्माता उसी साहित्यकार को कहा जा सकता है, जिसके साहित्य का युग - प्रवर्त्तक चरित्र हो, जिसके साहित्य में उसकी उत्कृष्ट विचारशीलता तप और त्याग का संदेश हो, जिसके संघर्षों का स्तर एक पूरे युग को उद्वेलित कर देने वाला हो और जिसकी उत्कृष्ट प्रेरणा से पनने साहित्य - कारों का साहित्य कालजयी बन गया हो । ऐसी महान क्षमताओं से

सम्पन्न साहित्यकार ही किसी युग का सूत्रधार बन सकता है। द्विवेदी जी इन क्षमताओं से सम्पन्न थे और उन्होंने खड़ी बोली काव्य तथा गद्य साहित्य की विभिन्न विधाओं का मार्गदर्शन किया। उन्होंने साहित्य में यदा-कदा पनपने वाली विघटनकारी प्रवृत्तियों तथा स्वरूपों का कठोर अनुशासन से निष्कासन भी किया, जिसके कारण वह पूरा काल-खण्ड द्विवेदी जी की वृहद काया से आच्छादित हो उठा। गद्य और पद्य के लिए एक ही भाषा, अर्थात खड़ी बोली के प्रयोग के लिए किये गये प्रयासों का प्रतिफल इस युग में पूरी तरह साहित्य में स्थापित हो गया। इस युग में मर्यादाओं और आदर्शों की स्थापना हुई। द्विवेदी जी के इस युग में साहित्य में और परिणामतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक मौन क्रांति हुई। पश्चिमी प्रभावों से जन-मानस को बचाने तथा आदर्श राजनीति और सामाजिक-आर्थिक विकास के उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव और देशभक्ति की प्रेरक भावनाओं के प्रवाह के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयास इस युग की साहित्यिक पत्रकारिता के माध्यम से पूरे साहित्य में आच्छादित दिखाई देता है। वास्तव में द्विवेदी युग पत्रकारिता को साहित्य से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता। यह तो साहित्यिक पत्रकारिता का युग ही था। अतः साहित्य में प्रवाहित होने वाली सभी अन्तर-धाराओं का वाहक और माध्यम पत्रकारिता को ही बनना पड़ा। इस काल के साहित्य ने लोक-मंगल, सामाजिक सुधार और तत्कालीन समस्याओं की भी उपेक्षा नहीं की, बल्कि उन्हें नये रूप में

संस्कारित करके प्रस्तुत किया । ऐसे साहित्यिक युग का द्विवेदी युग के रूप में काल - निर्धारण साहित्य के इतिहास की अनिवार्यता है ।

द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि के रूप में भारतेन्दु युग का कम महत्व नहीं है । उर्दू को प्रोत्साहन और हिन्दी की उपेक्षा की ब्रिटिश नीति को देखते हुए भारतेन्दु ने हिन्दी के लिए संघर्ष किया था । उस युग के साहित्य में सुरूचि और संस्कार है । काव्य-सृजन में नैतिकता, देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना भी है । किन्तु साथ - ही साथ उसमें राजभक्ति की एक धारा भी दृष्टिगोचर होती है, जो राष्ट्रीय चेतना और देशभक्ति के प्रतिकूल है । यही नहीं समूचा साहित्य ब्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच बंटा हुआ दिखता है । गद्य साहित्य की भाषा और खड़ी बोली और काव्य की भाषा ब्रजभाषा । यह एक ऐसी विद्रूप जैसी और अस्वाभाविक स्थिति थी, जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के कठोर निर्देशन में ही समाप्त हो सकी । भारतेन्दु युग में रीतिवादी, भक्ति - वादी और परम्परावादी काव्य-सृजन की अधिकता रही, जिसमें अतीत के गौरव का बखान, तत्कालीन दीन - हीन स्थिति पर विक्षोभ, किन्तु भविष्य के लिए मंगलकामनाएं भी दृष्टिगोचर होती हैं । साहित्य में आदर्श, निष्ठा और चारित्रिक निष्पक्षता की विशेष प्रतिष्ठा का श्रेय आदर्श महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही दिया जा सकता है । द्विवेदी युगीन साहित्य में खड़ी बोली परिष्कृत एवं परिमार्जित हुई । साहित्य के विषयों में एक नई ताजगी दृष्टिगोचर हुई । राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें

तो द्विवेदी जी के निर्देशन में साहित्य ने राजभक्ति और देशभक्ति के बीच अपने को बाँटा नहीं । द्विवेदी युग का साहित्य रंजक होने के साथ - साथ सोद्देश्य भी बना । यही नहीं, वह नये प्रयोगों की आधार भूमि भी हुआ । आर्य समाज, सनातन धर्म, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं का जन्म तो भारतेन्दु युग में ही हो गया था किन्तु उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक संवेदनाएँ द्विवेदी युग में ही स्थापित हो सकी । द्विवेदी युग के साहित्य ने पराधीनता से मुक्ति, देशभक्ति, स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता तथा अपनी भाषा के प्रति लगाव और सम्मान का संदेश दिया, जिससे भाषाई स्वाभिमान और राष्ट्रीय चेतना स्थापित हुई ।

द्विवेदी युग के काल-विभाजन पर मत-मतान्तर :-

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग का आरम्भ और समापन कब हुआ, इस संबंध में विद्वानों के अलग - अलग मत हैं । कुछ विद्वान द्विवेदी युग का आरम्भ अठ्ठारह सौ पंचानवे ईसवी से और समापन उन्नीस सौ चालीस ईसवी में मानते हैं । कुछ अन्य विद्वान द्विवेदी युग का आरम्भ सन् उन्नीस सौ, कुछ उन्नीस सौ एक में, कुछ उन्नीस सौ तीन में और कुछ तो अठारह सौ सत्तानवे से ही मानते हैं । द्विवेदी युग के समापन वर्ष के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है । अलग - अलग विद्वान उन्नीस सौ चौदह, सन् उन्नीस सौ उन्नीस, सन् उन्नीस सौ बीस, सन् उन्नीस सौ पच्चीस, सन् उन्नीस सौ तीस या सन् उन्नीस सौ चालीस तक

में द्विवेदी युग का समापन मानते हैं ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी युग का नाम तो नहीं लिया, किन्तु खड़ी बोली साहित्य के द्वितीय उत्थान का समय वे संवत् 1950 से संवत् 1975 मानते हैं, जो ईसवी सन् के अनुसार सन् 1893 से 1918 ईसवी के बीच की कालावधि है और जो वास्तव में द्विवेदी जी का ही युग है । आचार्य शुक्ल ने इस कालावधि को द्विवेदी युग भले ही नहीं कहा, किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में नई धारा की चर्चा करते हुए लिखा है कि "व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही थे । 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखा कर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया ।...... गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जायेगी तब तक बना रहेगा ।"[1]

इसी पुस्तक में अन्यत्र आचार्य शुक्ल ने लिखा है - "इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ काल में हम पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी को पद्य रचना की प्रणाली के प्रवर्त्तक के रूप में पाते हैं । ...... खड़ी बोली के पद्य विधान पर भी आपका पूरा-पूरा असर पड़ा ।"[2]

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 490.

2- वही, पृ0 610.

उपरोक्त उद्धरण से यह स्वयं सिद्ध है, कि खड़ी बोली गद्य साहित्य पर ही नही, पद्य साहित्य पर भी आचार्य द्विवेदी के प्रभाव की महत्ता को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल स्वीकार करते हैं। यद्यपि उन्होंने द्विवेदी युग का नाम नहीं लिया, किन्तु नई धारा के द्वितीय उत्थान पर द्विवेदी जी के एकछत्र प्रभाव को वे स्वीकार करते हैं। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आचार्य शुक्ल के अनुसार द्विवेदी जी का युग सन् 1893 से सन् 1918 के मध्य ही था।

आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी ने अपनी पुस्तक में आधुनिक साहित्य में नये साहित्यिक उन्मेष के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे द्विवेदी युग को सन् 1900 से 1920 की कालावधि में बाँधते हैं। वे लिखते हैं कि "संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक बीस वर्षों के साहित्य की साधारण रूप - रेखा है। एक पीढ़ी समाप्त हो रही थी और दूसरी का उदय हो रहा था। नये के आगमन का पूर्वाभास और पुराने की विदाई की विलम्बित छाया कभी-कभी कुछ वर्षों का समय घेर लेती है। इस कारण हमें नये के आगमन और पुराने के अवसान की ठीक तिथि निर्धारित करने में कठिनाई भी हो जाती है।"[1]

आचार्य बाजपेयी के इस कथन से द्विवेदी युग की तिथियों के संबंध में उहापोह और मतभेद की स्थिति का स्पष्ट आभास मिलता है। किन्तु

1- आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी - आधुनिक साहित्य, पृ0 20.

यह उहापोह संभवत: आचार्य बाजपेयी के मन में केवल द्विवेदी युग के आरम्भ की तिथि के संबंध में ही था । द्विवेदी युग के अवसान के सम्बन्ध में आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी को कोई संदेह संभवत: नहीं था । तभी तो अपने ग्रंथ 'आधुनिक साहित्य' में वे आगे लिखते हैं कि "सन् 1919 ईसवी में समाप्त होने वाला प्रथम महायुद्ध और सन् 1920 ईसवी के आस पास भारतीय राजनीति में गांधी जी का प्रवेश दो ऐसे स्मारक है जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नये साहित्यिक उन्मेष की तिथि मान लेने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है ।"[1]

आचार्य बाजपेयी के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे सन् 1920 को द्विवेदी युग के अवसान और छायावादी युग के प्रारम्भ का वर्ष मानते हैं । किन्तु एक बात विचित्र है कि श्याम सुन्दर दास और राय कृष्ण दास के नाम से छपी हुई इन्हीं आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी द्वारा लिखी गयी । 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' की प्रस्तावना में द्विवेदी युग का विस्तार सन् 1933 ईसवी तक स्वीकार किया गया है ।[2]

'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' ग्रन्थ में ही संकलित वरिष्ठ पत्रकार श्रीनाथ सिंह द्वारा 'सारंग' पत्रिका में 22 मई, 1944 को दिया गया निम्नांकित वक्तव्य भी उल्लेखनीय है - " सन् 1886 से ‖जब उन्होंने

1- आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी - आधुनिक साहित्य, पृ0 20.

2- डॉ0 उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ0 266.

प्रथम बार लेखनी चलायी थी (सन् 1938 तक (जब उन्होंने इस संसार से विदा ली (का समय द्विवेदी युग कहा जाता है ।"[1] इस प्रकार श्याम सुन्दर दास और राय कृष्ण दास के मत से द्विवेदी युग का समापन सन् 1933 में हुआ और श्रीनाथ सिंह के मतानुसार द्विवेदी युग सन् 1886 में आरम्भ होकर सन् 1938 में समाप्त हुआ ।

डॉ० दीन दयाल गुप्त ने द्विवेदी युग की कालावधि सन् 1901 से सन् 1920 ईसवी तक मानी है । उन्होंने लिखा है - " हिन्दी साहित्य क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य - सेवा का काल (1901 ईसवी - 1920 ईसवी तक (द्विवेदी युग के नाम से प्रख्यात हो गया । वह समय उस हिन्दी भाषा के विकास और उत्कर्षोन्मुखता का समय था, जो आज भारत की राष्ट्रभाषा है । भाषा और काव्य को नये पथ की ओर प्रगति के साथ चलाने वाले सारथी के रूप में द्विवेदी जी का कार्य महान है । वे वस्तुतः युगान्तकारी सूत्रधार हैं ।"[2]

डॉ० दीन दयाल गुप्त ने ही एक अन्य स्थान पर लिखा है " द्विवेदी जी का साहित्य क्षेत्र में आना हिन्दी खड़ी बोली के इतिहास में एक युगान्तर उपस्थित करने वाली घटना हुई थी । उनका आगमन मानों हिन्दी साहित्य कानन में बसंत का आगमन था । उस समय साहित्यिक जीवन में एक नवीन

1- डॉ० उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० 266.

2- डॉ० उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, उपद्घात 'आ'

स्फूर्ति आ गयी । .... हिन्दी साहित्य क्षेत्र में द्विवेदी जी का इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी साहित्य सेवा का काल (1901 - 1920) द्विवेदी युग के नाम से प्रख्यात हो गया ।"[1]

डॉ० श्रीकृष्ण लाल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' में सन् 1900 से सन् 1925 की अवधि को साहित्यिक क्रान्ति का युग या द्विवेदी युगीन अध्ययन का युग माना है । उन्होंने लिखा है - " किन्तु पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया । मुक्तकों की वनखण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads), प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical romances), प्रबन्ध काव्य, गीति काव्य और गीतों (Songs) से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा ।"[2]

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संबंध में 'साहित्य संदेश' के अप्रैल 1949 के अंक में जो उद्गार व्यक्त किये हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि वे द्विवेदी जी के निधन के वर्ष 1938 तक द्विवेदी युग का प्रसार मानते हैं । " साहित्य का सबसे बड़ा समालोचक काल है" शीर्षक के अन्तर्गत बख्शी जी ने लिखा है - "द्विवेदी जी के जाने के बाद एक युग ही समाप्त हो गया । सच तो यह है कि द्विवेदी जी स्वयं ही एक युग थे । आज का सारा आधुनिक साहित्य उन्हीं की सेवा का

1- डॉ० उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, उपद्घात पृ० अ - आ

2- डॉ० कृष्ण लाल - आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 2.

फल है । उनके व्यक्तित्व ने समग्र साहित्य पर अपना प्रभाव स्थापित किया था । मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञान-राशि को संचित कर और उसकी वर्षा कर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया । वर्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का फल है ।"[1]

डॉ० राम रतन भटनागर ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में द्विवेदी युग को सन् 1903 से 1918 के बीच सीमित किया है । सन् उन्नीस सौ तीन में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया था और सन् 1918 में उन्होंने 'सरस्वती' से अपने को मुक्त कर लिया था । डॉ० भटनागर के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'सरस्वती' के सम्पादनकाल तक ही द्विवेदी युग को सीमित मानते हैं । द्विवेदी जी के स्वयं के लेखन और उनकी रचनाशीलता को शायद भटनागर जी ने महत्व - पूर्ण नहीं माना । उन्होंने लिखा है - " इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदी युग (1903 - 1918 ईसवी) में काव्य की भाषा - शैली का बड़ा विकास हुआ ।"[2]

इस कथन के अतिरिक्त डॉ० भटनागर ने यह भी स्वीकार किया है कि द्विवेदी युग के ठीक पहले भारतेन्दु युग सन् 1850 से 1900 ई० तक था । उन्होंने कहा है - " आधुनिक हिन्दी साहित्य का सबसे पहला युग यही भारतेन्दु युग (1850 से 1900) है ।"[3]

1- साहित्य संदेश, भाग 2, अंक 8, अप्रैल 1949, पृ० 316.
2- डॉ० राम रतन भटनागर - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 330.
3- वही, पृ० 330.

डॉ0 भटनागर के इस काल - निर्धारण को यदि स्वीकार किया जाये तो भारतेन्दु युग का विस्तार भारतेन्दु के निधन के बाद भी सन् 1900 तक खिंच जाता है, जो बहुत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । किन्तु उनके कथन को मान भी लिया जाये तो सन् 1900 में भारतेन्दु युग के समापन के बाद वहीं से द्विवेदी युग का आरम्भ स्वीकार करना चाहिए । किन्तु डॉ0 भटनागर द्विवेदी युग के आरम्भ का वर्ष सन् 1903 मानते हैं । सन् 1900 से 1903 के बीच के तीन वर्षों के सम्बन्ध मे वे मौन हैं । इन तीन वर्षों को भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग की परिधि से बाहर रखना उचित नहीं प्रतीत होता ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर लिखते हुए डॉ0 राम रतन भटनागर ने डॉ0 रामचन्द्र मिश्र के उस वक्तव्य का उल्लेख किया है, जिसमें उन्होंने द्विवेदी युग का समापन सन् 1925 में माना है, यद्यपि उन्होंने इस युग के आरम्भ के वर्ष का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है । उन्होंने लिखा है - "हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् 1875 ई0 से सन् 1925 ई0 तक का समय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । इस पचास वर्ष के काल-खण्ड में भारतेन्दु और द्विवेदी जी के नाम से दो युग आते और व्यतीत होते हैं ।"[1]

डॉ0 सत्येन्द्र ने द्विवेदी युग का आरम्भ सन् 1900 से माना है । 'साहित्य संदेश' में डॉ0 सत्येन्द्र ने लिखा है कि "द्विवेदी युग सरस्वती के

1- डॉ0 राम रतन भटनागर - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ0 14.

साथ आरम्भ हुआ और उसने हिन्दी में एक वास्तविक क्रान्ति उपस्थित कर दी।"[1]

डॉ० सत्येन्द्र के इस अभिमत से स्पष्ट है कि वे द्विवेदी युग का आरम्भ उस वर्ष से नहीं मानते जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया, बल्कि वे इस युग का आरम्भ उस वर्ष से मानते हैं जब 'सरस्वती' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इससे स्पष्ट है कि डॉ० सत्येन्द्र आचार्य द्विवेदी के सम्पादकीय व्यक्तित्व से ही नहीं, उनके लेखकीय और साहित्यिक व्यक्तित्व से भी प्रभावित हैं, जो 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही उसमें प्रकाशित होने वाली द्विवेदी जी की रचनाओं से उजागर होने लगा था।

डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्यधारा' में द्विवेदी युग की चर्चा करते हुए आधुनिक काव्यधारा के नये उत्थान को सन् 1885 ई० से सन् 1940 ईस्वी तक की परिधि में बांधा है। हिन्दी की आधुनिक काव्यधारा के द्वितीय उत्थान का उल्लेख करते हुए उन्होंने द्विवेदी युग की पृष्ठभूमि की चर्चा की है, और लिखा है - "भारतेन्दु युग अथवा दूसरे शब्दों में प्राचीन आवरण में नवीन विचारों की कविता का युग समाप्त हो चला। इसके अन्तिम वर्षों में काव्य के इस प्राचीन माध्यम का स्पष्ट विरोध भी लक्षित हुआ। ..... धीरे-धीरे ब्रजभाषा का पक्ष दुर्बल पड़ता गया और

1- डॉ० सत्येन्द्र का वक्तव्य - साहित्य संदेश, भाग 2, अंक 8, 8 अप्रैल 1949, पृ० 306.

खड़ी बोली के समर्थक विजयी हुए। सन् 1900 में 'सरस्वती' (जिसका उद्देश्य खड़ी बोली का उत्थान था) के जन्म से यह विजय स्थायी हो गई। खड़ी बोली के पद्य-भाषा बन जाने से नवीन हिन्दी कविता में नूतन उत्थान का आरम्भ होता है।"[1]

डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि वे सन् 1900 में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही द्विवेदी युग का आरम्भ मानते हैं। उन्होंने इसी पुस्तक में अन्यत्र लिखा है - "इसलिए 1920 से आगे का कविता-काल वर्तमान युग कहा जा सकता है। सुभीते केलिए इसे तृतीय उत्थान भी कह सकते हैं।"[2]

डॉ० शुक्ल की इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी युग का समापन वर्ष वे सन् 1920 ईस्वी को मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कविता का वर्तमान युग 1920 में शुरू हो गया था। द्विवेदी युग का आरम्भ वे अपने पूर्व वक्तव्य में सन् 1900 से मान ही चुके हैं। इस प्रकार उनके अनुसार द्विवेदी युग सन् 1900 से 1920 के काल-खण्ड में बंधा हुआ है।

डॉ० राम सकल राय शर्मा ने अपनी पुस्तक 'द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य' में लिखा है कि - "सन् 1900 ईसवी से सन् 1920 ईसवी तक के काल को कविता के क्षेत्र में हम द्विवेदी युग मानते हैं। ....."[3]

1- डॉ० केसरी नारायण शुक्ल - आधुनिक काव्यधारा, पृ० 101.

2- वही, पृ० 202.

3- डॉ० राम सकल राय शर्मा - द्विवेदी युग का हिन्दी काव्य, पृ० 25.

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० शर्मा ने डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के मत का ही अनुमोदन किया है ।

डॉ० उदय भानु सिंह की मान्यता है कि साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पदार्पण के साथ ही हिन्दी साहित्य में अराजकता का युग समाप्त हो गया । इसका सीधा - सीधा अर्थ यह निकलता है कि द्विवेदी जी के पूर्ववर्ती काल - खण्ड को वे अराजकता का युग मानते हैं । उनका यह मत निश्चय ही विवाद का विषय है । जहाँ तक द्विवेदी युग की कालावधि का प्रश्न है, डॉ० उदय भानु सिंह ने अपनी पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में उसे सन् 1903 ईस्वी से 1925 ईस्वी के दायरे में रखा है । उन्होंने लिखा है -"संवत् 1960 में वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए । उन्होंने एक प्रभविष्णु और सफल सेनापति की भांति हिन्दी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली । यहीं से अराजकता के युग का अन्त और द्विवेदी युग का आरम्भ हुआ ।"[1]

डॉ० उदय भानु सिंह ने यह भी लिखा है कि "संवत् 1960 से संवत् 1982 तक के काल (1903 - 1925 ईस्वी) को द्विवेदी युग कहने का केवल यही कारण नहीं है कि उस युग की गद्यात्मक और पद्यात्मक रचना द्विवेदी जी की शैली पर हुई । उसका महत्तर कारण यह है कि उस युग

1- डॉ० उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, उनद्‌घात् 'अ',

की अधिकांश देन स्वयं द्विवेदी जी, उनके शिष्यों और उनसे प्रभावित साहित्यकारों से ही है ।"[1]

डॉ0 उदय भानु सिंह ने द्विवेदी युग का आरम्भ सन् 1903 में इसलिए माना, क्योंकि द्विवेदी जी ने उसी वर्ष अर्थात संवत् 1960 में 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ किया था । किन्तु डॉ0 सिंह ने इस तथ्य को उचित महत्व नहीं दिया कि द्विवेदी जी सन् 1903 के पहले ही अपने लेखन कर्म के माध्यम से हिन्दी साहित्य में अपना प्रभावशाली प्रवेश दर्ज करा चुके थे । द्विवेदी युग के समापन वर्ष के सम्बन्ध में भी डॉ0 उदय भानु का मत विवादास्पद है । सन् 1925 न तो द्विवेदी जी द्वारा 'सरस्वती' छोड़ने का वर्ष है न उनके निधन का वर्ष किन्तु खड़ी बोली हिन्दी साहित्य पर द्विवेदी जी के प्रभाव का विस्तार सन् 1925 तक अवश्य है, जब उनके ही युग प्रभाव से उभर रहे छायावादी युग का प्रभा मण्डल अपनी पहचान बनाने लगा था ।

डॉ0 सुधीन्द्र द्विवेदी युग का काल सन् 1901 से सन् 1920 तक मानने के साथही इस युग को युगान्तर काल भी मानते हैं । उन्होंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में युगान्तर' में लिखा है-"इसी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के दो दशकों की कविता का यह अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हो रही है । बीसवीं शताब्दी के ये बीस वर्ष वस्तुत: खड़ी बोली कविता के विकास के बीस वर्ष हैं- उसी खड़ी बोली के जो

1- डॉ0 उदय भानु सिंह - महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, उपद्घात 'अ'

आज हिन्दी भाषा का दूसरा नाम है ।"[1] इसी ग्रन्थ में वे यह भी लिखते हैं कि - " प्रस्तुत प्रबन्ध में मेरा प्रयत्न वर्तमान काल की हिन्दी कविता में सन् 1901 से 1920 का पुनरुत्थान आलेखित करना है । 19वीं शताब्दी की कविता की मूल धारा ब्रज भाषा में ही थी, बीसवीं शताब्दी से ही वह खड़ी बोली हो सकी और ब्रजभाषा एक उपधारा रह गयी ।"[2]

उनके इस प्रबन्ध में एक वक्तव्य विशेष उल्लेखनीय है कि - "भारतेन्दु यदि हिन्दी के आकाश के इन्दु थे तो आचार्य द्विवेदी बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के साहित्य गगन के उदयादित्य थे । भारतेन्दु मण्डल ने प्राचीन भाषा में भावकल्प के द्वारा कविता में एक परिवर्तन की सृष्टि की । परन्तु आलोच्य काल (1901 - 1920 ईस्वी) तो वस्तुतः नवीन हिन्दी (खड़ी बोली) की कविता के जन्म और विकास का काल ही है । इस नवीन हिन्दी कविता ने इस काल में शैशव और बाल्य, कौमार्य और कैशोर्य की अवस्थायें पार कीं और यौवन के सिंहद्वार पर चरण निक्षेप किया ।"[3]

डॉ० सुधीन्द्र ने ही अपने दूसरे ग्रन्थ 'हिन्दी कविता का क्रान्ति युग' में लिखा है कि - "1900 ईस्वी के जनवरी मास में नागरी प्रचारणी

1- डॉ० सुधीन्द्र - हिन्दी काव्य में युगान्तर, पृ० प्रस्ताविका 'क'

2- वही, पृ० प्रस्ताविका 'ग'

3- वही, पृ० 40.

सभा के अनुमोदन से 'सरस्वती' प्रतिष्ठित हुई और तभी से आचार्य द्विवेदी अपनी कृतियों द्वारा कवि - मन को प्रभावित करने लगे ।"[1]

इसी ग्रन्थ में डॉ0 सुधीन्द्र ने अन्यत्र लिखा है - " ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण §1900 - 1920 ईसवी § द्विवेदी काल की हिन्दी कविता द्विवेदी जी के इसी 'कवि कर्त्तव्य' की पूर्ति है ।"[2]

यह बड़ी विचित्र बात है कि डॉ0 सुधीन्द्र ने स्वयं ही अपने उपरोक्त दो ग्रन्थों में द्विवेदी काल के आरम्भ के संबंध में एक वर्ष का अन्तर कर दिया है । सन् 1946 में उनका ग्रन्थ 'हिन्दी कविता का क्रान्ति युग' प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने द्विवेदी काल का आरम्भ सन् 1900 से माना । अपने दूसरे ग्रन्थ 'हिन्दी कविता में युगान्तर' में उन्होंने नवीन हिन्दी कविता के विकास का समय तो सन् 1900 से 1920 माना, किन्तु प्रस्ताविक 'ग' में उन्होंने यह युग सन् 1901 से सन् 1920 निरूपित किया ।

डॉ0 सुधीन्द्र ने ही 'हिन्दी कविता में युगान्तर' के अन्त में द्विवेदी युग के समय की उल्लेखनीय कृतियों और महत्वपूर्ण घटनाओं की तालिका प्रस्तुत की है । साथ ही उन्होंने यह टिप्पणी भी की है - " बुद्धचरित § शुक्ल § चुभते चौपदे § हरिऔध § आदि कुछ काव्यों का प्रकाशन पीछे होते हुए भी उनका रचना काल प्रायः द्विवेदी काल ही है ।"[3] उनके इस

1- डॉ0 सुधीन्द्र - हिन्दी कविता का क्रान्ति युग, पृ0 64.
2- डॉ0 सुधीन्द्र - हिन्दी कविता का क्रान्ति युग, पृ0 69.
3- डॉ0 सुधीन्द्र - हिन्दी कविता में युगान्तर, ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित द्विवेदी कालक्रम ।

वक्तव्य से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि द्विवेदी युग का उन्होंने जो काल-निर्धारण किया है, उस पर वे दृढ़ नहीं हैं और उस काल-खण्ड की सीमा के बाहर की कृतियों को भी द्विवेदी युग की ही कृतियाँ मानते हैं। उनका यह संशयात्मक वक्तव्य निश्चय ही विचारणीय है।

डॉ० गंगानाथ झा ने "आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का विकास" शीर्षक अपने निबन्ध में कहा है कि "1900 ईसवी से 1920 ईसवी तक हिन्दी का द्विवेदी युग है।"[1]

डॉ० भोलानाथ भी सन् 1900 से 1920 के काल - खण्ड को ही द्विवेदी युग का नाम देते हैं।[2]

डॉ० शैल कुमारी का भी यही मत है कि सन् 1900 से 1920 की कालावधि को ही द्विवेदी युग कहा जाना चाहिए। हिन्दी कविता में नारी भावना पर लिखते हुए उन्होंने द्विवेदी युग के सम्बन्ध में यह वक्तव्य दिया है।[3]

कालावधि सम्बन्धी इस वक्तव्य से मतैक्य रखने वाले विद्वानों में डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी भी हैं, जिन्होंने साहित्य के इतिहास पर रचित अपने ग्रन्थ में द्विवेदी युग का काल-निर्धारण 1900 से 1920 ही किया है।[4]

1- डॉ० गंगानाथ झा - आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का विकास (आलोचना के काव्यालोचन विशेषांक में प्रकाशित), पृ० 259.

2- आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि - 1900-1950, पृ० 82.

3- डॉ० शैल कुमारी - आधुनिक हिन्दी कविता में नारी भावना, पृ० 43.

4- डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 334.

एक अन्य विद्वान ओंकार नाथ शर्मा भी द्विवेदी युग के इसी काल - निर्धारण का समर्थन करते हैं । हिन्दी निबन्ध साहित्य की चर्चा करते हुए उन्होंने द्विवेदी युग को उसी समयावधि में बांधा है ।[1]

डॉ० शितिकंठ मिश्र खड़ी बोली के इस द्विवेदी युग को एक आन्दोलन के रूप में स्वीकार करते हैं । वे द्विवेदी युग का आरम्भ तो सन् 1900 से ही मानते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि में इस युग का समापन सन् 1925 ईसवी में हुआ ।[2]

द्विवेदी युग के प्रमुख कवि 'मैथलीशरण गुप्त और उनके साहित्य' पर लिखते हुए दान बहादुर पाठक ने द्विवेदी युग का आरम्भ तो सन् 1900 में माना, किन्तु समापन सन् 1920 - 23 निरूपित करते हैं । इससे स्पष्ट है कि वे द्विवेदी युग के समापन वर्ष के सम्बन्ध में निश्चित मत व्यक्त करने में संभवतः अपने को असमर्थ पाते हैं ।[3]

डॉ० सत्यकाम वर्मा द्विवेदी युग का आरम्भ सन् 1901 में और समापन सन् 1918 में मानते हैं । समापन का वर्ष तो उन्होंने वही लिया जब द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक पद से मुक्त हुए । किन्तु युग के आरम्भ का वर्ष सन् 1901 मानना भ्रामक प्रतीत होता है । यह वर्ष न

1- ओंकारनाथ शर्मा - हिन्दी निबन्ध का विकास, पृ० 137 तथा 177.

2- डॉ० शितिकंठ मिश्र,- खड़ी बोली का आन्दोलन, पृ० 268.

3- दान बहादुर पाठक - मैथलीशरण गुप्त और उनका साहित्य, पृ० 22.

तो सरस्वती का प्रकाशन आरम्भ होने का वर्ष था न द्विवेदी जी द्वारा पत्रिका के सम्पादन का भार ग्रहण करने का वर्ष ।

डॉ0 रवीन्द्र कुमार ने द्विवेदी युग के प्रारम्भ और समापन के जो वर्ष दिये हैं, वे तो और अधिक भ्रामक हैं । उन्होंने युग के आरम्भ का वर्ष 1901 माना है जिसे स्वीकार करने में हम पहले ही आपत्ति प्रकट कर चुके हैं । उन्होंने समापन का वर्ष सन् 1913 दिया है । यह मान्यता किसी भी दृष्टि से मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इस वर्ष ऐसी कोई घटना हिन्दी साहित्य में नहीं घटित हुई, जिसके आधार पर द्विवेदी युग के समापन का वर्ष सन् 1913 माना जा सके ।[1]

एक अन्य विद्वान फूल चन्द्र जैन सारंग द्विवेदी युग का आरम्भ सन् 1893 मानते हैं । इन्होंने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्थापित साहित्य के द्वितीय उत्थान के आरम्भ के वर्ष को ही द्विवेदी युग के आरम्भ का वर्ष माना है । किन्तु द्विवेदी युग के समापन वर्ष के सम्बन्ध में संभवत: वे आचार्य शुक्ल से भिन्न मत रखते हैं । आचार्य शुक्ल ने साहित्य के द्वितीय उत्थान का काल 1893 से 1918 ईसवी माना था जो इनकी दृष्टि में द्विवेदी युग भी माना जा सकता है । किन्तु सारंग जी द्विवेदी जी के युग का आरम्भ तो 1893 मानते हैं लेकिन समापन सन् 1925 में मानते हैं ।

1- डॉ0 रवीन्द्र भ्रमर - हिन्दी के आधुनिक कवि, 'दो शब्द', पृ0 4.

डॉ0 शम्भू नाथ सिंह द्विवेदी युग का काल - निर्धारण सन् 1900 ईस्वी से सन् 1920 तक स्वीकार करते हुए लिखते हैं - "इस युग की सामान्य प्रवृत्ति सांस्कृति पुनरूथान की ओर थी । अत: इसे पुनरूत्थान युग भी कहा जा सकता है ।"[1] अपने इसी ग्रन्थ में वे आगे लिखते हैं - " इस काल में काव्य भाषा भी खड़ी बोली हो गयी ।"[2]

उल्लेखनीय तिथियाँ :-

द्विवेदी युग की काल-सीमायें खींचते समय यह आवश्यक है, कि उस युग तथा इसके आगे - पीछे की कुछ महत्वपूर्ण तिथियों पर भी दृष्टि अवश्य डाली जाये । अत: यहाँ कुछ उल्लेखनीय तिथियाँ अंकित करना आवश्यक है ।

- 5 जनवरी 1885 - भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का निधन ।
- 16 जुलाई 1893 ईस्वी - काशी नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना, जिसके अनुमोदन से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ ।
- 1897 ईस्वी - नागरी प्रचारणी पत्रिका के प्रकाशन का शुभारम्भ ।
- 18 अप्रैल 1900 - उत्तर प्रदेश के न्यायलयों में पहली बार हिन्दी को मान्यता ।
- सन् 1900 ईस्वी - हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के प्रकाशन का आरम्भ जिसके सम्पादन का भार पाँच सदस्यों वाली सम्पादन समिति पर था और

1- डॉ0 शम्भू नाथ सिंह - हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ0 173.
2- वही, पृ0 173.

उसके विद्वान सदस्य थे - कार्तिक प्रसाद खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, जगन्नाथ दास, राधाकृष्ण दास तथा श्याम सुन्दर दास ।

- सन् 1901 - 1902 - श्याम सुन्दर दास द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन ।
- सन् 1903 - आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सरस्वती के सम्पादक पद का भार ग्रहण ।
- सन् 1906 - स्वदेशी आन्दोलन का आरम्भ ।
- सन् 1907 - रायकृष्ण दास तथा बाल मुकुन्द जी जैसे हिन्दी के विशिष्ट विद्वानों का निधन ।
- सन् 1909 - 'इन्दु' पत्रिका का काशी से प्रकाशन ।
- सन् 1910 - प्रयाग से 'मर्यादा' पत्रिका का प्रकाशन ।
- अक्टूबर सन् 1910 - प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना ।
- सन् 1913 - गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को उनकी रचना 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार ।
- सन् 1914 - प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत ।
- 30 जून, सन् 1915 - पूर्ण जी का निधन ।
- सन् 1918 - सत्यनारायण कविरत्न का निधन ।
- 1 अगस्त, सन् 1920 - असहयोग आन्दोलन का आरम्भ तथा चौरी - चौरा काण्ड ।

उपरोक्त सभीमहत्वपूर्ण घटनायें द्विवेदी युग के काल खण्ड में ही घटित हुईं और द्विवेदी युग के साहित्य में इन तिथियों और इन घटनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें से कुछ घटनायें तो ऐसी भी हैं, जिनका उस युग के साहित्य पर दूरगामी प्रभाव देखने को मिलता है ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग का काल-निर्धारण करते समय कुछ महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है - उदाहरणार्थ इस बात की सुनिश्चित जानकारी होना आवश्यक है कि स्वयं द्विवेदी जी की प्रथम रचना कौन - सी थी और साथ ही उसका रचनाकाल क्या था ? द्विवेदी जी की अन्तिम कृति और उसका रचना काल क्या था ? साथ ही इस तथ्य का विश्लेषण भी आवश्यक है कि द्विवेदी जी ने जिस साहित्यिक धारा का सूत्रपात किया, उसका स्वरूप क्या था और वह अपनी पूर्ववर्ती साहित्यिक धारा से कितनी भिन्न थी । द्विवेदी जी द्वारा प्रतिष्ठित नई साहित्यिक शैली के आरम्भ के समय को भी भली भाँति मान लेना अनिवार्य है । इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण होगा कि द्विवेदी युगीन नई साहित्यिक धारा को साहित्य में कब और कैसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी । और सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु खड़ी बोली काव्य के विकास का है । खड़ी बोली में काव्य रचना तो भारतेन्दु युग में ही होने लगी थी । किन्तु खड़ी बोली काव्य को एक नई साहित्यिक धारा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य द्विवेदी जी ने ही किया ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी खड़ी बोली की पहली रचना सन् 1981 में 'भारत मित्र' में प्रकाशित करवाई थी । यह रचना दोहों के रूप में थी ।

बरसा सिर पर आगई, हरी हुई सब भूमि ।
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण झूमि ।।

खोल - खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच ।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच ।।[1]

इन दोहों के साथ भारतेन्दु ने एक पत्र भी छपवाया था । इस पत्र में काव्य के लिए खड़ी बोली भाषा की उपयुक्तता पर उन्होंने चर्चा करते हुए लिखा था - "प्रचलित साधु भाषा में कुछ कविता भेजी है । देखियेगा कि इसमें क्या कसर है और किस उपाय के आलम्बन करने से इस भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है । ... मेरा विचार इससे संतुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ । इस भाषा की क्रियायों में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बहुत असुविधा होती है । मैने कहीं - कहीं सौन्दर्य के हेतु दीर्घ मात्राओं को लघु करके पढ़ने की चाल रखी है । लोग विशेष इच्छा करेंगे और स्पष्ट अनुमति प्रकाश करेंगे तो मैं और लिखने का यत्न करूँगा । "[2]

भारतेन्दु यद्यपि 1881 के पूर्व भी खड़ी बोली में 'प्रेम तरंग' और 'प्रेम प्रलाप' की लावनियाँ लिखने का प्रयास कर चुके थे, किन्तु उनके उपरोक्त पत्र से ऐसा आभास मिलता है कि सन् 1881 में भी खड़ी बोली में काव्य रचना करने का उनका प्रयास असफल ही था और वे स्वयं अपनी खड़ी बोली

1- रामविलास शर्मा - भारतेन्दु युग, पृ0 169.

2- किशोरी लाल गुप्त - भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि, पृ0 336.

रचनाओं की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में आश्वस्त नहीं थे । इसके बावजूद उन्होंने सन् 1881 के बाद भी खड़ी बोली में 'मधु मुकुल', 'वर्षा विनोद' और विनय प्रेम पचासा' की रचना की । लेकिन ये सभी रचनायें ऐसे सशंकित और आधे - अधूरे मन से लिखी गयीं, कि उनमें न तो उत्कृष्ट काव्य का सौष्ठव उत्पन्न हो सका और न साहित्यिक कसाव आ सका । उनकी खड़ी बोली कविता की स्तर हीनता के रूप में उनकी निम्नांकित चार पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

कहाँ हो हे हमारे राम प्यारे ।
किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे ।।
बुढ़ापे में ये दुख भी देखना था ।
इसी के देखने को मैं बचा था ।।[1]

इसके विपरीत आचार्य द्विवेदी ने काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली की उपयुक्तता के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से आश्वस्त भाव से स्वयं काव्य रचना की और अपने युग के रचनाकारों को खड़ी बोली में उत्कृष्ट कृतियाँ लिखने को प्रेरित किया ।

द्विवेदी जी की 'बलीवर्द' शीर्षक खड़ी बोली की रचना 19 अक्टूबर 1900 ईसवी को 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई और 19 नवम्बर, सन् 1900 को उनकी खड़ी बोली की दूसरी रचना 'द्रौपदी वचन बाणावली' भी

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 596.

'सरस्वती' में प्रकाशित हुई । इन दोनों ही रचनाओं में खड़ी बोली का ओज था जिसमें यह कहीं नहीं प्रतीत होता था कि खड़ी बोली में साहित्य सृजन करने के सम्बन्ध में द्विवेदी जी को किसी तरह की कोई शंका थी । द्विवेदी जी ने भी पहले ब्रज-भाषा में ही रचनायें की थीं । बाद में उन्होंने ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली की मिली जुली भाषा में कुछ कृतियाँ प्रस्तुत कीं । किन्तु सन् 1900 आते - आते उन्होंने जब केवल खड़ी बोली में रचनायें प्रस्तुत करना आरम्भ किया तो लगा कि वे इसी भाषा में दृढ़ता पूर्वक साहित्य-सृजन के लिए पूर्ण रूप से आश्वस्त हो चुके थे । स्वयं ही नहीं, उन्होंने अपने सहयोगियों को भी खड़ी बोली में साहित्य सृजन करने के बजाय साहित्यकारों के मार्गदर्शक बन गये । 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण करने के पश्चात साहित्य सृजन के मार्ग दर्शक के रूप में उनका व्यक्तित्व इतना निखरा कि वे युग निर्माता ही हो गये । उनकी 'सरस्वती' में उनके निर्देशन में जिस किसी ने भी कार्य कर लिया, वह एक सफल साहित्यिक - पत्रकार बन गया और उनके साहित्यिक अनुशासन में बँध कर जिसने भी 'सरस्वती' में लिख लिया वह एक सफल साहित्यकार बन गया । भारतेन्दु युग प्राचीन और नवीन का संधि काल था तो द्विवेदी युग नई साहित्यिक धारा का निर्माण काल । सन् 1900 में 'सरस्वती' में द्विवेदी जी की खड़ी बोली रचनाओं का प्रकाशन हिन्दी साहित्य में एक ऐसा मोड़ था, जहाँ से द्विवेदी जी के युग का आरम्भ हो गया ।

जैसा विद्वान लेखक पूनम चन्द्र तिवारी ने लिखा है - "भारतेन्दु को भारत का शेक्सपियर और हिन्दी का जनक कहा जाता है। वे ग्रन्थ - कार थे। परन्तु द्विवेदी जी ग्रन्थकारों के भी निर्माता थे। वे हिन्दी के जान्सन थे।"[1] यही कारण है कि द्विवेदी जी की रचना धर्मिता के आरम्भ से ही एक नये युग का सूत्रपात हिन्दी साहित्य में माना जाता है।

डॉ0 रवीन्द्र सहाय वर्मा ने हिन्दी साहित्य के इस युग के इतिहास को द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' का ही इतिहास मान लिया है। वे लिखते हैं, " द्विवेदी जी के सम्पादन काल (1903 - 1920) में 'सरस्वती' स्वयं एक संस्था बन गई थी। उसने खड़ी बोली को काव्य का माध्यम बनाने के लिए इस बीच बड़े महत्व का कार्य किया। वास्तव में 20 वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास इस समय की 'सरस्वती' का ही इतिहास है।"[2]

डॉ0 वर्मा ने अगले ही पृष्ठ पर लिखा है - " आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास का दूसरा चरण 1903 में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादन भार ग्रहण करने के समय से आरम्भ होता है। 1903 के परवर्ती 15 वर्षों में हिन्दी काव्य धारा पुनः एक नई दिशा में अग्रसर हुई 2"[3] उनके इस गणित से तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे द्विवेदी युग

1- पूनम चन्द्र तिवारी - द्विवेदी युगीन काव्य, पृ0 125.

2- डॉ0 रवीन्द्र सहाय वर्मा - हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, पृ0 87.

3- वही, पृ0 86.

की कालावधि सन् 1903 से सन् 1918 तक ही मानते हैं । डॉ0 वर्मा द्वारा निर्धारित यह कालावधि भ्रम पूर्ण है और उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का शुभारम्भ 1903 में अवश्य किया था किन्तु यदि इसी को उनके युग के आरम्भ का वर्ष मान लिया जाये तो उनके युग का समापन वर्ष उनके 'सरस्वती' से मुक्त होने के वर्ष को ही माना जाना चाहिए । डॉ0 वर्मा ने सन् 1918 में ही द्विवेदी युग का समापन वर्ष कैसे मान लिया ? फिर अन्यत्र उन्होंने सन् 1920 को द्विवेदी युग का समापनवर्ष मान लिया । इससे स्पष्ट है कि उनका मन स्वयं ही द्विवेदी युग के काल-निर्धारण के सम्बन्ध में स्थिर नहीं है ।

द्विवेदी युग के काल-निर्धारण के संबंध में भ्रामक वक्तव्य तो आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी तक ने दिये । उन्होंने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक साहित्य' में कहा है - " संक्षेप में यही इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के साहित्य की साधारण रूप रेखा है ।······· परन्तु सन् 1919 में समाप्त होने वाला प्रथम महायुद्ध और सन् 1920 ईस्वी के आस-पास भारतीय राजनीति में गांधी का प्रवेश, दो ऐसे स्मारक हैं कि जिनके आधार पर इन्हीं वर्षों को नये साहित्यिक उन्मेष की तिथि मान लेने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है ।"

सन् 1933 में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' का प्रकाशन हुआ था । उस ग्रन्थ में आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी की प्रस्तावना भी प्रकाशित हुई थी,

---

1- आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी, आधुनिक साहित्य, पृ0 20.

जिसका शीर्षक था "श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी " इस प्रस्तावना में आचार्य वाजपेयी ने लिखा था - "हमारे साहित्य में अब द्विवेदी युग समाप्त हो रहा है । यद्यपि उनके नाम का जादू अब भी क्रियाशील है ।"[1] अभिनन्दन ग्रन्थ की इसी प्रस्तावना में आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी दृष्टव्य हैं - " जब यह बात सच है कि जो लोग द्विवेदी जी के सम्पर्क में आये उन्होंने उनका मन्त्र ले लिया और जिन पर द्विवेदी जी की लेखनी चल गयी वे कला की शब्दावली में द्विवेदी कलम के लेख हो गये तब क्यों न बीस वर्षों की सम्पादित 'सरस्वती द्विवेदी काल का लेबुल लगा कर रख दिया जाये ? वे ऐसे वैसे सम्पादक नहीं थे, सिद्धान्तवादी और सिद्धान्त पालक सम्पादक थे ।"[2]

इन दोनों वक्तव्यों में परस्पर मतभेद दिखायी देता है । उनके प्रथम वक्तव्य के अनुसार 1933 में द्विवेदी युग समाप्त हो रहा था, अर्थात यह सन् 1933 का वही वर्ष हुआ जब 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' प्रकाशित हुआ । उनके दूसरे वक्तव्य के अनुसार द्विवेदी युग उन बीस वर्षों तक ही सीमित था जब उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन किया । इससे यही अर्थ निकलता है कि द्विवेदी युग सन् 1903 में आरम्भ हुआ, जब उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया । आचार्य बाजपेयी के अनुसार उनके दूसरे वक्तव्य के अनुसार

1- आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी - हिन्दी साहित्य 20 वीं शताब्दी, पृ0 19.

2- वही

द्विवेदी युग 20 वर्ष चला, जो 1923 में समाप्त हो गया। अतः उनके उस वक्तव्य के अनुसार द्विवेदी युग का काल-निर्धारण सन् 1903 से 1923 होना चाहिए। उनके यह दोनों ही वक्तव्य भ्रामक हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक मौलिक रचनाकार थे। उनके साहित्य सृजन ने हिन्दी साहित्य में एक नये युग के आगमन की दस्तक दी थी। यही नहीं, उन्होंने ब्रजभाषा का पल्ला छोड़ कर खड़ी बोली हिन्दी को मांज - संवार कर साहित्य सृजन की भाषा बनाया था। यह एक ऐसा युग प्रवर्त्तक कार्य था जिसका उदाहरण विश्व साहित्य में भी मिलना कठिन है। जैसा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - " भाषा को युगानुरूप उच्छ्वासहीन, स्पष्टवादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदार बनाकर जो काम द्विवेदी जी कर गये हैं, वही उन्हें हिन्दी साहित्य में अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है।"[1] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एक साहित्यकार, रचनाकार होने की अपेक्षा साहित्यकार, रचनाकार-निर्माता अधिक थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक विकासमयी नवचेतना दी थी। वे साहित्य के ऐसे वटवृक्ष थे, जिसकी शाखों पर बैठ कर अनेक रचनाकार महत्वपूर्ण साहित्य-सर्जक बन गये।

'सरस्वती' के सम्पादन के भार से मुक्त हो जाने के साथ द्विवेदी जी का प्रभाव समाप्त नहीं हो गया। यद्यपि साहित्याकाश में निराला, प्रसाद और पंत के उदय के साथ ही हिन्दी साहित्य में छायावादी युग

1- हजारी प्रसाद द्विवेदी - द्विवेदी जी की देन, साहित्य संदेश, अप्रैल 1939 में प्रकाशित, पृ० 320.

के आगमन और युग-परिवर्तन का आभास मिलने लगा था, किन्तु द्विवेदी जी के मार्ग दर्शन में उत्पन्न हुई युग चेतना समाप्त नहीं हुई थी । मानना तो यहाँ तक पड़ेगा कि नये युग के आगमन पर भी द्विवेदी जी द्वारा उत्पन्न नयी साहित्यिक चेतना की छायायें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती थीं । अतः सरस्वती' से अलग होने की तिथि को ही द्विवेदी युग के समापन की तिथि मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता ।

हमारा मानना तो यह है कि 'सरस्वती' का सम्पादन आरम्भ करने के पूर्व ही द्विवेदी जी की खड़ी बोली रचनाओं के प्रकाशन के समय अर्थात सन् 1900 से द्विवेदी युग का आरम्भ मानना चाहिए । द्विवेदी युग का समापन भी उनके "सरस्वती " से मुक्त होने का वर्ष मानना उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि "सरस्वती" के सम्पादन से अलग हो जाने मात्र से आचार्य द्विवेदी का प्रभाव समाप्त नहीं हो गया । उनके द्वारा साहित्य में उत्पन्न नवचेतना तो बहुत आगे तक चलती ही रही और जैसा आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी ने लिखा है - उनके नाम का जादू अब भी (सन् 1933 ई० में) काम कर रहा था और उनके अनुयायी अब भी क्रियाशील थे । द्विवेदी युग के समापन के सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि द्विवेदी जी द्वारा उत्पन्न नयी साहित्यिक चेतना का जादू उनके 'सरस्वती' से अलग होने के बाद भी कम-से-कम उनके निधन वर्ष (सन् 1938) तक तो साहित्यिक पत्रकारिता, पत्र-पत्रिकाओं, रचनाकारों और साहित्य - सृजन पर बना ही रहा ।

सन् 1920 से सन् 1925 के मध्य हिन्दी साहित्य में भाषा, विषय और अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से एक नये युग का सूत्रपात होने लगता है,

जिसे हिन्दी साहित्य में छायावादी युग के नाम से जाना जाता है ।

यों तो नई-पुरानी साहित्यिक प्रवृत्तियां आगे भी देखने को मिलती हैं । आज भी हम प्रगतिवादी, छायावादी प्रवृत्तियां साहित्य में देख सकते हैं, क्योंकि प्रवृत्तियों को एक युग में नहीं बांधा जा सकता । किन्तु जिस युग में उनका सर्वाधिक प्रभाव रहता है, सीमा निर्धारण को हमें उसी काल-खण्ड तक रखना चाहिए । इसी कारण हमारा विचार है, कि द्विवेदी युग का काल सन् 1900 से 1925 तक माना जाना चाहिए ।

अध्याय चतुर्थ

साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती'

- त्रिविध आयामी विषय - चयन

साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती'

'सरस्वती' का सिद्धान्त वाक्य था - "सरस्वती श्रुति महती न हीयताम ।" अर्थात सरस्वती ऐसी श्रुति है जिसका कभी नाश नहीं होता । भरतमुनि का यह महावाक्य साहित्य के लिए भी सत्य है । वास्तविक साहित्य कभी नष्ट नहीं होता । बल्कि वह युग-युगान्तर तक साहित्य-प्रेमियों को रसानुभूति कराने की क्षमता रखता है तथा जिसके सौन्दर्य को किसी भी युग के थपेड़े नष्ट नहीं कर सकते ।

सन् 1900 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रयाग से प्रकाशित सचित्र हिन्दी मासिक पत्रिका 'सरस्वती' ने इस महावाक्य को अपने प्रथम अंक से ही अपना सिद्धान्त-वाक्य तो स्वीकार किया ही था और कार्तिक प्रसाद खत्री, पंडित किशोरी लाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथ दास, बाबू राधा कृष्ण दास तथा बाबू श्याम सुन्दर दास की सम्पादन समिति ने इस महान सिद्धान्त के अनुरूप ही 'सरस्वती' को कलेवर प्रदान करने का यत्न भी किया । किन्तु 1903 में 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण करने के बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस पत्रिका को हिन्दी साहित्य, साहित्यिक पत्रकारिता तथा सम्पादन-कला का अलम्बरदार बना दिया । उन्होंने साहित्य को नई दिशा देने, अपनी सम्पादन-कला से काट - छांट कर नये साहित्यिक हस्ताक्षरों की सृष्टि करने और सम्पादन कला को एक नई प्रतिष्ठा प्रदान करने का सराहनीय कार्य किया । वस्तुतः द्विवेदी जी महान सम्पादकाचार्य थे । सम्पादन-कला के प्रति वे इतने जागरूक थे कि 'सरस्वती' के जनवरी 1904 के अंक में उन्होंने 'सम्पादकों के

लिए स्कूल' तथा जून 1907 के अंक में 'सम्पादकीय योग्यता' पर महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखीं ।

द्विवेदी जी ने साहित्यिक सम्पादन को इतना गौरव प्रदान किया कि वे एक पूरे साहित्यिक युग के प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हो गये । किन्तु अपने देश के सम्पादकों की स्थिति से वे सम्भवतः संतुष्ट नहीं थे । यह बात अमेरिका के सर्वश्रेष्ठ सम्पादक सम्बन्धी फरवरी 1909 के अंक में प्रकाशित उनकी टिप्पणी के कुछ अंशों से स्पष्ट है । अपनी इस टिप्पणी में उन्होंने लिखा था कि ".... अमेरिका में कैसे-कैसे विद्वान, धनवान, योग्य और प्रतिभाशाली पुरुष समाचार पत्र की सम्पादकी करते हैं । और पत्र सम्पादकों का पेशा कैसा प्रतिष्ठित समझा जाता है । हमारे देश के पत्र सम्पादकों की तरह अमेरिका के सम्पादक दीन-हीन और दरिद्र नहीं हैं ।" द्विवेदी जी की इस टिप्पणी में अपने देश के सम्पादकों की हीन दशा के लिए उनकी आन्तरिक पीड़ा की स्पष्ट झलक मिलती है । अमेरिकी सम्पादक ब्रायन सम्बन्धी टिप्पणी में उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट संकेत किया था कि उनके विचार से भारत में भी सम्पादन-कला की शिक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए । उनका यह अहसास मात्र वैचारिक नहीं था । सम्पादन-कला सम्बन्धी उनके विचार इतने व्यावहारिक थे कि उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में रचनाशुद्धि का एक नया कीर्तिमान स्थापित किया । साहित्य-सृजन में जो अव्यवस्था और उच्छृं-

खलता व्याप्त थी उस पर उन्होंने अपनी सम्पादन-कला के माध्यम से अंकुश लगाया और उसे नियंत्रित किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने द्विवेदी जी की अद्भुत क्षमता पर टिप्पणी की थी कि "यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण - विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती।"[1]

राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त की रचनाएँ 'सरस्वती' में नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं। उन्होंने द्विवेदी जी की सम्पादन-कला की प्रशंसा करते हुए कहा था - "मेरी उल्टी - सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी जी का ही काम था।"[2] वास्तविकता यही है कि हिन्दी ही नहीं किसी भी भारतीय भाषा में इस समय कोई ऐसा सम्पादक विद्यमान नहीं था जो साहित्यकार पैदा कर देने की क्षमता रखता रहा हो। "जिस लेखक की पुश्त पर द्विवेदी जी का वरदहस्त रहा, वह उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता गया। द्विवेदी जी उसकी रचना को इतना संवार देते थे कि उसे देख कर लेखक सोचता रह जाता था कि मैंने इसको इतना दिव्य रूप दिया ही न था।"[3]

1- "रामचन्द्र शुक्ल विचार कोष", पृ0 137

2- "हिन्दी साहित्य कोष", भाग दो, पृ0 412

3- महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ0 9, भारत सरकार प्रकाशन विभाग, दिल्ली।

आचार्य द्विवेदी ने दूसरे रचनाकारों की कृतियों का संशोधन और परिष्कार करने में अपनी सम्पादन-कला का प्रयोग करने के पूर्व पहले तो स्वयं अपनी ही भाषा का परिष्कार किया था। द्विवेदी जी की प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा और व्याकरण सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ हुआ करती थीं। वर्तनी भी दोषपूर्ण थी। समुझा, करनेंवाला, विकान्त, दृष्टी, पूछि गई, करै, हरिणीयों, तुझे, प्राणीयों, अरोग, चातुर्यता, तरुण्यता, पहँचान, चावो, मनोर्थ, जावो, निरदई, करनैंवाला, गंडस्थल, उसें, बढता, विलंबना, यम० ए० जैसे अशुद्ध शब्द भी द्विवेदी जी की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रयुक्त हो जाते थे। 'नेत्रों की शोभा कटाक्षों ने बनी रखी', दाण छूटने ही को चाहता है', 'आघात सहन करना पड़ते है', 'हाय यह क्या ही कष्ट है' जैसे वाक्यांश भी निश्चय ही दोषपूर्ण हैं। आचार्य द्विवेदी जब सम्पादक बने, तो भाषा सम्बन्धी अपनी इन कमजोरियों को पहचाना ही नहीं, बल्कि कठोर नियंत्रण, संयम और श्रम-साधना से अपनी भाषा का पूरी तरह परिमार्जन किया। अपनी भाषा को उन्होंने व्याकरण के नियमों में कठोरता से बाँधा और उसे उत्कृष्ट साहित्यिक भाषा का स्वरूप प्रदान किया। भाषा परिष्कार तथा लिंग, वचन, कारकों और विराम-चिन्हों सम्बन्धी अराजकता के प्रति द्विवेदी जी इतने सजग थे कि वे 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली रचनाओं में भाषाई अराजकता तथा अनैतिकता को मिटा देने के साथ ही अकसर शीर्षक तथा अनुच्छेद तक परिवर्तित कर देते थे। परिणामस्वरूप रचनाकार द्वारा

भेजी हुई कृति एक नये निखार -सँवार के साथ प्रकाशित होती थी । इससे रचनाकार की प्रतिष्ठा तो स्थापित होती ही थी, उसे भविष्य में वैसे ही परिमार्जन के साथ साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी मिलती थी । वास्तव में आचार्य द्विवेदी साहित्य-सर्जकों के सर्जक थे ।

द्विवेदी जी की 'सरस्वती' के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में घोर अव्यवस्था और सम्पादक की मनमानी चलती थी । मित्रों तथा सम्बन्धियों की रचनायें अपने पत्रों में भरना तथा अपनी ही कृतियों से अकसर पूरी पत्रिका को भरना सम्पादकों की आम प्रवृति थी । उन्हें न तो पाठकों की रूचि का ध्यान था और न साहित्य-सृजन को नये आयाम देने का हौसला । "आनन्द कादम्बिनी के सम्पादक बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' तो स्वयं अपनी ही रचनाओं से अपनी पत्रिका को भर देते थे । उनकी इस प्रवृत्ति से खिन्न होकर भारतेन्दु ने प्रेमघन जी को एक तीखा पत्र भी लिखा था - "जनाब यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही इकराम फ़रमाया करते हैं, बल्कि अखबार है अखबार जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है । और यह भी जरूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हो ।"[1] द्विवेदी जी ने जब 'सरस्वती' का सम्पादन भार सम्हाला तो सबसे पहले ऐसी प्रवृत्तियों को तोड़ा । उन्होंने अनुभव किया कि 'सरस्वती' को यदि लोक-रूचि के अनुरूप ढालने के साथ ही उसे उत्कृष्ट साहित्य-सृजन का माध्यम बनाना है तो योग्य रचनाकारों की एक पूरी पंक्ति खड़ी करनी

1- प्रेम नारायण टण्डन द्विवेदी मीमांसा, पृ0 20

होगी । ऐसे रचनाकार होंगे तभी पाठकों की संख्या में भी वृद्धि होगी । आचार्य द्विवेदी ने इस सत्य को भी भली भाँति समझ लिया था कि जब तक उत्कृष्ट रचनाकार तथा प्रबुद्ध पाठकों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या नहीं बन पायेगी तब तक हिन्दी भाषा का सुधार तथा हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि सम्भव नहीं हो सकेगी ।

द्विवेदी जी ने जिस समय हिन्दी की अभिवृद्धि और समृद्धि का बीड़ा उठाया था, उस समय इस भाषा के पास कुछ गिने-चुने रचनाकार ही थे । और वे सब भी पुरानी लकीर पीटने वाले ही थे । काव्य रचना करते तो कुछ पुराने घिसे-पिटे विषयों को ही उठाते, गद्य लिखने चलते तो भी घिसे-पिटे विषयों पर पुरानी राग अलापते । भाषा, शैली और व्याकरण पर तो किसी रचनाकार का ध्यान तक न था । इस अव्यवस्था को बदलकर स्वस्थ, व्यवस्थित साहित्य-लेखन को प्रोत्साहित करना तथा वास्तविक अर्थों में सत्-साहित्य का सृजन करने वाले साहित्य - कारों की एक नई पंक्ति खड़ी करना सहज कार्य न था । इस कार्य में द्विवेदी जी को कड़े विरोध तथा भारी अवरोधों का सामना भी करना पड़ा । 'सरस्वती' में लकीर के फकीर साहित्यकारों की दोषपूर्ण रचनायें आतीं, तो द्विवेदी जी बिना किसी संकोच के दोषों की ओर इंगित करते हुए रचना वापस कर देते । स्वाभाविक था कि लेखकों के लिए यह बात असह्य होगी । और उन्होंने द्विवेदी जी का विरोध भी किया । लेकिन द्विवेदी जी ऐसे विरोधों से अप्रभावित अपनी स्वस्थ गति से अपने

लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे । अच्छी रचनायें न मिलतीं तो द्विवेदी जी दिन - रात अध्ययन करके विभिन्न विषयों पर स्वयं रचनायें तैयार करते और कल्पित नामों से उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करते । भाषा के नियमों तथा अक्षर विन्यास जैसे विषय पर उन्हें कुछ कहना होता तो 'नियम नारायण शर्मा' के नाम से लिखते । हिन्दी भाषा में अव्यवस्था फैलाने वालों तथा इसकी दुर्गति करने वालों पर कटाक्ष करना होता तो 'श्रीकंठ पाठक' के नाम से कुछ लिखते । समाज सुधार के लिए लेखन-धर्म के माध्यम से कुछ प्रयास करना होता तो कश्चित् 'काव्य कुन्ज' के नाम से लेखनी चलाते और पाठकों को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करने के लिए 'भुजंग भूषण भट्टाचार्य' के कल्पित नाम से कथा-साहित्य का सृजन करते । लेकिन इन सब रचनाओं के साथ स्वयं अपना नाम जोड़ने के मोह को उन्होंने सदैव बहुत दूर रखा । इसमें संदेह नहीं कि 'सरस्वती' के लिए इस प्रकार स्वस्थ लेखन करने में उन्हें दो-तीन वर्षों तक बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा । किन्तु परिश्रम से घबरा कर उन्होंने निम्न स्तर की रचनाओं को 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं किया । द्विवेदी जी ने भाषा और साहित्य तथा भाषा और व्याकरण पर भी अपने विचारों को स्पष्ट रूप से लेखों के रूप में प्रकाशित किया । इससे अपने को बड़ा साहित्यकार समझने वाले दंभी और स्वयंभू लेखकों को असंतोष अवश्य हुआ और उन्होंने 'सरस्वती' के लिए रचनायें भेजना भी बंद कर दिया, लेकिन 'सरस्वती' में प्रकाशित होने की इच्छा रखने वाले नये रचनाकारों ने अधिक सावधानी से गंभीरता पूर्वक लेखन भी

आरम्भ किया ।

साहित्य सर्जकों के सर्जक बन कर एक नये साहित्यिक युग का सूत्रपात करने की दिशा में द्विवेदी जी का यह पहला पड़ाव मात्र था । राह तो उनकी बहुत लम्बी थी । स्वयंभू लेखकों को 'सरस्वती' से पूरी तरह छाँट देने के बाद आचार्य द्विवेदी ने लेखक-निर्माण का कार्य आरम्भ किया । नई प्रतिभाओं की खोज आसान नहीं होती, किन्तु द्विवेदी जी की पैनी दृष्टि और अद्भुत सूझ-बूझ ने यह कार्य भी उनके लिए सुगम बना दिया । द्विवेदी जी ने देखा कि बहुत से ऐसे विद्वान हैं जो अच्छे रचनाकार भी बन सकते हैं, किन्तु वे लिखते ही नहीं । लिखते भी हैं तो अंग्रेजी में । उस समय के ऐसे विद्वानों को सम्भवत: हिन्दी में लिखना स्तरहीन लेखन प्रतीत होता था, जिसे वे अपमानजनक समझते थे । द्विवेदी जी ऐसे विद्वानों और उनकी अंग्रेजी में लिखी हुई रचनाओं पर पूरी दृष्टि रखते थे । वे उनकी रचनाओं को पढ़ते और उसी से यह अनुमान लगा लेते कि किस रचना का विद्वान रचनाकार हिन्दी में भी लिख सकेगा ।

भारतीय विद्वान होकर भी भारतीय भाषा में लिखने के बजाय विदेशी भाषा में लिखने वाले विद्वानों पर द्विवेदी जी ने गहरे कटाक्ष भी किये, उलाहना भी दिया, फटकार भी सुनाई और मातृभाषा में भी लिखने का उनसे आग्रह भी किया । 'सरस्वती' में प्रकाशित एक ऐसे ही कटाक्षपूर्ण लेख में द्विवेदी जी ने लिखा था - "हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई

1914 का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शंकराचार्य के तत्व-ज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई0 ई0 एस0। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वजीफा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरुप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक नही, जिनसे वसूल हुआ रुपया वज़ीफे के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँग्रेजीदाँ हजरत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, कालेज और वजीफे उन्हीं के घर के रुपये से चलते और मिलते हैं? आप लोगों को अपने घर की भी खबर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे अंडे पेलते हों वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाड़ियाँ उलटाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँग्रेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। लिखना नहीं आता तो सीखिए, अपना कर्त्तव्य पालन कीजिए।"[1]

उस समय कुछ ऐसे विद्वान भी थे, जिनमें अँग्रेजी के प्रति ऐसा प्रेम था कि वे अपने ही देशवासियों को मूर्ख और अपनी भाषा को गवाँरू

1- प्रेमनारायण टंडन, द्विवेदी मीमांसा, पृ0 33

भाषा कहने तक की धृष्टता करते थे । ऐसी बहकी हुई सोच वाले बुद्धिजीवियों के प्रति आचार्य द्विवेदी को गहरा आक्रोश था । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में एक लेख लिखा 'साहित्य की महत्ता' और अपने आक्रोश को इस प्रकार प्रकट किया ——

"जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंग्लैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के माया - जाल में फंसे रहे थे । पर बहुत समय हुआ, उन्होंने उस जाल को तोड़ डाला । अब वे अपनी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ रचना करने का विचार भी नहीं करते । बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधन है । विदेशी भाषा का कुडांत ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी विशेष सफलता नहीं हो सकती । अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँचा सकता । अपनी माँ को निःसहाय, निरूपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-सुश्रुषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं ।"[1] आचार्य द्विवेदी के मन में आक्रोश का ताप इतना अधिक था कि उन्होंने महामना पंडित मदन मोहन मालवीय तक को नहीं बख्शा । उन्होंने लिखा - " आप स्वयं हिन्दी में लिखा कीजिए

1- सरस्वती जुलाई 1907 के "साहित्य की महत्ता" लेख से उद्धृत ।

और अपने प्रभाव के अधीन सब को हिन्दी ही अपनाने की प्रवृत्ति कीजिए ।"[1] उन्होंने 'भाषा और साहित्य' शीर्षक अपने लेख में विश्व - विद्यालयों के ऐसे प्राध्यापकों को भी खरी-खोटी सुनाई जो विदेशी भाषा के मोह में अपनी मातृ भाषा की उपेक्षा कर रहे थे ।

द्विवेदी जी के इस अभियान और मातृभाषा हिन्दी के प्रति उनके समर्पण का परिणाम यह हुआ कि आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' में लिखने वाले प्रतिभाशाली लेखकों की एक पूरी पंक्ति खड़ी हो गई । उनमें से कुछ तो हिन्दी साहित्य के सिर मौर बन गये, जिनका नाम आज भी आदर पूर्वक स्मरण किया जाता है और जिनका साहित्य हिन्दी भाषा की अमर निधि है । रचनाकारों की इस गौरवशाली पंक्ति में राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राय देवी प्रसाद पूर्ण, पण्डित नाथू राम शर्मा, पंडित सत्य नारायण कविरत्न, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, स्वामी सत्य देव, ब्रज नंदन सहाय, पंडित गिरधर शर्मा,नवरत्न, डा0 महेन्द्र लाल गर्ग, पंडित गौरी दत्त बाजपेयी, शिवचंद भारतीय, पंडित सुकदेव तिवारी, मुंशी देवी प्रसाद मुंशिफ, पं0 रामचरित उपाध्याय, कुंवर हनुमन्त सिंह, पंडित सत्य नारायण कविरत्न, गिरिजा कुमार घोष जैसे रचनाकार भी सम्मिलित थे ।

1- शंकर दयाल चौऋषि - द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ0 150.

आचार्य द्विवेदी साहित्य सर्जक के लिए शैक्षिक उपाधियों अथवा डिग्रियों को आवश्यक नहीं समझते थे। वे आवश्यक समझते थे सर्जनशील प्रतिभा को और प्रतिभा कहीं भी हो, किसी के पास हो, उसकी वे उपासना करते थे। उन्होंने कई ऐसे लेखकों को भी हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया जो मूलत: अंग्रेजी भाषा के पंडित थे किंतु उनके ज्ञान का अत्यधिक विस्तार था। ऐसे विद्वानों की अनुनय-विनय करके उन्होंने हिन्दी में उनसे रचना लिखवाई। ऐसे ही एक विद्वान थे महामहोपाध्याय पंडित गंगानाथ झा, जो अंग्रेजी ही नहीं संस्कृत के भी महाविद्वान थे। स्वयं डा० झा ने लिखा है कि आचार्य द्विवेदी ने उन्हें किस प्रकार हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया - " यहाँ (इलाहाबाद में) जब मैं म्योर सेन्ट्रल कालेज में काम करता था, एक दिन पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी अपनी लाठिया टेकते हुए बंगले पर आये। यथोचित आदर सम्मान के बाद उन्होंने मुझसे कहा - झा जी, आप 'सरस्वती' में लेख क्यों नहीं लिखते? मैंने कहा - "पंडित जी, मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। संस्कृत और अंग्रेजी में तो मुझे लिखने का अभ्यास है। लेकिन हिंदी में तो मैं कदाचित् लिख ही नहीं सकता। मैं घबराता हूँ कि हिंदी में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ हो जाएंगी।" द्विवेदी जी इसे गंभीर मौन के साथ सुनते रहे फिर बोले - "आप लिखिए तो। आप पंडित हैं। आप जो लिखेंगे वह अच्छा ही होगा। अच्छा तो आप लेख भेज रहे हैं न? यह कह कर द्विवेदी जी वहाँ से चले गये।

"इसके पश्चात् साहस करके मैंने 'सरस्वती' में एक लेख भेजा । और महीने के अंत में मेरे पास 'सरस्वती' आ पहुँची । मैंने जब ध्यान पूर्वक उस लेख को पढ़ा तब मुझे विदित हुआ कि यद्यपि भाव सब मेरे ही हैं किंतु भाषा में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है ।"[1]

रचनाकारों को हिन्दी की ओर आकृष्ट करने के द्विवेदी जी के तरीके बड़े अनोखे थे । संत निहाल सिंह अंग्रेजी में रचनायें लिखा करते थे और अंग्रेजी लेखक - पत्रकार के रूप में उन्होंने प्रसिद्धि भी प्राप्त कर ली थी । चीन, जापान और अमेरिका जैसे अनेक देशों का भ्रमण करके संत निहाल सिंह ने अपने ज्ञान की जो अभिवृद्धि की थी उसे अपने लेखों में प्रस्तुत करके उन्होंने पाठकों की बड़ी प्रशंसा भी प्राप्त की थी । उनकी रचनायें अकसर "मार्डन रिव्यू" में प्रकाशित होती रहती थीं । द्विवेदी जी ने भी उन रचनाओं को पढ़ा और प्रभावित हुए । उन्होंने 'सरस्वती' में संत निहाल सिंह का परिचय प्रकाशित किया और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी की । किंतु परिचय के अंत में उन्होंने उलाहना भी कर डाला -

"सेंट जी से एक उलाहना है । अंग्रेजी न जानने वाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने ख्याल किया है या नहीं । सबसे अधिक तो इसी की जरूरत है । यह क्या आपके अंग्रेजी लेखों से हो सकता है ? जिस योरप और अमेरिका

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा , पृ0 36

से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी - ही - अपनी मातृ-भाषाओं में लिखते हैं । फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपने देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें ? अपनी मां की बोली की - अपने देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्त्तव्य है ।"[1]

आचार्य द्विवेदी के इस उलाहने का संत निहाल सिंह पर अपेक्षित प्रभाव हुआ । उन्होंने 'सरस्वती' के लिए लिखना शुरू कर दिया । एक इंजीनियर थे राय साहब छोटे लाल 'बार्हस्पत्य' जिन्होंने ज्योतिष वेदांग पर 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में बड़े शोध पूर्ण लेख लिखे थे । द्विवेदी जी को ये लेख इतने रूचे कि उन्होंने बार्हस्पत्य जी की प्रशंसा में संस्कृत में एक पद्य लिख डाला । इस पद में द्विवेदी जी ने उन्हें आशीर्वाद भी दिया । यह पत्र 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ तो बार्हस्पत्य जी इतने आत्म विभोर और अभिभूत हुए कि उन्होंने 'सरस्वती' के लिए भी ऐसी ही शोधपूर्ण रचनायें लिखनी शुरू कर दी ।

एक सफल सम्पादक होने के नाते आचार्य द्विवेदी को अच्छी तरह अहसास था कि प्रेरणा के चंद शब्द और सौजन्यता तथा सहानुभूति - पूर्ण व्यवहार द्वारा नई प्रतिभाओं को रचनाधर्मिता में संलग्न कर देना कठिन नहीं था । उनके पास कोई भी रचनाकार पत्र भेजता या अपनी रचना प्रकाशनार्थ भेजता तो उसे आज की तरह अनन्त काल तक पत्रोत्तर

1- 'सरस्वती', फरवरी सन् 1911

की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती थी । साधारणत: द्विवेदी जी रचना प्राप्त होने के तीसरे ही दिन उसकी स्वीकृति या अस्वीकृति भेज दिया करते थे । पत्रोत्तर देने में भी वह इतने ही तत्पर रहते थे । वे रचना की अस्वीकृति भी भेजते थे, तो अपने पत्र में कुछ ऐसी पंक्तियाँ अवश्य लिख देते थे, कि रचनाकार निराश या निरुत्साहित न हो बल्कि भविष्य में भी लिखते रहने कीप्रेरणा पा सकें । लेखक बनने के उछाह से एक सज्जन ने उन्हें एक पत्र भेजा, जिसकी भाषा बेहद अटपटी थी । उन्होंने लिखा था -

"पता - बाखिदमत पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्पादक 'सरस्वती' मासिक पत्रिका बमुकाम दौलतपुर डाकखाना भोजपुर जिला रायबरेली पहुँचे ।"

लेकिन इस भाषा को भी द्विवेदी जी ने 'अच्छी 'कहते हुए उन सज्जन को प्रोत्साहित करने वाला ही पत्र भेजा -

"श्रीमान महोदय,

आपका कृपा पत्र मिला । परमानन्द हुआ । क्षमा कीजिएगा, मैं आपको हिंदी में ही पत्र लिखता हूँ । जब आप इतनी अच्छी हिंदी जानते हैं, तो हम क्यों टूटी-फूटी अँग्रेजी लिख कर उसे खराब करें । हमारे देशबंधु अँग्रेजी ऐसी क्लिष्ट भाषा को लिख कर उसके साहित्य-सागर को तो गँदला करते ही हैं, पर अपनी मातृभाषा लिखने की भी चेष्ट नहीं करते । यह दुर्भाग्य की बात है । क्या ही अच्छा हो यदि आप 'मातृ -

भाषा - विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य' या इसी तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें ।

विनयावनत

महावीर प्रसाद द्विवेदी"।

आचार्य द्विवेदी जैसे मनीषी सम्पादक की ऐसी सहृदयता भला नये - नये लेखकों को क्यों न प्रोत्साहित करती ? ऐसी अनोखी दूर - दृष्टि उनमें थी कि वे स्वयं ही यह परख लेते थे कि कौन किस विषय पर अच्छा लिख सकता है और फिर उसे वैसी ही रचना लिखने के लिए प्रेरित भी करते थे । नये-नये लेखकों और कवियों को अक्सर ही वे विषय तक सुझा देते थे । एक ऐसे ही प्रसंग की चर्चा करते हुए पंडित केशव प्रसाद मिश्र ने लिखा है -

"........ सन् 1913 के दिसम्बर में आखिर हिम्मत कर ही तो डाली । 'सुदामा' पर एक लम्बी तुकबंदी लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि अब पंच बराबर होने में बस सिर्फ एक ही महीने की देर है । 'सरस्वती' में मेरी 'कविता' निकली कि मैं लेखकों में गिना गया । "लेकिन द्विवेदी जी ने तुकबंदी लौटा दी । लिखा कि इसमें ये दोष है, इन्हें दूर करके किसी और पत्रिका में प्रकाशित करा लो । मैंने ठीक करके उसे 'मर्यादा' में भेज दिया और वह यथा समय प्रकाशित भी हो गई ।

1- प्रेमनारायण टंडन , द्विवेदी मीमांसा, पृ0 38, 39.

"हाँ द्विवेदी जी ने मुझे उसी पत्र में यह भी लिखा था कि 'वर्तमान दुर्भिक्ष' पर एक अच्छी कविता भेजो तो मैं 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दूँगा। इससे मेरा उत्साह भंग नहीं हुआ, मेरी पहली कविता के लौट आने से उसे थोड़ी-बहुत ठेस भले ही लगी हो।

"मैं रोम-रोम से माँ सरस्वती की वन्दना करने लगा। वरदे! शारदे! थोड़ी ही देर के लिए मुझ पर पसीज जा! मैं भी 'सरस्वती' का लेखक बन जाऊँ। मैंने तन-मन से दुर्भिक्ष पर कुछ पंक्तियाँ लिख डालीं। इनकी रचना में मुझे कुछ देर न लगी। फिर क्या था, तुरन्त ही द्विवेदी जी को भेज दी। उन्होंने दाद दी और मैं उनकी दीक्षा में 'सरस्वती' का लेखक बन गया। थोड़े ही दिनों में द्विवेदी जी का यह पत्र आया कि "सरदार शहर राजपूताना के एक सज्जन तुम्हारी कविता से प्रभावित होकर तुम्हें ही स्वतः दुर्भिक्ष-पीड़ित समझकर कुछ सहायता करना चाहते है। मैंने उन्हें सच्ची बात लिख दी है।"[1]

द्विवेदी जी द्वारा प्रेरित लेखकों में हिन्दी के सशक्त कथाकार विशम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' भी थे। उनके संस्मरण से यहाँ तक पता चलता है कि द्विवेदी जी जिस नये रचनाकार को प्रोत्साहन प्रदान करने की सोच लेते थे, उसे आवश्यकता पड़ने पर कतिपय पुस्तकें पढ़ने की सलाह देते थे। अक्सर तो वे अपने पास से ही पुस्तक दे दिया करते थे।

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ० 39 - 40.

कौशिक जी ने अपने संस्मरण में लिखा है -

" मैं एक बार उनके दर्शन को जूही पहुँचा । कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया -

" क्या पढ़ते हैं ? "

इस बार साहस करके कह दिया - "अधिकतर तो उपन्यास और गज़लें ही पढ़ी हैं ।"

" अच्छा ! कौन - कौन उपन्यास पढ़े हैं ? "

"मैने अंग्रेजी, हिंदी, बंगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये ।

"उपन्यास तो खूब पढ़े हैं ।"

"हाँ । और लिखने की रुचि भी कुछ इस ओर है ।"

"बड़ी अच्छी बात है । छोटी -छोटी कहनियाँ और गल्पें तो पढ़ी ही होंगी - वैसे ही लिखा कीजिए ।"

"देखिए, प्रयत्न करूँगा ।"

"द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे । कुछ क्षणों के पश्चात् बगल से पानों की डिबिया उठाकर उसमे से दो पान निकाले और मुझे दिये । इसके पश्चात् बोले - "मैं एक मिनट में आता हूँ ।" यह कह कर उठे और कमरे के अन्दर चले गये । लौटकर एक पुस्तक हाथ में लिए हुए आये । चारपाई पर बैठकर बोले - " बंगला तो आप जानते ही हैं - रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी - उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह

है । इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके मुझे दें - मैं उसे छापूँगा । लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं कलम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा ।"[1]

द्विवेदी जी अपने पाठकों को हर विषय की प्रामाणिक तथा पठनीय सामग्री प्रदान करने के लिए इतने उत्सुक रहते थे कि अलग-अलग विषयों के विद्वानों की खोज में लगे रहते थे । कोई विद्वान जब उन्हें जँच जाता तो वह लेखक न भी होता, फिर भी उससे उसके विषय पर कुछ लिखवा लेने की कला उन्हें आती थी । पंडित राम नारायण मिश्र ने अपने संस्मरण में कुछ ऐसा ही इंगित किया है -

जब मैं स्कूलों का डिप्टी हुआ तब एक बार द्विवेदी जी का मेरे पास पत्र आया कि शिक्षा-विभाग की उस वर्ष की रिपोर्ट पर एक लेख लिख दो । मैं आश्चर्य से चकित हो गया । मुझे स्वप्न में भी यह ख्याल न था कि द्विवेदी जी स्वयं मुझे 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने के लिए लिखेंगे । अस्तु मैं सोच ही रहा था कि क्या लिखूँ कि मेरे पास इंडियन प्रेस से उक्त रिपोर्ट की एक प्रति डाक-द्वारा पहुँच गई । मैं समझ गया कि द्विवेदी जी ही ने उसे भेजवाया होगा । मैंने लेख भेजा और वह छप भी गया । मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने 'सरस्वती' में लिखना शुरू कर दिया । मेरे अनुकूल विषय वे बतलाते थे और तकाजा करते रहते थे । 'कैदी बालकों के स्कूल', 'संयुक्त प्रान्त में स्त्री-शिक्षा', प्रारम्भिक

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा , पृ0 41

शिक्षा', 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और शिक्षा', 'भारतीय शासन प्रणाली', इत्यादि विषयों पर उन्हीं की प्रेरणा से समय-समय पर, मैंने लेख भेजे थे।"[1]

द्विवेदी जी जानते थे कि लेखक को प्रोत्साहित करने के लिए उसकी प्रत्येक रचना पर पुरस्कार देना भी एक कारगर तरीका है। इसी-लिए 'सरस्वती' का अंक प्रकाशित होते ही वे उस अंक के प्रत्येक लेखक या कवि को तुरन्त मनीआर्डर द्वारा पुरस्कार भिजवा दिया करते थे। आश्चर्य तो तब होता था जब किसी रचना का पूरा-का-पूरा पुनर्लेखन स्वयं करने के बाद भी वे उसके मूल रचनाकार को पुरस्कार भेज दिया करते थे। पंडित लक्ष्मीधर बाजपेयी ने द्विवेदी जी के सम्पादकीय व्यक्तित्व की इसी अद्भुत विशेषता की ओर इंगित किया है -

"मेरे बारे में द्विवेदी जी का ख्याल बंध गया कि मैं महाराष्ट्र में रहता हूं, अतः नाना फड़नवीस के संबंध में 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूं। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में अनेक पुस्तकें एकत्र कर के लेख तैयार किया। अनुभव कम था और मसाला अधिक, अतः लेख पूरे पचास पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया लौटती डाक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लिखा है या पोथा? खैर, इसे छापूंगा।

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 42

"समय पर 'सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्सुकतापूर्वक देखा कि नाना फड़नवीस का मेरा वह पचास पृष्ठ में लिखा लेख छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बाँधा हुआ कि कहीं विश्रृंखलता मालूम ही नहीं दी। इतना ही नहीं बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से 16/- का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ्ते के अन्दर ही - आप-ही-आप आ गया। मैं तो भौंचक्का रह गया कि यह कैसा महान पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है।"[1] 'सरस्वती' के लेखकों को समय-समय पर पत्र भेजकर कुछ लिखते रहने की याद दिलाना भी द्विवेदी जी का स्वाभाव था। कोई लेखक यदि समय न मिलने का बहाना करता तो वे उसे फटकार भी लगाते -

"जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना-न-मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।"[2]

द्विवेदी मीमांसा के लेखक श्री प्रेम नारायण टंडन ने लिखा है कि "माधुरी के सम्पादक पंडित रूप नारायण पाण्डेय ने स्वयं यह बताया था कि प्रति मास कविता भेजने के लिए द्विवेदी जी उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे।"[3]

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा

2- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 43

3- वही, पृ0 46

सिफारिश और जोर-दबाव लेकर आने वाले लेखकों से आचार्य द्विवेदी को अत्यधिक वितृष्णा थी । ऐसे लेखकों को वे अपने पास नहीं फटकने देना चाहते थे । लेखक बनने को उत्सुक किसी नवयुवक में यदि उन्हें प्रतिभा, लगन और अध्ययन करने की विरुचि तथा सज्जनता के साथ संकोच दिखता, तो वे गुरुवत स्नेह से उसे प्रोत्साहित करते । अक्सर तो ऐसे लेखकों की रचना को पुनर्लेखन द्वारा ऐसा रूप दे देते कि लेखक के नाम के अलावा उसके मूल रूप का कोई अंश भी उसमें न रह जाता । लेकिन ऐसे लेखकों से द्विवेदी जी यह आशा अवश्य करते थे कि भविष्य में उनकी रचनाओं में पहले जैसे दोष न रहें । इस प्रकार अपने स्नेह से उन्होंने अनेक लेखकों को कलम पकड़ना सिखाया और उन्हें श्रेष्ठ रचनाकारों की पंक्ति में खड़ा कर दिया । 'सरस्वती' को उत्कृष्ट साहित्यिक स्तर प्रदान करने की द्विवेदी जी की ललक देखकर कई विद्वानों को लगा था कि 'सरस्वती' का चलना ही कठिन है । पंडित रूद्र दत्त शर्मा ने तो कह भी डाला था कि - "हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे ? पत्रिका का चलना कठिन है ।" किन्तु द्विवेदी जी अपने आदर्श से डिगे नहीं । उन्होंने भाषा की उत्कृष्टता और हिन्दी साहित्य की स्थाई श्रीवृद्धि का आदर्श अपने समक्ष रखा और उसी की पूर्ति के लिए अपनी सम्पादन-धर्मिता को समर्पित किया । वे साहित्य सर्जकों के सर्जक बन गये । यही नहीं उन्होंने अपने युग के अन्य सम्पादकों को भी प्रभावित किया । बाबू राव विष्णु पराड़कर स्वयं एक महान सम्पादक माने जाते हैं । 'आज' के

सम्पादक के रूप में उन्होंने जो कीर्तिमान स्थापित किये उसके कारण उन्होंने पर्याप्त कीर्ति अर्जित की थी । किन्तु उन्होंने भी द्विवेदी जी से प्रेरणा प्राप्त होने की बात स्वीकार की -

"द्विवेदी जी के पोस्टकार्ड का प्रथम दर्शन मुझे सन्1908 ईसवी में हुआ था । उन दिनों मैं कलकत्ते में 'हितवार्ता' का संपादन करता था । उसके कुछ लेखों से सन्तुष्ट होकर आपने प्रथम कार्ड में मुझे केवल आशीर्वाद दिया था । बाद के कार्डों में मेरी भाषा की त्रुटियाँ दिखाई गई थी - विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की ओर मेरा ध्यान दिलाया गया था । उन दिनों मेरे सामने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का जिनकी गंभीर विद्वता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मनन वस्तुत: अपूर्व था । पर पंडित गोविन्दनारायण जी का गद्य 'कादंबरी' का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यत्न किया करता था । द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था । वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन को सत्यता का अनुभव हुआ । मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यत्न करने लगा । 'आज' के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालुम हुआ तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया । कार्यक्षेत्र से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दया दृष्टि रखने वाला आचार्य हिंदी को पुन: कब प्राप्त होगा ?"[1]

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 44-45.

पराड़कर जी का योगदान हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित करने योग्य है । उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने के साथ ही हिन्दी भाषा को उत्कृष्ट बनाने में योगदान दिया था । पराड़कर जी ने 'आज' के माध्यम से हिन्दी को अनेक ऐसे शब्द दिये जो आज भी गौरव-पूर्वक प्रयोग किये जा रहे हैं । 'मिस्टर' के स्थान पर 'श्री' तथा 'मैसर्स' के स्थान पर 'सर्वश्री' का प्रयोग उन्होंने ही आरम्भ किया था । 'राष्ट्रपति' शब्द को भी पराड़कर जी ने प्रचलित किया । 'में' तथा 'को' के प्रयोग के सिद्धान्त भी उन्होंने स्थापित किया । किन्तु ऐसे महान सम्पादकाचार्य ने भी आचार्य द्विवेदी से कुछ सीखा था और उनके आदर्शों को आगे बढ़ाया था ।

हिन्दी पत्रकारिता में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी तथा उनके 'प्रताप' का योगदान भी कम प्रेरक नहीं है । देश की स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने की प्रेरणा देने वाले इस महान सम्पादक के सम्बन्ध में पंडित बालकृष्ण शर्मा नवीन ने लिखा है -

"नवयुवकों को परखना, उन्हें आश्रय देना, उन्हें अनुप्रमाणित करना और उनके जीवन को बनाना गणेश शंकर जी की विशेष बात थी । वह अद्भुत थे । किसी प्रकार के प्रलोभन उन्हें डिगा नहीं सकते थे । 1913 से 1930 तक इस देश में कोई भी ऐसा आंदोलन नहीं हुआ जिसका प्रचार - प्रसार और आंशिक नेतृत्व गणेश शंकर विद्यार्थी ने न किया हो ।"[1] किन्तु

1- बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', "आजकल" मार्च 1955, पृ0 14 - 15.

राष्ट्रीयता के अलम्बरदार इस महान सम्पादक ने भी पत्रकारिता का प्रशिक्षण 'सरस्वती' में ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संरक्षण और निर्देशन में प्राप्त किया था। "सरस्वती' में शिक्षा, संस्कृति, रूढ़ियों से छुटकारा और सुलझे हुए नये विचारों की प्रतिष्ठा को अपना आधार बनाया ....'सरस्वती' अपने समय का दस्तावेज है।"[1] और समय के दस्तावेज के रूप में देश भर में चल रही राष्ट्रीय धारा को पुख्ता बनाने में आचार्य द्विवेदी की इस पत्रिका ने पूरा योगदान दिया था।

विविध आयामी विषय चयन :-

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की मान्यता थी कि "ज्ञान राशि के संचित कोष का नाम ही साहित्य है।"[2] उन्होंने साहित्य को कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक तक ही सीमित नहीं माना। जिस किसी भी विधा के माध्यम से ज्ञान की राशि पाठक तक पहुँचाई जा सके, वह उनकी दृष्टि में साहित्य ही था। यही कारण था कि द्विवेदी जी सोद्देश्य तथा उपयोगितावादी साहित्य के पक्षधर थे, ऐसा साहित्य जो पाठकों के लिए उपादेय हो। साहित्य वही है, जो अधिकतम पाठकों का मनोरंजन करने के साथ ही उनका अधिकतम ज्ञानवर्द्धन तथा हित भी कर सके। प्लेटो, रस्किन, टालस्टाय, हेनरी मिल और ऑस्टिन जैसे

1- स्वामी नाथ पाण्डेय - सरस्वती अपने समय का दस्तावेज, राष्ट्रीय सहारा, 5 नवम्बर, 1992 के 'उमंग' में पृ0 1 पर प्रकाशित।

2- आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - साहित्य की महत्ता, निबन्ध, निबन्ध का प्रथम वाक्य।

विद्वानों ने भी उपयोगितावादी साहित्य को ही श्रेष्ठ माना था। पाश्चात्य विचारक रस्किन की मान्यता थी कि लोकादर्श की स्थापना ही साहित्य का लक्ष्य है। टालस्टाय भावों और विचारों के व्यापक सम्प्रेषण को साहित्य का मूल लक्षण मानते थे। वास्तव में आचार्य द्विवेदी ने भी यही माना था कि साहित्यकार केवल वही नहीं है जो कविता, कहानी, उपन्यास या नाटक लिखता हो तथा उनमें केवल मानव भावनाओं की अभिव्यक्ति मात्र करता हो। उनका मानना था कि विधा कोई भी हो, साहित्यकार उसमें स्वयं अपनी, अपने समाज की, मानव मन की भावनाओं की और साथ ही विचारों की निरन्तर प्रवाहित होती, और ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से निरन्तर प्रगति करती धाराओं की अभिव्यक्ति करता है। एक साहित्यकार सम्पादक की यह विचारधारा ही उस धरातल का कार्य कर रही थी, जिस पर द्विवेदी जी ने विविध आयामी साहित्यिक पत्रकारिता की नींव रखी। इनकी सम्पादन कला के विविध आयामों ने अनेक साहित्यिक विधाओं को विस्तार दिया।

'राष्ट्रीय सहारा' समाचार पत्र के 5 नवम्बर 1992 के अंक 'उमंग' के अंतर्गत पेज 13 पर प्रकाशित अपने लेख 'सरस्वती - अपने समय का दस्तावेज' में श्री स्वामी नाथ पांडेय ने कहा है, " आचार्य महावीर प्रसाद की सरस्वती ने लेखकों - रचनाकारों का मार्ग दर्शन करने और अनेक उत्कृष्ट लेखकों को हिन्दी साहित्य जगत में प्रतिष्ठित करने के साथ ही लेखन के

विषयों का भी विस्तार किया।"[1]

यह बात इस सन्दर्भ में और भी अधिक प्रासंगिक है कि द्विवेदी युग के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय की पत्रिकाओं और पत्रों में विषयों की विविधता नहीं थी। हर पत्र में उस समय एक ही विषय की प्रधानता रहा करती थी, जो पाठक के लिए अरुचिकर होती थी, लेखक-साहित्यकार भले स्वयं पढ़- पढ़ कर आनन्द ले लें, एक -दूसरे की प्रशंसा या आलोचना कर लें। स्वयं भारतेन्दु जैसे कवि तथा साहित्यकार की पत्रिका 'कवि - वचन - सुधा' इसी मर्ज का शिकार थी। इसमें केवल प्राचीन कवियों के काव्य की धारा ही प्रवाहित हुआ करती थी। इस पत्रिका के सम्पादक को जायसी के 'पद्मावत', कबीर की साखियाँ, चन्द का 'रासो', देव का 'अष्टयाय' तथा बिहारी के दोहों जैसे प्राचीन काव्य का प्रकाशन ही श्रेयष्कर प्रतीत होता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने प्रयास से इतने उत्साहित थे कि पाक्षिक 'कवि-वचन-सुधा' को साप्ताहिक बना दिया था। उन्होंने स्वयं अपने नाम पर 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन भी किया था। समय के साथ स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ध्यान प्राचीन साहित्य से हट कर विषय की विविधता की ओर गया - शायद यही उन्हें समय की माँग भी लगी। और उन्होंने समाज तथा धर्म पर भी दृष्टिपात किया तथा अपनी पत्रिकाओं में समाज -नीति तथा धर्म-नीति पर भी साहित्य प्रकाशित करने

1- राष्ट्रीय सहारा, उमंग , 5 नवम्बर 1992, पृ0 13

लगे । यही नहीं, उनका ध्यान देश की तत्कालीन स्थितियों की ओर भी आकृष्ट हुआ । फलस्वरूप तत्कालीन राजनीति और देश की स्थितियों पर भी उन्होंने लेखादि प्रकाशित किये । उनका सिद्धान्त निम्नांकित पंक्तियों में स्वयं स्पष्ट हो जाता है -

"खल गगन सों सज्जन दुखी मानि होई, हरि पद मति हरे ।
अपधर्म छूटे स्वत्व निज भारत गहे कर-दुख वहे ।।
कुछ तजहिं मत्सर, नारि - नर सम होहि जग आनंद लहे ।
तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत - बानी सल कहे ।।"[1]

भारतेन्दु जी के पत्रिका प्रकाशन सम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण करने वाली पंक्तियों से स्पष्ट है कि उन्हें समाज-नीति, धर्म-नीति और राजनीति के प्रति समान चिन्ता थी । यही कारण था कि वे शिक्षित समाज, लकीर के फकीरों और अंग्रेज शासकों की भी स्पष्ट शब्दों में आलोचना करने लगे थे । भारतेन्दु द्वारा संचालित "कवि-वचन-सुधा" को देख कर तो यही प्रतीत होता है कि उनका उद्देश्य प्राचीन हिन्दी कवियों की रचनाओं को प्रकाशित करना था या स्वयं अपनी कविताओं को पाठकों तक पहुँचाना था । इस पत्रिका में समाचार जैसा तो कुछ था ही नहीं । गद्य था भी तो छिट पुट । किन्तु जब यह पत्रिका बाद में मासिक से पाक्षिक बनी तो विविध विषयक भी बन गयी । भारतेन्दु की "हरिश्चन्द्र पत्रिका" और "बाल - बोधिनी" में तो गद्य की ही प्रधानता थी । वास्तव में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 19

के विकास का इतिहास हिन्दी गद्य के विकास का ही इतिहास है । भारतेन्दु की 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में तो स्वयं भारतेन्दु रचित 'पाँचवे पैगम्बर', ज्वाला प्रसाद की रचना 'कालिराज की सभा', तोता राम का 'अदभुत अपूर्व स्वप्न' और कमला प्रसाद का 'रेल का विकार खेल' जैसी विविध विषयक रचनायें प्रकाशित हुईं । 'ज्ञान प्रदायनी', 'हिन्दू बान्धव' तथा 'मासिक' जैसे पत्र तो भारतेन्दु की ही पत्रिकाओं को अपना आदर्श मान कर प्रकाशित हुए । किन्तु उन्हें वैसी लोकप्रियता नहीं मिल सकी । उस समय की पत्रिकायें एक तरह से पैम्फलेट जैसी थीं, जिनमें सम्पादक अपनी रचनायें प्रकाशित करता था और अपने मन की भड़ास निकालता था । इनमें अधिकांशत: वो कवितायें ही प्रकाशित होती थीं । इक्के-दुक्के लेख या निबन्ध प्रकाशित भी होते थे तो वे अस्त-व्यस्त और तारतम्य विहीन होते थे । सम्पादकीय टिप्पणी तो लगभग होती ही नहीं थी । सभी पत्रिकायें एक जैसी होतीं, उनमें विषय की विविधता या वैभिन्य ढूँढने पर भी नहीं मिलता था । बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने अपनी पत्रिका 'आनन्द कादम्बनी' में कुछ नयापन लाने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु वे उसमें केवल अपने ही लेख भर दिया करते थे । वास्तव में यह हिन्दी गद्य साहित्य का शैशव था । पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक अपने उत्तरदायित्व को समझते ही नहीं थे । उन्हें अपनी रुचि का तो ध्यान होता था किन्तु पाठक की रुचि की ओर उन्हें विशेष ध्यान नहीं था । अत: उनकी पत्रिकायें केवल उनकी अपनी रुचि का प्रतिनिधित्व कर पातीं थीं । परिणाम

स्पष्ट था - पत्रिकायें कुछ दिन तक घाटे में निकलतीं और जब सम्पादक प्रकाशक घाटा उठा कर अपना आत्म प्रचार करने से थक जाता तो पत्रिकायें बंद हो जातीं ।

सच्चाई यही है, कि सन् 1900 में 'सरस्वती' के प्रकाशन के पूर्व हिन्दी में ऐसा कोई पत्र या पत्रिका प्रकाशित नहीं हुई, जो सही अर्थों में साहित्यिक विविधा होने का दावा कर सकती । 'सरस्वती' हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और हिन्दी गद्य-साहित्य के लिए नव-क्रान्ति का सन्देश लेकर प्रकाशित हुई । और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादन में आने पर तो उसने हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता और स्वयं हिन्दी साहित्य में एक नये युग का सूत्रपात कर दिया ।

ऐसा नहीं कि विविध विषयों पर सामग्री प्रकाशित करने की ओर इससे पहले किसी सम्पादक का ध्यान न गया हो । पंडित प्रताप नारायण मिश्र ने अपने पत्र 'ब्राह्मण' का उद्देश्य अपने पत्र में प्रकाशित 'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में स्पष्ट किया था -

" जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये । यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग़ जाल में फंसी हुई ढूंढ निकालने योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी-कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्य - पूर्ण न होके सीधी सीधी भाषा में हों । हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ ही न डाला करें,

वरंच उनके लिए तन से, धन से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।"[1] पण्डित प्रताप नारायण मिश्र के उपरोक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि उनका ध्यान साधारण पाठक की रुचि और प्रवृत्ति की ओर भी आकृष्ट हुआ था। वे अपने पत्र के माध्यम से साहित्य सेवा के साथ-साथ समाज में व्याप्त कुरीतियों पर भी आक्रमण करना चाहते थे। पण्डित बाल कृष्ण भट्ट का 'हिन्दी प्रदीप' यद्यपि साहित्यिक पत्र था, किन्तु उसमें सामाजिक विषयों के साथ-साथ राजनीति पर भी लेख प्रकाशित होते थे। उनका पत्र तीस वर्षों तक चलता रहा और उसकी साहित्यिक सेवाओं पर स्वयं बालकृष्ण भट्ट को अभिमान भी था। उन्होंने लिखा है -

"इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायें तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाएगा।"[1]

स्पष्ट है कि गम्भीर साहित्य के साथ-साथ मनोरंजक साहित्य का भी इन पत्रिकाओं में प्रकाशन आरम्भ हो गया था। किन्तु अन्य भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं में जिस प्रकार की विविध विषयक सामग्री प्रकाशित हो रही थी वह इन पत्रिकाओं में उपलब्ध नहीं थी। 'ब्राह्मण' के विषय में तो स्वयं आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में लिखा था -

---

1- प्रेम नारायण टण्डन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 21.

2- वही, पृ0 21 - 22.

"ब्राह्मण के जमाने में हिन्दी की तरफ लोगों का ध्यान नया ही नया था। इससे मासिक पुस्तकों में जैसे लेख होने चाहिए वैसे बहुत कम लेख ब्राह्मण में निकले। हमने इस पत्र के पहले तीन साल के सब अंक देख डाले, किन्तु इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान, पुरातत्व अथवा और कोई मनोरंजक पर लाभदायक विषय पर अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें प्रताप - नारायण का दोष कम था, समय का अधिक।"[1]

अंग्रेजी में जो पत्र-पत्रिकायें निकल रहीं थीं, उन पर स्वाभाविक रूप से पाश्चात्य प्रभाव था और उनमें पाश्चात्य देशों की उन्नत पत्रकारिता के अनुरूप विविध विषयक उच्च कोटि की सामग्री प्रकाशित होती थी। हिन्दी में उन विषयों तक पत्र-पत्रिकाओं को दूर-दूर तक कहीं पहुँच नहीं थी। आचार्य द्विवेदी ने इस कमी को भली - भाँति देखा परखा था। यह कमी एक साहित्यकार सम्पादक के रूप में उन्हें अखरती भी बहुत थी। अत: स्वाभाविक था, कि उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से इस अभाव की पूर्ति करने का अथक प्रयास किया। साधारण पाठकों को आकर्षित करने के लिए उन्होंने कार्टून, साहित्यिक समालोचना, अधिक से - अधिक गद्य साहित्य, नई शैली की कवितायें, कहानियाँ तथा विविध विषयक लेखों का प्रकाशन 'सरस्वती' में आरम्भ किया। खड़ी बोली कविता की तो प्रगति ही 'सरस्वती' के माध्यम से हुई। इसके साथ-साथ उन्होंने आकर्षक मुखपृष्ट, सुन्दर मुद्रण, उच्चकोटि के कागज पर ब्लाक द्वारा चित्रों की छपाई

1- 'सरस्वती', मार्च, 1906.

के माध्यम से 'सरस्वती' के बाह्य रूप-रंग को तो सँवारा ही साथ ही अन्य पत्रिकाओं को भी ऐसे प्रकाशन करने की प्रेरणा दी । द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को अपने समय की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्रिका बना दिया था । पाठकों के लिए ही नहीं साहित्य जगत में भी द्विवेदी जी की सरस्वती की प्रतिष्ठा ऐसी बन गयी कि उसमें रचना प्रकाशित होना किसी भी साहित्यकार के लिए गौरव की बात बन गयी । स्वाभाविक था कि उस समय की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुईं ।

'सरस्वती' की देखा-देखी अनेक पत्रिकायें निकलीं । किन्तु उस जैसी विविध विषयक साहित्यिक पत्रिका बना पाना शायद उस समय किसी भी संपादक के वश की बात नहीं थी । बंगाल के बँटवारे के कारण उन दिनों राजनीतिक वातावरण में बहुत तनाव था । स्वदेशी आन्दोलन का जमाना था । अतः पंडित कृष्णकांत मालवीय के सम्पादन में 'मर्यादा' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ, तो उसका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक अभियान चलाना बन गया । यह निःसन्देह महत्त्वपूर्ण प्रयास था और वह सफल भी सिद्ध हुआ । कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय ऐसी पत्रिकायें निकालने का दौर चल पड़ा था, जो मुख्यतः किसी एक विशिष्ट विषय के प्रति ही समर्पित होती थीं । काशी से जीवन शंकर याज्ञिक के संपादन में प्रकाशित 'स्वार्थ' पत्रिका अर्थशास्त्रीय विषयों के प्रति ही समर्पित थी ।

'स्त्री दर्पण' और 'गृहलक्ष्मी' पत्रिकायें निकलीं, तो वे महिलाओं और उनकी समस्याओं के प्रति ही समर्पित थीं । किन्तु यह भी सत्य है

कि इन दोनों पत्रिकाओं ने साहित्यकारों और पत्रकारों का ध्यान आकर्षित किया । परिणाम यह हुआ कि विविध विषयक पत्रिकाओं में महिलाओं के कुछ पृष्ठ प्रकाशित करना अनिवार्य-सा बन गया, जिनमें महिलाओं की रुचि और समस्याओं से सम्बन्धित सामग्री ही प्रकाशित होती थी ।

'छात्र हितकारी' पत्रिका भी 'सरस्वती' के युग की एक महत्वपूर्ण पत्रिका थी । सेन्ट्रल प्राविन्सेस से प्रकाशित एक महत्वपूर्ण पत्रिका 'प्रभा' के तो कई सम्पादक भी बदले । पहले इसका सम्पादन पंडित माखन लाल चतुर्वेदी ने किया और बाद में पंडित शिव नारायण मिश्रा ने । जब 'प्रभा' का प्रकाशन कानपुर से आरम्भ हुआ, तो इसका सम्पादन गणेश शंकर विद्यार्थी श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल तथा बालकृष्ण शर्मा ने किया । 'मर्यादा' की तरह ही 'प्रभा' भी राजनीतिक पत्रिका ही बन गयी थी । पंडित अम्बिका प्रसाद बाजपेयी द्वारा सम्पादित 'नृसिंह' एक अन्य राजनीतिक पत्रिका थी । पंडित विशम्भर नाथ शर्मा ने कहानी पत्रिका 'मनोरंजन' का प्रकाशन किया, जो पूरी तरह कथा साहित्य के प्रति ही समर्पित थी । किन्तु विविध विषयक सर्वोत्तम पत्रिका 'सरस्वती' ही बनी रही । कोई भी पत्रिका विषयों की विविधता और साहित्यिक श्रेष्ठता की दृष्टि से उसकी प्रति-द्वन्दी तब तक नहीं बन सकी जब तक सन् 1923 में माधुरी' का प्रकाशन आरम्भ नहीं हुआ ।

'सरस्वती' के प्रकाशन वर्ष सन् 1900 ई0 में ही एक पत्र 'सुदर्शन' काशी से प्रकाशित हुआ था जिसके सम्पादक पंडित माधव प्रसाद मिश्र थे। इस पत्र ने 'सचित्र मासिक पत्र' होने का दावा अवश्य किया था, लेकिन एक-रंगी मुख पृष्ठ तथा भारत महामण्डल, विशुद्धानंद तथा उनके गुरू और अयोध्या जैसे तीर्थ स्थलों के चित्रों के अतिरिक्त उसमें कोई चित्र नहीं हुआ करते थे। इस पत्रिका को विविध विषयक बनाने का प्रयास तो अवश्य किया गया था, किन्तु विषयों के चुनाव में न तो संतुलन था और न विविधता। इसमें जीवनी, लेखों, धर्म, दर्शन पर निबन्ध तथा धार्मिक उपदेशों की भरमार होती थी। यह पत्रिका अपने लेखकों की लम्बी पंक्ति भी नहीं खड़ी कर सकी। स्वयं सम्पादक और उनके भाई राधाकृष्ण मिश्र के अतिरिक्त इस पत्रिका में केवल तीन कवियों की रचनायें ही मुख्य रूप से प्रकाशित होती थीं। ये तीन कवि थे महाबीर प्रसाद द्विवेदी, ज्ञानी रामगुप्त तथा चन्द्र शेकर धर शर्मा। इसी तरह इसके गद्य लेखक भी तीन ही थे - सीताराम शास्त्री, सिद्धेश्वर शर्मा तथा उद्धव शास्त्री। इस पत्रिका को मुख्य रूप से धार्मिक पत्रिका कहा जा सकता है, साहित्यिक विविधा नहीं। जहाँ तक विविध विषयों और उनकी श्रेष्ठ प्रस्तुति का सम्बन्ध है, 'सुदर्शन' पत्रिका 'सरस्वती' का चरणरज भी नहीं प्राप्त कर सकी।

आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस समय 'सरस्वती' के सम्पादन का भार सम्हाला, उस समय हिन्दी पत्रकारिता कुछ ऐसे पत्रों तक ही सीमित थी जिनका हिन्दी साहित्य में विशेष महत्त्व नहीं बन सका।

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र का पत्र 'ब्राह्मण' बंद हो चुका था । 'हिन्दी प्रदीप' प्रयाग से प्रकाशित हो रहा था और 'छत्तीसगढ़ मित्र' बिलासपुर से । इनके अलावा जाति और सम्प्रदायों से सम्बन्धित कुछ ऐसे मासिक पत्र प्रकाशित हो रहे थे, जिनका कोई महत्व नहीं था । कुछ पत्र ऐसे भी थे, जो पूरी तरह काव्य साहित्य के प्रति समर्पित थे । इनमें कानपुर का 'रसिक पंच' महत्वपूर्ण था । इन काव्य पत्रिकाओं में समस्या पूर्तियाँ खूब प्रकाशित होतीं थीं । वास्तव में राजदरबारों से मुक्ति पाने के बाद कवि और कविता के लिए दो ही आश्रय बचे थे - कवि सम्मेलन या समस्या पूर्ति वाली काव्य पत्रिकायें । इस तरह हम देखते हैं कि 'सरस्वती' के पहले अथवा उसकी समकालीन पत्रिकाओं में विषयों की विविधता अथवा श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रकारिता नहीं थी । इसके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अग्रसर हो रही तत्कालीन पत्रकारिता साहित्यिक पत्रकारिता ही थी ।

साप्ताहिक पत्रिकाओं में कलकत्ते से तीन पत्र प्रकाशित हो रहे थे - 'भारत मित्र', 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'हितवार्ता' । बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार', पटना से 'बिहार बन्धु' और काशी से 'भारत जीवन' प्रकाशित हो रहे थे । पत्रकारिता की प्रगति में इन पत्रों का योगदान भी निःसन्देह सराहनीय था । उनमें जो कमी या त्रुटि थी उसे ही देख - समझकर 'सरस्वती' को सही अर्थों में विविध विषयक साहित्यिक पत्रिका बनाने के लिए अपने प्रारम्भिक सम्पादन काल में द्विवेदी जी को दो-तीन

अंक की बहुत सारी सामग्री तो स्वयं लिखनी पड़ी । कारण यह था कि विविध विषयों पर उच्चस्तरीय सामग्री उपलब्ध ही नहीं हो पा रही थी । इस श्रम से द्विवेदी जी को तभी मुक्ति मिल सकी, जब धीरे-धीरे उन्होंने 'सरस्वती' के लेखकों की एक टीम खड़ी कर ली । 'सरस्वती' के पहले या उसके समकालीन प्रकाशित हो रही पत्रिकायें वास्तव में भारतेन्दु युग के वातावरण के मोह जाल में ही फँसी हुई थीं तथा उनके लेखक भी वैसी ही वैचारिक प्रक्रिया की देन थे । अतः आपने मन-माफिक विविधा बनाने के लिए तथा साहित्य में विविधता और प्रगतिशीलता लाने के लिए द्विवेदी जी को श्रम तो करना ही था ।

द्विवेदी जी ने तत्कालीन साहित्य का बड़ी बारीकी से विवेचन किया था, जिससे उन्हें यह अहसास हो गया था कि हिन्दी साहित्य की अनेक विधाएँ अत्यधिक उपेक्षित थी । इसकी पूर्ति के लिए सन् 1903 में 'सरस्वती' के अंकों में जो 103 रचनायें प्रकाशित हुईं उनमें से सत्तर रचनाओं का द्विवेदी जी को स्वयं लेखन या पुनर्लेखन करना पड़ा । 'सरस्वती' के जनवरी 1903 के अंक में केवल एक बाहरी लेखक पंडित गिरजादत्त बाजपेयी की रचना प्रकाशित हुई । दूसरे अंक में तीन बाहरी रचनाएँ प्रकाशित हुईं और सातवें अंक में चार । द्विवेदी जी ने अपने सम्पादन में 'सरस्वती' के बारहवें अंक में सात बाहरी लेखकों की रचनायें प्रकाशित कीं । इससे यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी बड़ी मंथर गति से रचनाकारों की ऐसी पंक्ति खड़ी कर रहे थे जो हर दृष्टि से पोख्ता थी ।

आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में केवल साहित्य ही नहीं प्रकाशित किया। वे विज्ञान पर भी लेख प्रकाशित करते थे। भौगोलिक तथा ऐतिहासिक रचनायें भी लेखकों से लिखवाकर प्रकाशित करते थे और जीवन-चरित, साहित्यिक समालेवना, हास्य तथा व्यंग्य, कवितायें, कहानियाँ और कार्टून तक प्रकाशित करते थे। इसके लिए उन्होंने बंगला भाषा की पत्रिका 'प्रवासी' से भी प्रेरणा ली थी, जो उसी इंडियन प्रेस से प्रकाशित होती थी जहाँ से 'सरस्वती'। अपनी 'सरस्वती' को आदर्श पत्रिका बनाने के लिए द्विवेदी जी अँग्रेजी, मराठी और बंगला साहित्य की विशेष रूप से सहायता लिया करते थे। लेकिन उनके पाठक की रुचि और उसका परिष्कार ही द्विवेदी जी के विषय चयन में सर्वोपरि था।

सरस्वती के सम्पादन के दूसरे वर्ष में द्विवेदी जी ने आत्मा, ज्ञान और विधि-विडम्बना जैसे विषयों पर लेख प्रकाशित किये। नायिका भेद, कवि कर्त्तव्य तथा ग्रन्थकार लेखन पर साहित्यिक आलोचनायें छापीं। 'हे कविते', 'कोकिल' और 'बसंत' जैसी कविताओं को भी 'सरस्वती' में स्थान दिया। यों तो इस पत्रिका में कहानियों का प्रकाशन पहले ही आरम्भ हो गया था, किन्तु वे अनूदित कहानियाँ ही थीं। फरवरी-मार्च 1903 के संयुक्त अंक में द्विवेदी जी ने रवीन्द्र नाथ टैगोर की कहानी 'कवि दान' का अनुवाद प्रकाशित किया था। इसका अनुवाद किया तो था गिरजा कुमार घोष ने, किन्तु इसका प्रकाशन कुमुद बन्धु मित्र के कल्पित नाम से हुआ था। यही नहीं, शेक्सपियर के नाटकों के कथा के रूप में

रूपान्तर भी प्रकाशित हो चुके थे। लेकिन 'सरस्वती' में जो पहली हिन्दी कहानी प्रकाशित हुई वह थी किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती'।[1] पाठकों को पर्याप्त मनोरंजक सामग्री प्रदान करने के लिए कहानियों के प्रकाशन के अतिरिक्त द्विवेदी जी मनोरंजक श्लोक और महिला-स्तम्भ भी 'सरस्वती' में देते थे। साहित्यिक विषयों पर कार्टून पत्रिका के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशित करके द्विवेदी जी ने एक नया चलन हिन्दी पत्रकारिता में चलाया, जो पूरी तरह उनके मस्तिष्क की उपज थी और जिसका शीर्षक उन्होंने साहित्य समालोचना रखा था।

जहाँ तक कहानियों का सम्बन्ध है, वास्तव में वह हिन्दी कहानी का शैशव काल था और उस समय हिन्दी कहानी की नींव पड़ रही थी। द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने हिन्दी कहानी के विकास में पूरा योगदान दिया और उसमें उन सभी हिन्दी कहानीकारों की रचनायें प्रकाशित हुई जो हिन्दी कहानी की नींव के सशक्त पत्थर बने।

द्विवेदी जी अन्य पत्र-पत्रिकाओं की समीक्षायें भी 'सरस्वती' में प्रकाशित किया करते थे और प्रयास करते थे कि उनकी समीक्षा उस पत्र के सम्पादक तक अवश्य पहुँच जाये। उदाहरण के लिए 'सरस्वती' के अप्रैल 1903 के अंक में द्विवेदी जी ने 'कायस्थ समाचार' की समीक्षा प्रकाशित की। और प्रेस को निर्देश दिया कि उसकी ओर 'कायस्थ समाचार' के सम्पादक का ध्यान आकर्षित किया जाय। उन्होंने लिखा -

---

1- सरस्वती, अंक 1, पृ0 178 - 185

"Press, when you send Sarswati to Kayastha Samachar, kindly invite editor's attention to this note, if you think it desirable to do so."[1]

M.P. 14.4.1903

द्विवेदी जी आठ भाषाओं के विद्वान थे और उन सभी भाषाओं में उन्हें जो नवीनतम सामग्री प्राप्त होती थी उसे वे 'सरस्वती' में प्रकाशित किया करते थे। संस्कृत साहित्य, पुरातत्व, विज्ञान, इतिहास, जीवन-चरित, अध्यात्म, सम्पत्तिशास्त्र, शिक्षा, शासन - पद्धति, अनुसन्धान, यात्रा-विवरण, समाज-तत्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि सभी विषयों पर उत्कृष्ट लेख लिखवाना और उन्हें प्रकाशित कर पाठकों तक पहुँचाना ऐसा श्रम साध्य कार्य था, जिसे पहले-पहल केवल द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने करने का साहस किया। द्विवेदी जी यह भी मानते थे कि सम्पादक को अधिकांश विषयों का ज्ञान भी होना चाहिए। सम्पादक को किन-किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए, इस सम्बन्ध में बंगला की पत्रिका 'प्रवासी' में एक लेख छपा था। उस लेख पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में लिखा था -

संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए - इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्रविज्ञान, समाजतत्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्व (Criminology) अनेक नैतिक और वैषयिक व्यापारों का संख्या संबंधी शास्त्र (Statistics)

1- कला भवन, काशी में संगृहीत 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों की फाइल में प्राप्त।

पौर और जनपद वर्ग के अधिकार और कर्त्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा-पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृतांत । देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं - इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए ।"[1]

उनके इस कथन से लोग यह न समझ लें कि द्विवेदी जी के विचार से सम्पादक को सभी विषयों का मर्मज्ञ होना चाहिए । इसी कारण द्विवेदी जी ने अपनी इस टिप्पणी में आगे लिखा था -

"संपादक होने से कोई सर्वज्ञ - सब विषयों का ज्ञाता नहीं हो सकता । सब विषय तो दूर रहे, दो - चार विषयों का ज्ञान प्राप्त करना भी दु:साध्य है । अतएव यदि एक - एक संपादक एक-ही-एक विषय का चूडांत ज्ञान प्राप्त करके उसी पर लेख लिखे तो बहुत लाभ ।"[2]

आचार्य द्विवेदी स्वयं भी अनेक विषयों के तो मर्मज्ञ थे । किन्तु अन्य अनेक विषयों से उनका परिचय मात्र था । इन सभी विषयों

1- द्विवेदी मीमांसा, पृ0 25

2- वही, पृ0 26

की शुष्कता और गंभीरता को रोचक शैली में सरलतम रूप में ढाल कर साधा रण पाठक के लिए भी उन्हें रुचिकर बना देने का कार्य द्विवेदी जी की उत्कृष्ट सम्पादन-कला करती थी । ज्योतिष और वेद जैसे गहन गम्भीर विषयों पर भी द्विवेदी जी ने रोचक लेख लिखवाये । जब द्विवेदी जी सम - सामयिक विषयों पर सामग्री प्रस्तुत करते थे, तो वे तत्कालीन राष्ट्रीय मुख्य धारा के अनुरूप आदर्शवादी सुधारक के रूप में अपनी पत्रिका में दिखाई देते थे । इन रचनाओं में उनका यही लक्ष्य रहता था कि भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य और अपनी राष्ट्रीय अस्मिता को समझें और इनकी रक्षा के लिए सामने आयें । इसी उद्देश्य से वे अपने पाठकों को यह जानकारी देना भी आवश्यक समझते थे कि विश्व में कहाँ क्या हो रहा है, कहाँ उन्नति या अवनति हो रही है, कौन से देश प्रगति पथ पर अग्रसर हैं और इन सब के सन्दर्भ में अपने देश की वास्तविक स्थिति क्या है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अंग्रेजी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि अनेक भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करते रहते थे और उनमें प्रकाशित उल्लेखनीय सामग्रियों का हिन्दी अनुवाद 'सरस्वती' में प्रकाशित करते रहते थे । कभी वे विविध ज्ञान का भण्डार अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में उड़ेल देते थे, तो कभी दंत कथाओं की तात्त्विक विवेचना करके मनोरंजक सामग्री प्रदान करते थे । द्विवेदी जी अपने पाठकों की ज्ञान - वृद्धि तो करते ही थे, साथ ही उनमें ज्ञानार्जन वृत्ति उत्पन्न करने का भी प्रयास करते थे । यही कारण था कि 'सरस्वती' को हिन्दी पाठकों का पूरा सम्मान मिला और उसके अंकों की पाठक उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते थे । एक पाठक ने सरस्वती के

सम्बन्ध में लिखा था -

"उसका कलेवर उज्जवल वसन और निरलंकार था, वैसा ही उसका अंतस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था । उसके निश्चल विचार थे, स्पष्ट स्फुट भाषा थी । उसमें विद्या थी, किन्तु विद्या का प्रदर्शन न था । कठिन परिश्रम था, उपालंभ न था । संगठन था, विज्ञापन न था ।"[1]

आचार्य द्विवेदी एक प्रखर सम्पादक के नाते स्वयं अपना आत्म-मंथन और आत्म विवेचन करना भी आवश्यक समझते थे । इसी कारण दिसम्बर 1903 में वर्ष को विदा करते समय उन्होंने अपनी पत्रिका की प्रगति की समीक्षा सिंहावलोकन शीर्षक के अन्तर्गत निम्न प्रकार से की थी -

"इस संख्या के साथ 'सरस्वती' का चौथा वर्ष समाप्त होता है । इस वर्ष के आरम्भ में 'सरस्वती' के एक वर्ष से अधिक जीवित रहने की आशा बहुत कम थी, परन्तु उसके उत्साही प्रकाशकों तथा उसके प्रेमी पाठकों की कृपा से अभी इस समय उसकी अकाल मृत्यु टल-सी गई जान पड़ती है । दिसम्बर 1902 में 'सरस्वती' का जितना प्रचार था, अब उससे अधिक हो गया है ।

'सरस्वती' की सेवा से प्रसन्न होकर कई सच्चरित महानुभावों ने उसकी अर्थ-कृच्छ्रता को दूर कर देना चाहा, परन्तु 'सरस्वती' के आत्माव - लम्बी प्रकाशकों ने धन्यवाद के साथ उनकी इस उदारता को न स्वीकार करना ही उचित समझा ।

1- द्विवेदी मीमांसा, पृ0 28

'सरस्वती' हिंदी भाषा-भाषी जन समूह की पत्रिका है। सचित्र और यथा समय निकलने वाली 'सरस्वती' के समान यदि एक भी अच्छी मासिक पुस्तक हिंदी में न रहेगी, तो हिंदी बोलने वालों के लिए यह एक लज्जा की बात होगी।

इस वर्ष साहित्य-समाचार-सम्बन्धी जो चित्र प्रकाशित हुए वे पाठकों को बहुत पसन्द आये। x x x x इन चित्रों द्वारा साहित्य की सामयिक अवस्था बतलाना ही हमारा एकमात्र अभिप्राय है।"[1] किन्तु इन चित्रों पर कुछ ऐसी तीखी प्रतिक्रियायें हुई कि द्विवेदी जी को उनका प्रकाशन बंद कर देना पड़ा। उन्होंने सिंहावलोकन में आगे लिखा -

" x x प्रतिमास न प्रकाशित कर सकेंगे, जब कोई बहुत ही भाव भरा चित्र मन में आ जायगा, तभी उसे प्रकाशित करेंगे।

कामिनी - कुतूहल - विषयक दो-दो एक-एक लेख प्रतिबार देने से जगह बहुत रुकती है और दूसरे अच्छे-अच्छे लेख छपने से रह जाते हैं। इसलिए स्त्रियों के पाठोपयोगी लेख हम कभी-कभी प्रकाशित करेंगे।"[2]

उससमय विदेशी शासन से मुक्त होकर स्वतन्त्रता के स्वच्छ वातावरण में पहुँचने की जन आकांक्षा सुगबुगाहट के रूप में तीव्र होने लगी। आम जनता इस आकांक्षा के कारण ही अधिकाधिक ज्ञानार्जन चाहती थी, क्योंकि ज्ञान

1- सरस्वती, दिसंबर 1903।

2- वही।

की वृद्धि के साथ ही स्वतन्त्रता की आकांक्षा और बलवती हो जाती थी। आचार्य द्विवेदी ने इस जन आकांक्षा को बारीकी से समझा था। वे 'सरस्वती' के माध्यम से पाठकों की ज्ञानार्जन की आकांक्षा की पूर्ति करने का भरसक प्रयास करते थे। उनके इस प्रयास पर टिप्पणी करते हुए श्री प्रेम नारायण टंडन ने द्विवेदी मीमांसा में लिखा है -

"सरस्वती ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पदवीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में डिग्री वालों से कम न थे।"[1]

"द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ' में 'सरस्वती' के इस स्नातक-निर्माण - कार्य पर निम्नांकित टिप्पणी उल्लेखनीय है -

"यदि हम इस कसौटी पर 'सरस्वती' की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अंगरेजी अथवा दूसरी प्रान्तीय भाषायें न जानने वाले व्यक्ति कहाँ तक अपने - अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे - यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक 'सरस्वती' की ही सहायता से अपनी विद्या, बुद्धि और मति गति - निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे - तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को

1- द्विवेदी मीमांसा, पृ0 29

§ संभवत: कविता को छोड़ कर § किसी विषय में संकुचित होने का कुछ भी अवसर न था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'सरस्वती' अपने समय में हिंदी-जनता की विद्या-बुद्धि की मापरेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिका से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी।"[1]

द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में प्रकाशित विषयों की चर्चा करते समय इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि कहानी को साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में 'सरस्वती' ने स्वीकार किया और किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' के प्रकाशन के साथ कहानियों के प्रकाशन का द्विवेदी जी ने ऐसा सिलसिला चलाया कि प्रेमचन्द्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, कौशिक , रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद जैसे कहानीकारों की एक पूरी श्रृंखला खड़ी हो गयी। इन कहानी - कारों के बाद के भी राधिकारमण प्रसाद सिंह, गौरीचरण वर्मा, बेचन शर्मा उग्र, राजेश्वर प्रसाद सिंह, अज्ञेय, हृदयेश, विश्म्भर नाथ जिज्जा, गोविंद वल्लभ पंत, यशपाल जैसे महत्वपूर्ण कहानीकार भी वास्तव में द्विवेदी युग की ही देन माने जायेंगे,।क्योंकि इनकी नींव द्विवेदी जी के सम्पादन काल में ही पड़ चुकी थी। डॉ० नगेन्द्र की भी यही मान्यता है कि 'सरस्वती § 1900 § पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही. हिन्दी कहानी का जन्म मान्य है। ••••• कालान्तर में हिन्दी कहानी में विकसित होने वाली सभी प्रवृत्तियों का उद्भव स्रोत यहीं लक्षित होता है।"[2]

1- द्विवेदी मीमांसा , प्रेम नारायण टंडन, पृ0 29-30

2- डा0 नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 522 - 23

आचार्य द्विवेदी और 'सरस्वती' की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि हिन्दी साहित्य संकुचित दायरे को तोड़कर विस्तृत दायरे में पहुँच गया। इसके पूर्व कुछ ऐसी परम्परा थी कि केवल काव्य और उसकी पद्य-मय आलोचना को छोड़कर किसी अन्य विषय को साहित्य की परिधि के अन्तर्गत समझा ही नहीं जाता था। जबकि विकसित पाश्चात्य देशों में ऊपर उल्लिखित सभी विषय साहित्य के अंग माने जाते थे। ऐसा भी नहीं कहा सकता कि उक्त सारे विषय भारत के लिए अपरिचित रहे हों। यूनानी और चीनी यात्रियों ने इस बात की पुष्टि की है कि मौर्य तथा गुप्त सम्राटों के काल में तक्षशिला तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालयों में इनमें से अधिकांश विषयों की शिक्षा दी जाती थी। फिर भी साहित्य में उनकी मान्यता नहीं थी। आचार्य द्विवेदी ने अपनी 'सरस्वती' में इन सभी विषयों की ऐसी सामग्री प्रकाशित की कि इन विषयों को साहित्य के अंग के रूप में मान्यता मिली और साहित्यकारों को साहित्य के इन अंगों के अभाव की पूर्ति करने की प्रेरणा भी हुई। हिन्दी साहित्य को सर्वांगपूर्ण तथा विविध आयामी बनाने की जो पहल आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से की उसे सर्वत्र मान्यता भी मिली और हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं की श्रीवृद्धि की नींव भी पड़ गयी।

पंचम अध्याय

द्विवेदी युगीन पत्रकारिता में भाषा-शैली का स्वरूप - निर्धारण

- बीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी भाषा
- भाषा दुराग्रह के परिणाम
- राष्ट्रीय चेतना और जन सम्पर्क भाषा की आवश्यकता
- शैली एवं शिल्प
- वर्णनात्मक शैली
- आलोचनात्मक शैली
- प्रेरणात्मक शैली
- व्यंग्यात्मक शैली
- भावात्मक शैली
- हिन्दी साहित्य की शैलियों पर अनुवादों का प्रभाव
- सम्पादकीय शैली

द्विवेदीयुगीन पत्रकारिता में भाषा - शैली का स्वरूप-निर्धारण

द्विवेदी युग हिन्दी साहित्य को नई दिशा देने, उसमें नये आयाम जोड़ने और आधुनिक साहित्य के स्वरूप-निर्धारण के लिए जितना महत्वपूर्ण है, उसका उतना ही महत्व हिन्दी भाषा के स्वरूप-निर्धारण की दिशा में भी है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल " कह कर देश-प्रेम को भाषा-प्रेम से जोड़ा । "इस युग (द्विवेदी युग) में भी भाषा के स्वरूप, उसकी प्रकृति, भाषा और व्याकरण संबंधी खूब बहसें हुई और अंततः देश-प्रेम, भाषा - प्रेम और लिपि-प्रेम (नागरी प्रेम) एकमेव हो गया ।"[1]

भाषा के साथ-साथ हिन्दी साहित्य को एक निश्चित शैली प्रदान करने में भी द्विवेदी युग का बहुत बड़ा श्रेय है । शैली की चर्चा करते समय उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द्र का निम्नांकित कथन कम महत्वपूर्ण नहीं है -

"जहाँ व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है । शैली भीतर की आत्मा का वाहन रूप है । उस (द्विवेदी जी की) शैली में कितना संयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है । उसमें रसिकों का बाँकपन नहीं, पंडितों का गाम्भीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है ।"[2] शब्द योजना, वाक्य विन्यास तथा शब्दों - वाक्यों से निकलने वाली ध्वनियों से ही शैली का निर्माण होता है । किन्तु इसे हम किसी लेखक अथवा कवि की विचार-पद्धति और भावनाओं के उतार-चढ़ाव तथा स्वरूप का परिधान नहीं कह

1- रामबक्ष - सरस्वती में संस्कृति (सन् 1900 - 1920 ईसवी), आलोचना, त्रैमासिक जुलाई-सितम्बर, 1977, पृ0 42.

2- प्रेम नारायण टण्डन, द्विवेदी मीमांसा, पृ0 172.

सकते । इतना जरूर है कि शैली का एक विशिष्ट स्वरूप विकसित करने के लिए भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है । भाषा पर अधिकार होगा, तो शैली में भी विशिष्टता और सजीवता विकसित होगी । एक नहीं अनेक भाषाओं पर अधिकार होगा तो शैली में विशिष्टता और सजीवता के साथ-साथ रोचकता का भी विकास होगा । द्विवेदी जी की शैली में ये सभी विशेषतायें थीं । क्योंकि वे हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि अनेक भाषाओं के विद्वान थे और भावुक कवि-हृदय होने के कारण उनमें भाव प्रवणता भी थी । यह भी एक बहुत बड़ा सत्य है कि 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक पर और उसमें प्रकाशित प्रत्येक रचना पर द्विवेदी जी का व्यक्तित्व छाया हुआ था । उसके परिणाम-स्वरूप 'सरस्वती' में एक विशिष्ट शैली का प्रादुर्भाव हुआ और चूंकि उस काल के लगभग सभी महत्वपूर्ण रचनाकार 'सरस्वती' से जुड़े हुए थे, अतः द्विवेदी-युगीन पूरे रचनात्मक साहित्य में एक विशिष्ट शैली तथा उसके अनेक रूपों-स्वरूपों का विकास हुआ । इसके पूर्व के हिन्दी साहित्य में शैली के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण नहीं हो पाया था ।

इतनी बात तो अकाट्य रूप से सर्वमान्य है कि भाषा और शैली में इतना घनिष्ठ अन्तः सम्बन्ध है कि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू प्रतीत होते हैं । यही कारण था कि द्विवेदी युग के आरम्भ से ही जब साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली हिन्दी का उत्तरोत्तर विकास आरम्भ हुआ और उसका स्वरूप-निर्धारण होने लगा, तभी से हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट शैली का भी निर्माण होने लगा, जिसकी विभिन्न

रचनाकारों के विशिष्ट लेखन के साथ अनेक शाखायें-प्रशाखायें पल्लवित होती गईं । भाषा - शैली के इस विकास ने हिन्दी साहित्य में रचनाधर्मिता को नये आयाम भी दिये, और इसका श्रेय बहुत कुछ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही था ।

द्विवेदी जी भाषा की क्लिष्टता के समर्थक तो नहीं थे, किन्तु भाषा की शुद्धता के प्रति अत्यधिक सजग थे । सर्वप्रथम तो उन्होंने स्वयं अपनी ही भाषा का परिष्कार किया । उसके पश्चात उन्होंने अपने सम्पादन काल में 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले रचनाकारों की भाषा को भी परिष्कृत किया और उन्हें एक नई दिशा दी । 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली रचनाओं का सम्पादन करते समय द्विवेदी जी लिंग, वचन, और कारकों की त्रुटियों को तो सुधारते ही थे, साथ ही उपयुक्त स्थान पर कॉमा, सेमी कोलन, विराम चिन्ह आदि लगाने के प्रति भी सजग रहते थे । और-तो-और वे रचना के शीर्षक तथा अनुच्छेद तक बदल दिया करते थे । अपने पत्र में प्रकाशित होने वाली रचनाओं में इतना अधिक परिष्कार करने वाला सम्पादक उस समय और कोई न था । द्विवेदी जी ने दिग्गज लेखकों तक को भाषा का परिष्कार करने की प्रेरणा दी थी । इससे समग्र हिन्दी साहित्य का भाषाई परिष्कार तो हुआ ही, भाषा और साहित्य में व्याप्त अराजकता, अव्यवस्था और अनैतिकता भी मिटने लगी । विद्वान लेखिका माधुरी दुबे ने उचित ही कहा है कि "सरस्वती ने साहित्य को नैतिक बल दिया था ।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

1- माधुरी दुबे - हिन्दी गद्य का वैभव काल, 1966 में दिल्ली से प्रकाशित, पृ0 61.

ने राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद की उर्दू - बहुल हिन्दी तथा लक्ष्मण सिंह की संस्कृत-बहुल हिन्दी के बीच एक सरल भाषा का मार्ग अपनाया था और रचनाकारों का पथ प्रदर्शन किया था । लेकिन उनके पथ प्रदर्शन के बावजूद अनेक रचनाकार उर्दू-बहुल या संस्कृत - बहुल भाषा का मोह तोड़ नहीं पाये थे । स्वयं 'सरस्वती' में आरम्भिक काल में ऐसी भाषाओं के उदाहरण मिल जाते हैं - " अगर ऐसा न हो तो बेरहम और जबरदस्त जुबादा लोग अपनी जुबादानी की तेज तलवार से भाषा को अल्प काल ही में बे मौत मार डालें । क्योंकि वाजिद अली शाह के मकत्व के मुरीद प्रांतीय बोलियों और देहाती मोहावारों से अजहद नफरत करते हैं ।"[1] उपरोक्त भाषा में उर्दू और फारसी के इतने अधिक शब्दों का प्रयोग हुआ है कि इसे हिन्दी भाषा तो कहा ही नहीं जा सकता । इसी प्रकार 'सरस्वती' में ही प्रकाशित संस्कृत-बहुल भाषा का प्रयोग भी उल्लेखनीय है -

"इसी से आपके गुणों की खबर सुनकर हमें परमानन्द हुआ । मातृभाषे धन्यसि । ईदृशं विद्वद्‌त्वं .... ।"[2] लेकिन ये दोनों ही उदाहरण आचार्य द्विवेदी की कलम से निकले हुए प्रतीत ही नहीं होते । द्विवेदी जी ने तो इन दोनों भाषाओं के मध्य मार्ग की भाषा को अपनाया था - "इसी से किसी का ख्याल था कि यह भाषा (उर्दू) पहले ही विद्यमान थी । उसका शुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रान्त में बोला जाता है । बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह भाषा बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी फारसी के

1- 'सरस्वती', भाग - 7, संख्या - 2, पृ० 66 ।

2- 'सरस्वती', भाग - 7, संख्या - 2, पृ० 81 ।

शब्द मिलाने शुरू कर दिये ।"[1] इन पंक्तियों मे उर्दू के शब्द हैं तो अवश्य, किन्तु वे इतने सामान्य हैं कि द्विवेदी जी इन शब्दों को हिन्दी के ही शब्द मानते थे । इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी की बड़ी स्पष्ट मान्यता थी कि - "अपढ़ देहातियों की बोली में नहीं, किन्तु हिन्दी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में अरबी-फारसी के शब्द आते हैं । ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझने चाहिए । वे अब हिन्दुस्तानी हो गये हैं और उन्हें छोटे बच्चे तथा स्त्रियाँ तक बोलती हैं ।"[2]

द्विवेदी जी भाषा की सक्षमता और व्यावहारिकता को समान महत्व देते थे और उन्हें चरमसीमा तक विकसित करने का प्रयास करते थे । इस प्रयास के अन्तर्गत किसी भी भाषा के उपयुक्त और वजनदार शब्दों का प्रयोग करने में उन्हें किसी तरह का परहेज नहीं था । कालिदास के मेघ के रहस्य पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया, उसे उनकी प्रतिनिधि भाषा कहा जा सकता है - "कोटि योनि में उत्पन्न पतंगों के लिए दीप-शिखा की ज्वाला अपने प्राकृतिक दाहक गुणों से रहित मालूम होती है । महाप्रेमी यक्ष को यदि मेघ की अचेतना का ख्याल न रहे तो कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं । फिर क्या यक्ष यह न जानता था कि मेघ क्या चीज है ।"[3] इन पंक्तियों में जहाँ द्विवेदी जी संस्कृत के कोटि

1- डॉ0 वेद प्रताप वैदिक [संम्पादक] - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम पृ0 747 ।

2- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वारा रचित "हिन्दी गद्य के युग निर्माता" के पृ0 60 पर उद्धृत ।

3- डॉ0 वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पृ0 748.

योनि,उत्पन्न, दीप-शिखा, ज्वाला जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं, वहीं उर्दू के मालूम, ख्याल तथा चीज जैसे सरल शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है । आरम्भ से ही द्विवेदी जी अपनी बात पाठक के मन में पूरी तीव्रता से उतार देने के लिए उस भाषा-शैली का प्रयोग करते थे, जिसे व्यास शैली की संज्ञा दी जाती है । जैसा डा० वेद प्रताप वैदिक की पुस्तक "हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम" में संकलित पुराने पत्रकारों की गद्य शैली निबन्ध में कहा गया है -

"इसमें कोताह कलमी या शाब्दिक कंजूसी को स्थान नहीं रहता इसी लिए वे ¦ द्विवेदी जी ¦ बात को भिन्न-भिन्न प्रकार से तब तक दोहराते रहते थे जब तक वो भाव एकदम स्पष्ट न हो जाए ।"[1]

इस सन्दर्भ में निम्नांकित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं -

"वह कौन-सी वस्तु है जो एक होकर भी अनेक है, कुछ न होकर भी सब कुछ है, निराकर होकर भी साकार है, सूक्ष्म होकर भी महान है .... । इस वस्तु का नाम है ब्रह्म, परमब्रह्म, ईश्वर, परमेश्वर अथवा परमात्मा ।"[2]

द्विवेदी जी सरल भाषा तथा वर्णनात्मक शैली के पक्षधर थे " वे कठिन से कठिन विषयों को वर्णनात्मकता की छलनी से छानकर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठकों को उसके आस्वाद में कोई कठिनाई नहीं होती । न उनमें विद्वता का प्रदर्शन होता है और न गम्भीरता का । होती है केवल

1- डा० वेद प्रताप वैदिक, हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम,पृ० 748.
2- 'सरस्वती' भाग - 7, संख्या 8, पृ० 32.

जनमानस में पैठ की क्षमता । कदाचित इसीलिए कुछ विद्वानों द्वारा उनके निबन्धों को कम महत्व देकर उड़ाने का प्रयत्न किया गया है ।"[1]

द्विवेदी जी व्याकरणों के नियमों के पालन के प्रति भी बहुत सजग थे । अम्बिका दत्त कौशिक को अपने एक पत्र में उन्होंने व्याकरण के नियमों पर ही अपने विचार बताये थे - "देखिए लेने के अर्थ में जब लिये शब्द लिखे जाते हैं और विभक्ति के रूप में आता है, तब यकार से लिखा जाता है । जो शब्द एक वचन में यकारांत में रहते हैं वे बहुवचनमें भी यकारान्त हैं। परन्तु स्त्रीलिंग में गयी न लिखकर गई लिखा जाता है । कहिए, चाहिए, देखिए इत्यादि में एकार लिखा जाता है । अकारांत शब्दों का बहुवचन एकारांत होता है, जैसे हुआ का बहुवचन हुए । यहाँ व्याकरण नियमों का सरल निदर्शन देखते ही बनता है ।"[2]

इससे स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ऐसी भाषा के समर्थ थे, जिससे अपनी बात पाठक के मन में पूरी तरह उतारी जा सके । वहीं वे व्याकरण के नियमों के प्रति भी प्रतिबद्ध थे इन दोनों के प्रति प्रतिबद्धता का निर्वाह बहुत कठिन था । इसी कारण भाषा की अस्थिरता को लेकर उनका बाबू बाल मुकुन्द गुप्त से विवाद भी हुआ । किन्तु आचार्य द्विवेदी अपनी भाषा सम्बन्धी प्रतिबद्धताओं के प्रति अडिग रहे । और उनकी ही मान्यतायें हिन्दी साहित्य की भी मान्यतायें बनीं ।

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 485.

2- वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पृ0 749.

राष्ट्रीय जागृति तथा विदेशी शासन से मुक्ति की चाह ने भारतेन्दु युग में ही ऐसी राजनीतिक परिस्थितयाँ उत्पन्न कर दी थी कि सरल हिन्दी का प्रचार बढ़ने लगा था। उस समय उर्दू पढ़ना अनिवार्य अवश्य समझा जाता था, किन्तु साथ-ही-साथ देवनागरी लिपि और जन साधारण के लिए बोधगम्य हिन्दी भाषा का प्रचार भी बढ़ रहा था। पराधीनता की बेड़ियाँ काट फेंकने की भावना से प्रेरित अग्रगण्य नेताओं ने इस सत्य का अहसास कर लिया था, कि राष्ट्रीयता तथा पराधीनता से मुक्ति की प्रेरणा प्रत्येक देशवासी के मन के अन्दर तक बैठा देने के लिए देश की एक राष्ट्र-भाषा होना आवश्यक है। उन्होंने यह भी समझ लिया था, कि राष्ट्र-भाषा का गौरव केवल हिन्दी को प्राप्त हो सकता है। इसीलिए जन-साधारण के लिए बोधगम्य ऐसी भाषा को अपनाने की भावना उत्पन्न हुई जिसे देश के बच्चे, बूढ़े, नौजवान, स्त्रियाँ आदि सभी लोग समझ सकें। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी इसी विचारधारा के पक्षधर थे। वे मानते थे कि गम्भीर-से-गम्भीर विषय को सरलतम भाषा में ही प्रस्तुत किया जाये। किन्तु वे न संस्कृत शब्दों का विरोध करते थे और न अरबी, फारसी शब्दों का ही बहिष्कार करते थे। उनका सुदृढ़ विश्वास था कि हिन्दी भाषा-भाषियों को ऐसे सभी प्रचलित शब्दों को स्वीकार कर लेना चाहिए जो सबके लिए बोधगम्य हों - चाहे वे संस्कृत के शब्द हों, चाहे अरबी, फारसी या उर्दू के शब्द हों, चाहे अंग्रेजी के शब्द हों। यही कारण था कि द्विवेदी युगीन साहित्य की भाषा में न तो संस्कृत के पक्षपातियों जैसा शब्द

जान है और न उर्दूदां लेखकों की भाषा जैसी कलाबाजियाँ। द्विवेदीजी और उनकी 'सरस्वती' ने हिन्दी साहित्य में एक ऐसी सजीव और स्वाभाविक भाषा को विकसित किया, जिससे साहित्य के प्रति पाठकों की रुचि में भी अभिवृद्धि हुई।

सन् 1934 में आचार्य द्विवेदी ने पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र लिखा था, जो चतुर्वेदी जी द्वारा सम्पादित 'विशाल भारत' में प्रकाशित भी हुआ था। इस पत्र में प्रयुक्त भाषा को द्विवेदी जी का प्रतिनिधि भाषा तो नहीं कह सकते, किन्तु द्विवेदी जी भाषा की जिस सरलता के पक्षधर थे वह सरलता उस पत्र की भाषा में निःसन्देह देखने को मिलती है।

आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक में भाषा के संबंध में एक नोट प्रकाशित किया करते थे। जब उन पर भाषा की शुद्धता को नष्ट-भ्रष्ट करके उसे बिगाड़ने का आरोप लगाया जाता, तो वे बड़े शान्त भाव से कहते थे कि संस्कृत के कठिन तत्सम् शब्दों को क्यों प्रयोग में लाया जाय जबकि सरल बोधगम्य शब्द हमारे लिए उपलब्ध हैं। घर शब्द के लिए गृह शब्द लिखना वे उचित नहीं मानते थे। घर क्या बुरा है जो उसके लिए गृह शब्द लिखा जाय। इसी तरह कलम शब्द क्या बुरा है जो उसके लिए लेखनी शब्द लिखा जाये। द्विवेदी जी श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम, सर्व-श्रेष्ठ जैसे शब्दों के विरोधी थे। 'नोकदार नाक' के स्थान पर 'नोकदार नासा' जैसा प्रयोग उन्हें तनिक भी पसंद नहीं था। "संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश जो हिन्दी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना

लेते हैं । परन्तु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते ।"[1] बाबू कालिदास कपूर एम० ए०, एल० टी० को उन्होंने सन् 1918 में एक पत्र लिखा था, जो उनके भाषा संबंधी विचारों की एक झलक प्रस्तुत करता है -

डाकखाना दौलतपुर (रायबरेली)
15-3-18

"महाशय,

पत्र मिला धन्यवाद । मेरी वही राय है जो आपकी है मैं तदनुसार बर्ताव भी करता हूँ । सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ । उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिन्दी ही के शब्द समझता हूँ । मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं । पहले लोग लिखा करते थे, कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है, पर अब नहीं बोलते । और लोग भी 'सरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं ।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी[2]

द्विवेदी जी जानते थे कि भाषा सम्बन्धी अपनी अवधारणाओं को अपने समय के रचनाकारों के बीच मान्यता दिला पाना सहज नहीं था, हालांकि पाठक वर्ग उनकी भाषा को पूरी मान्यता दे रहा था । पाठक वर्ग की इस मान्यता से उन्हें हिन्दी साहित्य के लिए एक सहज-सुगम भाषा

1- द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ, प्रस्तावना ।

2- प्रेम नारायण टंडन, द्विवेदी मीमांसा, पृ० 165.

प्रचारित करने में सहायता अवश्य मिली, किन्तु द्विवेदी जी को अपनी बात 'सरस्वती' में बार-बार दोहरानी पड़ती थी ।

हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सके उन्हें तुरंत अपने में मिला लेना चाहिए । मैं जब स्वयं 'सरस्वती' में ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगा तब लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया कितने ही लोगों ने यहाँ तक इलजाम लगाया कि मैं भाषा को नष्ट कर रहा हूँ । परंतु सत्य सत्य ही है । अब लोग आप से आप समझ गये ।"[1]

सहज, सरल भाषा के प्रति द्विवेदी जी का मोह राष्ट्रीयता की भावना से तो प्रभावित था ही, किन्तु वे यह भी जानते थे कि सहज-सरल भाषा के माध्यम से ही देश-विदेश में चल रही गतिविधियों, इतिहास, भूगोल, विज्ञान जैसे अनेकानेक विषयों का ज्ञान साधारण पाठक तक पहुँचाया जा सकता है । इस सन्दर्भ में उन्होंने 'सरस्वती' में स्पष्ट रूप से लिखा था -

"हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जानने वाले भी सहज ही में समझ जायँ । संस्कृत और अँग्रेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पाण्डित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता ।"[2]

हिन्दी या हिन्दुस्तानी के प्रति किसी तरह की उपेक्षा भी आचार्य द्विवेदी को असह्य थी । डॉ० सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भारत में उनके

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ० 166.
2- 'सरस्वती', भाग 16, संख्या 1, पृ० 51.

अनुसार प्रचलित 179 भाषाओं और 544 बोलियों के संबंध में गहरा शोध कार्य किया था। अपने शोध की वृहद रपट उन्होंने 13 जिल्दों में प्रकाशित करायी। किन्तु डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी या हिन्दुस्तानी के प्रचार-प्रसार पर जानते हुए भी कुछ नहीं कहा। द्विवेदी जी को यह बात बहुत अखरी और उन्होंने 'सरस्वती' में टिप्पणी करते हुए लिखा -

"हाँ, एक बात खटकने वाली जरूर है। डाक्टर ग्रियर्सन ने जो ये बड़ी-बड़ी जिल्दें लिखकर भारतीय भाषाओं का फल प्रकाशित किया है उसके कम से कम एक अध्याय में उन्हें हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा की व्यापकता पर जुदा विचार करना चाहिए था। उन्हें यह दिखाना चाहिए था कि यद्यपि इस देश में सैकड़ों बोलियाँ या भाषाएँ प्रचलित हैं और यद्यपि उत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से उसके कई भेद हैं तथापि यही भाषा ऐसी है जिसके बोलने वाले सबसे अधिक हैं और जिसे भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रांतों के निवासी भी, किसी हद तक, समझ सकते हैं। इस दशा में राजकार्य-निर्वाह और पारस्परिक व्यवहार के लिए यदि भारत की प्रधान भाषा यही मान ली जाए तो इससे देश को अनेक लाभ पहुँच सकते हैं।"[1]

द्विवेदी जी की यह मान्यता थी कि हिन्दी को सरल हिन्दुस्तानी का रूप देकर यदि प्रस्तुत किया जाये तो भारत के किसी भी प्रदेश में रहने

1- 'सरस्वती', 'भारतीय भाषाओं का अन्वेषण' शीर्षक टिप्पणी, अक्टूबर 1928.

वाले व्यक्ति के लिए वह भाषा बोधगम्य होगी । इसके अतिरिक्त उनका राष्ट्रप्रेम यह भी जानता था कि यदि एक ऐसी भाषा का व्यापक प्रचार हो सके, तो उससे देशप्रेम और राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने में बहुत अधिक सहायता मिल सकेगी । इसके साथ ही उनका यह विश्वास भी था कि सहज-सरल हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति किसी भी अन्य भाषा से कम नहीं है । अपने इस विश्वास को उन्होंने "सरस्वती " के सम्पादन के माध्यम से हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में स्थापित भी किया "हिन्दी भाषा की ग्राहिका शक्ति " के सम्बन्ध में उन्होंने 'सरस्वती ' में लिखा था -

"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है । जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है, वह उपवास -सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी जरूर हो जाती है । दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता ।"[1]

मातृभाषा के प्रति निरन्तर सुदृढ़ होते लगाव का सूत्रपात वास्तव में 'सरस्वती ' में उसके जन्म काल से ही हो चुका था, जो शायद तत्कालीन

1- 'सरस्वती ', भाग 16, संख्या 1, पृ0 51.

सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का परिणाम था । अंग्रेजीदां भारतीयों की "स्वार्थांध" और "कूपमंडूकवत् प्रवृत्ति की भर्त्सना तथा उन संस्कृतियों की कटु आलोचना 'सरस्वती' ने अपने जन्म काल से करना शुरू कर दिया था, "जो भाषा का पढ़ना-लिखना हेय कार्य समझते हैं "।[1] 'सरस्वती' ने टिप्पणी की थी कि " इन स्वार्थांध और कूपमंडूकवत् विचार वाले लोगों को यह नहीं सूझ पड़ता कि किसी देश ने अपनी मातृभाषा की उन्नति के बिना उन्नति नहीं की है ।"[2]

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के जन्म काल में ही दिये गये इस सन्देश को पूरी गति से आगे बढ़ाया और यह बात स्थापित कर दी कि साहित्य के विकास का ही नहीं राष्ट्र के हित का भी यही तकाजा है कि हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं का पूर्ण विकास हो, क्योंकि हिन्द ही इस देश की मातृभाषा है ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व हिन्दी भाषा

उस समय यह बड़ी अटपटी स्थिति थी, कि गद्य और पद्य की भाषायें अलग-अलग थीं । किसी देश की भाषा में ऐसी विडम्बनापूर्ण स्थिति नहीं देखने को मिलती । हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों ने एक नियम जैसा बना लिया था कि पद्य केवल ब्रजभाषा में लिखा जाये और गद्य की भाषा खड़ी बोली हो । इस विषम स्थिति को तोड़ने में साहित्य -

---

1- 'सरस्वती', जून 1901, पृ0 186

2- वही ।

कारों, सम्पादकों को कितने भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा होगा, इसकी कल्पना मात्र ही की जा सकती है । इस विडम्बनापूर्ण स्थिति को तोड़ने में 'सरस्वती' ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया । 'सरस्वती' ने गद्य और पद्य की भाषा के भेद को शर्मनाक बताया और जनवरी 1901 के अंक में तत्कालीन सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास ने लिखा कि ".... पर यह बात हिन्दी भाषा के लिए निंदा की है और इसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा में, जो 19वीं शताब्दी में उत्पन्न हो सम्पन्न हुई, लिखा जाये और पद्य पुरानी भाषा में ।"[1]

'सरस्वती के प्रारम्भिक वर्षों में तो ब्रजभाषा में लिखी हुई कवितायें ही छपती रहीं, क्योंकि उस समय खड़ी बोली हिन्दी में काव्य रचना करने वाले नगण्य थे । इस स्थिति को बदलने के लिए और हिन्दी साहित्य के इस अभाव को दूर करने के लिए 'सरस्वती' के सम्पादकों ने कुछ ऐसे कवियों को प्रेरित किया, जो खड़ी बोली में काव्य रचना कर सकें । धीरे-धीरे खड़ी बोली में काव्य रचना करने वाले कवि आगे आने लगे और उनकी कवितायें 'सरस्वती' में ससम्मान प्रकाशित होने लगीं । खड़ी बोली के इन कवियों में स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी थे । उनकी प्रेरक शक्ति ने खड़ी बोली काव्य को मैथिलीशरण गुप्त जैसा कवि प्रदान किया, जो सफलता के सोपान चढ़ते हुए बाद में राष्ट्रकवि के सम्मान से भी विभूषित

1- 'सरस्वती', जनवरी 1901

हुए । खड़ी बोली के प्रारम्भिक कवियों में अन्य प्रमुख नाम थे राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा और लोचन प्रसाद पाण्डे ।

आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के फरवरी-मार्च सन् 1903 के अंक में एक लेख लिखा था 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य'। इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में द्विवेदी जी के मष्तिष्क में कुछ विचार घर किये हुए थे । उन्होंने इस लेख में स्पष्ट लिखा है कि "हिन्दी के दो अर्थ हैं । एक हिन्दुओं की भाषा और दूसरा हिन्द {हिन्दुस्तान} की भाषा । ये दोनों अर्थ बहुत व्यापक हैं ।"[1] इन दोनों अर्थों की व्यापकाता को आचार्य द्विवेदी ने कुछ इस तरह स्वीकार किया था कि यदि कोई हिन्दू लेखक हिन्दी या नागरी लिपि का विरोध करता था, तो वे उसे बुरी तरह लताड़ने पर अमादा हो जाते थे । और यदि कोई मुस्लिम लेखक इस तरह का विरोध करता था, तो वे उस पर कुछ इस तरह बरस पड़ते थे कि उन पर साम्प्रदायिकता का आरोप भी लग सकता था । उस समय का एक प्रमुख उर्दू पत्र था 'जमाना' जिसके सम्पादक मुंशी दया नारायण निगम थे । इन हिन्दू सम्पादक महोदय ने 'जमाना' में नागरी लिपि के विरोध में एक लेख लिखा । इस लेख को पढ़ कर आचार्य द्विवेदी इतने उत्तेजित हुए कि उन्होंने 'सरस्वती' में एक टिप्पणी लिख कर उन्हें जबरदस्त फटकार लगाई - "जिसका देश हिन्दुस्तान है और जिसने हिन्दू कुल में जन्म लिया है, उसके मुँह से ऐसी

1- 'सरस्वती', फरवीर-मार्च, 1903.

राय निकलना बड़े अफसोस और बड़े आश्चर्य की बात है ।"[1] इस टिप्पणी में द्विवेदी जी ने हिन्दू और हिन्दुस्तान दोनों का संदर्भ लिया है । इस घटना के लगभग डेढ़ साल बाद ही आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में कुछ इसी प्रकार की टिप्पणी पुन: लिखी - "प्रथम तो नागरी लिपि के खिलाफ कोई विषय इस पत्र में प्रकाशित ही न होना चाहिए था । और यदि उसे छापा भी तो सम्पादक को उसका प्रतिवाद जरूर करना चाहिए था । अधिक नहीं तो सिर्फ इतना ही लिख देना था कि 'लेखक की राय से सम्पादक की राय नहीं मिलती ।"[2]

अपनी इसी टिप्पणी में द्विवेदी जी 'जमाना' में प्रकाशित लेख के मुस्लिम लेखक पर इतना खीझे कि उनकी टिप्पणी साम्प्रदायिकता के घेरे में आ गई । उन्होंने लिखा - "हिन्दुओं के मुल्क में रह कर उनकी लिपि से नफरत करना आपको शोभा नहीं देता ।" अपने गुस्से का इज़हार आचार्य द्विवेदी ने जिस प्रकार किया वह निश्चय ही मुस्लिम समुदाय की भावना पर ठेस पहुँचाने वाला था । वर्तमान सन्दर्भ में हिन्दुस्तान को केवल हिन्दुओं का देश कहना और मुसलमानों को हिन्दुओं के मुल्क में रहने वाला कहना निश्चय ही धर्म-निरपेक्षता तथा सर्व धर्म सम्भाव जैसी भावनाओं को नकारने जैसा ही है । बहरहाल, हम यहाँ केवल इस सन्दर्भ में अपनी बात कहना चाहेंगे कि आचार्य द्विवेदी का हिन्दी तथा नागरी प्रेम इतना उत्कट था कि वे उसका विरोध होने पर अपना सन्तुलन तक खो बैठते थे ।

1- 'सरस्वती', अक्टूबर 1905 ।

2- 'सरस्वती', मार्च, 1907 ।

भाषा दुराग्रह के परिणाम :-

भाषा के प्रति इस सांस्कृतिक दुराग्रह के कारण हिन्दी तथा उर्दू के साहित्यकार , पत्रकार अपनी-अपनी भाषा की पवित्रता के प्रति इतने दुराग्रही हो गये कि एक ही देश की इन दो भाषाओं के बीच दूरी निरंतर बढ़ती गई । हिन्दी वाले अपनी भाषा में संस्कृत के तत्सम् शब्दों की भरमार करने पर तुल गये और उर्दू के लोग अपनी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का अधिक-से-अधिक प्रयोग करने लगे । ऐसा करते समय इन दोनों वर्गों ने भाषा की सहजता का गला घोंट दिया और भाषा की दुरूहता को चरम सीमा तक बढ़ाते चले गये । भाषाओं के इस विरोध ने दोनों वर्गों के बीच भावनात्मक एकता पर भी प्रहार किया ।

इसमें संदेह नहीं, कि मातृ-भाषा-प्रेम तथा देश-प्रेम एक दूसरे के पूरक हैं । इनमें से किसी एक का विकास दूसरे के विकास में भी प्रेरक बन जाता है । अपने देश में भी देश-प्रेम की भावना से ही मातृभाषा के प्रति प्रेम का विकास हुआ और साहित्य के प्रति भी लोगों में लगाव बढ़ा । यही नहीं, मातृभाषा के प्रति प्रेम ने देश प्रेम की भावना को द्विगुणित किया । किन्तु मातृभाषा हिन्दी के प्रति प्रेम में जब दुराग्रह प्रविष्ट कर गया, तो देश-प्रेम की भावना भी बँट गई । एक को अपने हिन्दुस्तान से प्रेम था, तो दूसरे वर्ग को अपने एक नये राष्ट्र के दुराग्रह ने जकड़ लिया भाषा के बँटवारे ने या कहें कि भाषायी विरोध ने देश-प्रेम को भी बाँट दिया और अन्ततः देश का ही बँटवारा कर दिया ।

इस सब के बावजूद जैसा कि डॉ0 राम विलास शर्मा ने अपने एक लेख 'हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती' में लिखा है 'सरस्वती' सबसे पहले ज्ञान की पत्रिका थी, वह हिन्दी नवजागरण का मुख्य पत्र थी, और हिन्दी-भाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी। ज्ञान की पत्रिका होने के अलावा वह कलात्मक साहित्य की पत्रिका थी, ऐसे साहित्य की जो रीतिवादी रूढ़ियों का नाश करके नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक आवश्य-कताओं के अनुरूप रचा जा रहा था। इसीलिए उसने हिन्दी साहित्य में और उसके बाहर व्यापक स्तर पर भारतीय साहित्य में, वह प्रतिष्ठा प्राप्त की जो बीसवीं सदी में अन्य किसी पत्रिका को प्राप्त न हुई।"[1]

भाषा पर द्विवेदी जी के प्रभाव का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि 'सरस्वती' के रचनाकारों की भाषा-शैली एक जैसी थी। इस पत्रिका के लेखकों की निःसन्देह अपनी-अपनी अलग शैलियाँ थीं। उनमें समानता केवल इतनी थी कि विषय विवेचना तर्क संगत हो, अभिव्यंजना में स्पष्टता रहे और दुरूहता तथा शब्दाडम्बर से रचना शैली को दूर रखा जाये। किसी भी लेखक की भाषा में काट-छाँट करने में द्विवेदी जी कभी संकोच नहीं करते थे। स्वामी सत्यदेव ने 'सरस्वती' के द्विवेदी स्मृति अंक' में लिखा था कि - "...... अपने हृदय के उद्गारों को जोरदार शब्दों में लिख डाला था। द्विवेदी जी कभी-कभी मेरे वाक्य काट डालते, कभी भाषा को मृदु बना देते।"[2]

1- आलोचना, अप्रैल - जून, 1977, पृ0 1.

2- 'आलोचना', अप्रैल-जून, 1977, पृ0 11

भाषा के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने कभी किसी से कोई समझौता करना स्वीकार नहीं किया । राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त आचार्य द्विवेदी के बड़े प्रिय शिष्य थे । किन्तु प्रारम्भिक दिनों में उनकी एक रचना प्राप्त होने पर द्विवेदी जी ने जो उत्तर दिया था वह उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा था - "आपकी कविता पुरानी भाषा में लिखी गयी है । 'सरस्वती' में हम बोलचाल की भाषा में ही लिखी गयी कवितायें छापना पसंद करते हैं ।"[1]

उनके इस पत्र से मैथलीशरण जी के मन में आचार्य द्विवेदी के प्रति कुछ विरोध भाव उत्पन्न हो गया था । इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वीका-रोक्ति के साथ आगे लिखा है - "बोलचाल की भाषा अर्थात खड़ी बोली और पुरानी भाषा अर्थात ब्रजभाषा। मन कुछ विरोधी सा हो गया, आशा भी पूरी न हुई । अब क्या था, एक कड़ा सा पत्र लिख दिया । एक बात सुनी थी कि शेख सादी साहब को फारसी भाषा की मधुरता का बड़ा अभिमान था । एक बार वे यहाँ आये । ब्रजभाषा की प्रशंसा सुनकर उन्होंने नाक सिकोड़ी और भौं चढ़ाई । घूमते-घूमते वे ब्रज पहुँचे । वहाँ मार्ग में पहले-पहल उन्होंने एक छोटी-सी लड़की की बात सुनी । वह अपनी माता से कह रही थी - 'मायरी माय, मग चल्यौ न जाय साँकरी गली, पाय काँकरी गड़तु है ।' इस बात का संकेत मैंने पत्र में कर दिया और समझ लिया कि बदला ले लिया । परन्तु पत्र का उत्तर न मिला ।

1- बैजनाथ सिंह विनोद, 'द्विवेदी पत्रावली', पृ0 46 ·

"मैने धृष्टता पूर्वक एक पत्र और भी इस सम्बन्ध में भेजा। वह वैसा ही लौट आया अथवा लौटा दिया गया। कलकत्ते में 'वैश्योपरकारक' मासिक पत्र में मेरे पद्य छपने लगे थे। परन्तु हिन्दी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' थी। मेरा मन उधर लगा था। झख मार कर खड़ी बोली में 'हेमन्त' शीर्षक से कुछ पद्य लिखे। उन्हीं दिनों स्वर्गीय राय् देवी प्रसाद 'पूर्ण' की 'शरद' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में छपी थी। वह पुरानी भाषा में थी। उसे भेजते समय मैने निर्लज्जतापूर्वक इतना और लिख दिया कि प्रसन्नता की बात है अब पुरानी भाषा के सम्बन्ध में आपका विचार बदला है। द्विवेदी जी का पत्र आया। लिखा था - 'आपकी कविता मिली, राय साहब की कविता अच्छी होने से हमने छापी है।' अब समझ में आया कि मेरी रचना अच्छी न थी, फिर भी उन्होंने उसे बुरी न बताकर भाषा की बात कह कर कितनी शिष्टता से मुझे उत्तर दिया, यद्यपि यह ठीक था कि बोलचाल की भाषा की कविता के ही वे पक्षपाती थे और उसी का प्रचार भी कर रहे थे।

"नये वर्ष की 'सरस्वती' आई नये सज-धज के साथ। अब उसका रूप और भी सुन्दर हो गया था। देखकर जी ललचा गया। परन्तु जिस बात की आशा भी न की, उस 'हेमन्त' को भी वह ले आई। पढ़ने पर मेरा आनन्द आश्चर्य में बदल गया। इसमें जो संशोधन और परिवर्तन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहाँ वह कंकाल और कहाँ यह मूर्ति। वह कितना विकृत और यह कितना परिष्कृत।

फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है । इतना परिश्रम उन्होंने किया और फल मुझे दे डाला । यह तो मुझे बाद में ज्ञात हुआ कि मेरे जैसे न जाने कितने इस प्रकार उपकृत हुए हैं । नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नहीं, परन्तु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है । उनके तप और त्याग का मूल्य आँकना सहज नहीं । ......'केरल की तारा' नाम की कविता में मैंने लिखा था -

"पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई ।
चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी धुल गई ।।"

इन्होंने बदल कर छापी -

"विशद बूँदों से मिले मन मौज मिसरी धुल गई ।'

"लाभ से मेरा लोभ और भी बढ़ गया । कुछ दिन पीछे क्रोधाष्टक नामक एक तुकबन्दी मैंने और भेजी । द्विवेदी जी ने लिखा -

'हम लोग सिद्ध कवि नहीं । बहुत परिश्रम से ही हमारे पद्य पढ़ने योग्य बन पाते हैं । आप दो बातों में से एक भी नहीं करना चाहते । कुछ भी लिख कर उसे छपा देना ही आपका उद्देश्य जान पड़ता है । आपके क्रोधाष्टक थोड़े ही समय में लिखा होगा लेकिन उसे ठीक करने में हमारे चार घंटे लग गये ।

पहला ही पद्य लीजिए -

'होवे तुरन्त उनकी बलहीन काया ।

जानें न वे तनिक भी अपना-पराया ।।

होवे विवेक पर बुद्धि विहीन पापी ।

रे क्रोध, जो जब जन करें तुझको कदापि ।।'

"क्या आप क्रोध को आशिर्वाद दे रहे हैं, जो आपने ऐसे क्रियाओं का प्रयोग किया है । इसे हम अवश्य 'सरस्वती' में छापेंगे, परन्तु आगे से आप 'सरस्वती' के लिए लिखना चाहें तो इधर-उधर अपनी कविताएँ छापने का विचार छोड़ दीजिए । जिस कविता को हम चाहें उसे छापेंगे । जिसे न चाहें उसे न कहीं दूसरी जगह छपाइए, न किसी को दिखाइए । ताले में बंद करके रखिये ।"[1]

उन्होंने हिन्दी के गद्य और पद्य के विकास में जो शक्ति दी है, वह हिम शिखर की नदी की तरह सदा प्रवाहिणी रहने वाली है । आज जो अनेक रूपों में हिन्दी की आत्मा खुलती हुई देख पड़ती है, उसके मूल में आचार्य द्विवेदी की ही अपार साधना है । उन्हें यथेष्ट सम्मान प्राप्त हुआ है, पर श्रम व साधना के विचार से बहुत कम । भाषा के रूप परिष्कार में जो विज्ञता थी वह संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों द्वारा ही सम्भव हुआ है ।"[2]

1- बैजनाथ सिंह विनोद - द्विवेदी पत्रावली, पृ0 46 - 49.

2- सुधा, वर्ष 8, खण्ड 1, संख्या 4, पृष्ठ 344, सम्पादकीय विचार श्री दुलारे लाला भार्गव ।

आचार्य द्विवेदी ने जिस समय लेखन आरम्भ किया था और सम्पादन कला के नये क्षितिजों को आलोकित करने का बीड़ा उठाया था, उस समय तक हिन्दी को 'स्टुपिड हिन्दी' कहा जाता था । इस सन्दर्भ में विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की टिप्पणी उल्लेखनीय है - " भाषा के परिष्कार में द्विवेदी जी ने जैसा काम किया वैसा काम एक भी व्यक्ति ने किसी भाषा में न किया होगा । जितना युद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया, उतना किसी हिन्दी के महारथी ने न किया होगा । हिंदी की इतनी अधिक उन्नति का सबसे अधिक श्रेय महावीर को है । जिस समय उन्होंने अपनी लेखनी उठाई थी उस समय हिन्दी 'स्टुपिड हिंदी' कही जाती थी । क्या आज किसी की हिम्मत है कि वह हिंदी को इन शब्दों में सम्बोधित कर सके ।"[1]

भाषा और विषय की उचित प्रस्तुति के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी इतने सजग थे कि 'सरस्वती' के सम्पादन में उन्होंने अत्यधिक श्रम किया तथा कई बार तो लेखक की रचना को बिल्कुल नया ही रूप दे दिया । गिरजा दत्त बाजपेयी के एक गद्यांश को उन्होंने जिस प्रकार सम्पादित करके नया रूप प्रदान किया, वह उल्लेखनीय है । गिरजादत्त बाजपेयी के गद्यांश का मूल रूप था -

एक पुरानेबुड्ढे पंडित और उनकी युवा पत्नी । पंडित जी की अवस्था करीब 45 वर्ष की है और स्त्री की 20 वर्ष । पण्डित जी बहुत विद्वान मनुष्य हैं । और पुस्तकें लिखी हैं । सप्ताह में दो एक दिन उन्होंने

1- विश्वनाथ प्रताप मिश्र - हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ0 23।

समाचार या मासिक पत्रों के लिए लेख लिखने को नियत कर लिया । और पण्डित जी ने हमने कहा कि इन्हीं दिनों में विशेषकर जब हम कुछ लिखते होते हैं तो उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती हैं । यह पण्डितानी स्वरूपवान हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं और वयस में बहुत कम हैं ।"[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने इसे सम्पादित करके शीर्षक दिया - पण्डित और पण्डितानी' और इस गद्यांश को उन्होंने जो नया रूप प्रदान किया, वह था - " पण्डित जी की अवस्था करीब 45 वर्ष की है और उनकी पत्नी की 20 वर्ष की । पण्डित जी अंग्रेजी और संस्कृत दोनों में विद्वान हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं । सप्ताह में दो - एक दिन उन्होंने समाचार पत्र और मासिक पुस्तकों के लिए लेख लिखने को नियत कर लिया है । विशेषकर इन्हीं दिनों में अर्थात जब वे लिखते होते हैं तब उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती हैं । पण्डितानी स्वरूपवती हैं और कुछ पढ़ी - लिखी भी हैं । उमर में बहुत कम हैं ही ।"[2]

इसी प्रकार स्वामी सत्यदेव ने जब अपनी अमरीका यात्रा के संबंध में अपना यात्रा-विवरण 'मेरा विदेशानुभव' शीर्षक से 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजा तो द्विवेदी जी ने इसका सम्पादन करते समय शीर्षक दिया - 'नई दुनिया सम्बन्धी राम कहानी ।'[3] गद्यांश का मूल रूप इस प्रकार था -

---

1- 'सरस्वती', जनवरी 1903 की सम्पादित हस्तलिखित सामग्री, काशी नागरी प्रचारणी सभा में सुरक्षित ।

2- वही ।

3- 'सरस्वती', दिसम्बर 1909, भोलानाथ पाण्डेय {अमरीका}, द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित हस्तलिखित सामग्री, काशी नागरी प्रचारणी सभा में संग्रहीत ।

"जब से मैं अमरीका आया हूँ मैने अपना कायदा ऐसा रखा है कि यूनिवर्सिटी का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ-न-कुछ रुपया अवश्य ही बचा रहे ताकि मजदूरी ढूंढने के समय तक खाने के लिए काफी हो ।"[1]

इस गद्यांश को सुधार कर द्विवेदी जी ने जो रूप दिया वो था "जब से मैं अमेरिका आया हूँ मैं इस तरह रहता हूँ कि विश्वविद्यालय का साल पूरा होने तक मेरे पास कुछ रुपया अवश्य ही बचा रहे जिसमें मजदूरी ढूंढने के समय खाने-पीने के लिए कष्ट न हो ।"[2]

द्विवेदी जी की सम्पादन कला में भाषा संशोधन के जो निर्देशक तत्व थे, उनके सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने स्वयं लिखा था -

"संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता । यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का । देखना सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं । अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैने कभी नहीं की ।"[3]

द्विवेदी जी की इस सतर्क सम्पादन-कला तथा भाषा-सुधार का शुभ परिणाम धीरे-धीरे स्वयं प्रकट होने लगा । नये लेखक उनकी भाषा को

1- 'सरस्वती', सितम्बर 1909, मेरी डायरी के कुछ पृष्ठ स्वामी सत्यदेव, हस्तलिखित सामग्री, काशी नागरी प्रचारणी सभा में संग्रहीत ।

2- वही ।

3- महावीर प्रसाद द्विवेदी - जीवन स्मृतियाँ, से उद्धृत, सम्पादक क्षेमचन्द्र 'सुमन', पृ0 46.

तथा प्रस्तुति की विशिष्टता को धीरे-धीरे अपनाने लगे । परिणाम यह हुआ कि कुछ ही समय में द्विवेदी शब्द हिन्दी साहित्य में व्यक्तिवाची नहीं रह गया बल्कि हिन्दी के एक विशिष्ट द्विवेदी स्कूल का परिचायक बन गया । महावीरी या द्विवेदी हिन्दी टकसाली बन गयी ।"[1]

द्विवेदी जी ने हिंदी में व्याप्त व्याकरण सम्बन्धी व्यतिक्रम तथा भाषा की अस्थिरता को दूर करके हिन्दी को एक ऐसे मुकाम पर पहुँचा दिया, जहाँ से इसके साहित्य के लिए अनेक मार्ग खुल गये । इसके क्षेत्र को भी पर्याप्त विस्तार प्राप्त हुआ । साहित्य में विषयों की विविधता आ गयी और नयी-नयी शैलियाँ विकसित हुईं । द्विवेदी जी के पूर्व पत्रों के सम्पादक अपनी रूचि के अनुसार विषयों का चयन करते थे और मनमानी भाषा का प्रयोग करते थे । द्विवेदी जी ने इसके विपरीत जन-रूचि को इतनी प्राथमिकता देना आरम्भ किया, कि तत्कालीन सभी सम्पादकों के लिए जन-रूचि पर ध्यान देना अनिवार्य हो गया, उनकी स्वयं की रूचि गौण हो गई । " अल सम्पादक की भाषा तथा विचारों पर विचार करने का भी कार्य जनता करने लगी ।"[2]

"जब उन्होंने हिन्दी की साहित्यिक चर्चा छोड़ कर लोक-रूचि को उसकी ओर आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त कर ली तब संस्कृत साहित्य को जो लोकोपयोगी रूप उन्होंने प्रदान किया, वहीं उनकी सम्पादन-कला सम्बन्धी विलक्षणता का सुन्दर दर्शन होता है ।"[3]

1- शंकर दयाल चौऋषि - द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ0 157 ।

2- द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ0 548 ।

3- वही, पृ0 541 ।

"संक्षेप में द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श समाज में एक सात्विक ज्योति जगाना है।"[1] लोक-रुचि, संस्कृत साहित्य को लोकोपयोगी बनाने के अभियान और आदर्श समाज की स्थापना के लिए द्विवेदी जी तथा उनके युग के रचनाकारों ने जो कार्य किया, उसमें द्विवेदी जी प्रदत्त भाषा के नये स्वरूप ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

हिन्दी को 'मूर्खा हिन्दी' कह कर "सरस्वती के स्वामी ब्रह्माजी को दी गई उस चुनौती को 'सरस्वती' के सेवक द्विवेदी जी ने स्वीकार कर, हिन्दी के प्रथम आचार्य होकर, उसे संस्कृत और शिक्षित करके, राष्ट्रभाषा के सर्वोच्च सम्मान के योग्य बना दिया। उन्होंने भाषा का परिमार्जन स्वरूप-संगठन तथा वैयाकरणी भूलों का परिहार करके शुद्ध व्यावहारिक एवं वैधानिक भाषा की प्राण प्रतिष्ठा की। उन्होंने भाषा के अन्तर तथा बाह्य स्वरूप में भी एकता लाने का प्रबल प्रयत्न किया। द्विवेदी जी ने अपनी दूर-दृष्टि से हिन्दी के उज्जवल भविष्य को देखकर उसे महान उत्तर - दायित्व निर्वहन करने योग्य बनाने का संकल्प लिया था। हिन्दी में शब्दाभावों की समस्या को हल करने के लिए संस्कृत , उर्दू, फारसी आदि के सरल तथा व्यावहारिक शब्दों को स्वीकार किया।"[2]

1- द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ० 7.
2- शंकर दयाल चौऋषि - द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ० 157 - 158.

द्विवेदी जी शब्द योजना की पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे । किसी भी भाषा से उन्हें कोई परहेज नहीं था । उनका आग्रह केवल सरलता, स्पष्टता तथा सुबोधता के प्रति था । इसी कारण शब्द-चयन के प्रति उनका अत्यधिक उदार दृष्टिकोण था । उर्दू के आखिर, असलियत, कबूला, कद्र, बेखबर, बदोश्त, बेकदरी, खुशामद, खुशमिजाज, मालूम, मौजूद, सादगी, सफर, दौर-दौरा जैसे सरल व्यावहारिक शब्दों का अपनी भाषा में उन्मुक्त रूप से प्रयोग करने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी । फारसी के इस्तेदाद, पस्त हिम्मती, काफ़िया, नाहन्मवार, ज्ञाँहा, हम चुनी दीगरे, नेस्त जैसे सुबोध शब्दों का भी उन्होंने अपनी भाषा में प्रयोग किया । अँग्रेजी के नेचुरल, पोयट्री, सर्टिफिकेट, वर्स, इमैजिनेशन जैसे शब्दों को अपनी भाषा में स्थान देने में भी उन्हें कोई संकोच न था । और भाषा में शब्द-चयन की इस उदारता को द्विवेदी युग के अधिकांश रचनाकारों ने भी स्वीकार किया ।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा था - " संस्कृत जानना हम लोगों का जरूरी कर्त्तव्य है । पर इसके मेल से अपनी बोलचाल की हिन्दी को दुर्बोध करना मुनासिब नहीं । पुस्तकें लिखने का सिर्फ इतना ही मतलब होता है कि जो कुछ उसमें लिखा गया है वह पढ़ने वालों की समझ में आ जाये । जितने ही अधिक लोग पढ़ेंगे उतना ही अधिक उन्हें लिखने का मतलब सिद्ध होगा । तब क्या जरूरत है कि भाषा क्लिष्ट करके पढ़ने वालों की संख्या कम की जाय ?

जो संस्कृत भाषा हजारों वर्ष पहले बोली जाती थी उसे मिलाने की कोशिश करके अपनी भाषा के स्वाभाविक विकास को रोकना बुद्धिमानी का काम नहीं । स्वतन्त्रता सबके लिए एक - सी लाभदायक है । कौन ऐसा आदमी है जिसे स्वतन्त्रता प्यारी न हो ? फिर क्यों हिंदी से संस्कृत की पराधीनता भोग कराई जाय ? क्यों न वह स्वतंत्र कर दी जाय? संस्कृत , फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द प्रचलित हो गये हैं उनका प्रयोग हिन्दी में होना ही चाहिए । ये सब अब हिन्दी में होना ही चाहिए । ये सब अब हिन्दी के शब्द बन गये हैं । उनसे घृणा करना उचित नहीं ।"[1]

आचार्य द्विवेदी संस्कृत के विरोधी नहीं थे, किन्तु उनका मत था कि संस्कृत के शब्दों का प्रयोग तभी किया जाये, जब हिन्दी के सहज व्यावहारिक शब्द न मिलें । वे हिन्दी के समर्थक तो थे ही, वे उसे "पूर्ण भाषा भी मानते थे । इससे संस्कृत, फारसी के अस्वाभाविक शब्दों के प्रयोग के विपक्षी थे । शब्दावली की विशुद्धता की दृष्टि से द्विवेदी जी उदार विचार के थे ।"[2]

कला, विज्ञान, शास्त्र आदि के पारिभाषिक शब्दों का जहाँ तक प्रश्न था, वहाँ वे संस्कृत शब्दों के प्रयोग के विरोधी नहीं थे, क्योंकि वहाँ उन शब्दों का प्रयोग अनिवार्य था । किन्तु वे परिभाषा को भी सरल

1- महावीर प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, पृ0 49-50.
2- डॉ0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पृ0 98 .

बनाना चाहते थे । द्विवेदी जी डॉ0 ग्रियर्सन के इस मत से सहमत थे कि हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति भी संस्कृत से न होकर अपभ्रंशों से हुई है । यही कारण था कि द्विवेदी जी कहा करते थे कि "हिन्दी में संस्कृत शब्दों की भरमार अभी कल से शुरू हुई है ।"[1]

द्विवेदी जी का दृढ़ मत था कि गूढ़ तथा कठिन विषयों को भी सरल, साधु तथा प्रभावशाली भाषा में प्रस्तुत किया जाये । इसी कारण रचनाकारों के लिए उनकी यही सीख थी कि - " लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए । उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं । इस प्रकार की जटिल भाषा को उनके पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं । परन्तु यह गुण नहीं, दोष है ।"[2] भाषा की सरलता की दृष्टि से द्विवेदी जी केवल शब्द चयन की स्वतन्त्रता से ही सन्तुष्ट नहीं थे । वे भाषा की सरलता के लिए छोटे वाक्यों के भी समर्थक थे । जैसा डॉ0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने लिखा है - " छोटे-छोटे वाक्यों में बल तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना द्विवेदी जी के बायें हाथ का खेल था । उनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती थी जिससे

1- महावीर प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, पृ0 54-55 ·

2- रसज्ञ रंजन , पृ0 17-18

भाषा में वही बल प्राप्त होता था जो अभिभाषण में । पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता था । उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाये जाते थे कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता था कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा, और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक का अभीष्ट है ।"[1]

राष्ट्रीय चेतना और जनसम्पर्क भाषा की आवश्यकता :-

द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय चेतना के युगीन संदर्भ को बारीकी से समझा था । इसी कारण इस बहुजातीय देश में एक जनसम्पर्क भाषा की आवश्यकता को भी महसूस किया था । वह यह भी जानते थे कि जनसम्पर्क की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही हो सकती है । इस सन्दर्भ में जून 1977 की 'आलोचना', में 'हिन्दी की जाती पत्रिका सरस्वती' लेख में डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा था - " द्विवेदी जी ने जाति और राष्ट्र का संबंध पहचाना, भारत जैसे बहुजातीय राष्ट्र में सम्पर्क भाषा की आवश्यकता पर बल दिया, वह अंग्रेजी के विरुद्ध समस्त भारतीय भाषाओं के अधिकारों के लिए लड़े, इसी सन्दर्भ में हिन्दी-भाषी जाति की भाषा-समस्या के विभिन्न पक्षों पर - संस्कृत, बंगला, जनपदीय उपभाषाओं, उर्दू आदि से हिन्दी के अन्तर्विरोध के पक्षों पर - हिन्दी भाषा के विकास की मुख्य दिशा के बारे में, जितनी गहराई से उन्होंने विचार किया, जितने तर्क संगत ढंग से उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किये, उस ढंग से, उतनी गहराई

1- डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - हिन्दी की गद्य शैली का विकास, पृ० 98.

से सभी पक्षों को ध्यान में रखते हुए वैसा विवेचन इस देश में अन्य किसी ने अभी तक प्रस्तुत नहीं किया। कितनों को तो समस्याओं का सही - सही ज्ञान भी नहीं है। यह सब हिन्दी साहित्य का ऐसा ज्ञान काण्ड है जिसका महत्व अखिल भारतीय है, जिससे इस देश के साहित्यकार और साहित्य के पाठक ही नहीं, विभिन्न दलों के राजनीतिज्ञ और उनके अनुयायी भी बहुत-कुछ सीख सकतें हैं। हिन्दी साहित्य का यह ज्ञान - काण्ड भारत के वर्तमान सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में उपयोगी है, यह किसी भी विचारपूर्ण समीक्षक से छिपा न रहेगा।"[1]

आचार्य द्विवेदी का सुदृढ़ मत था कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के मन्त्र को भारत के कोने-कोने में प्रसारित कर देने के लिए एक ही भाषा का प्रचार परम आवश्यक है। जैसा कि 'द्विवेदी मीमांसा' में कहा गया है - "मुसलमानों के समय में जिस भाषा को लोगों ने अपनाया था और जिसको समझने वाले, बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी, भारत के प्राय: सभी प्रांतों में बसते थे वह हिंदी ही थी। द्विवेदी जी ने इस बात को स्वयं कई बार कहा है और दूसरे महापुभावों ने स्वीकार भी किया था। उनका विचार था कि यदि देश में स्वतन्त्रता के लिए किसी प्रकार का उद्योग करना है तो पहले बात यह होनी चाहिए कि हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक और पूर्व से पश्चिम तक एक ही भाषा का प्रचार होना चाहिए। हिंदी को समझने वाले सभी जगह बसते हैं पर देवनागरी लिपि का प्रचार नहीं है।

1- डा० राम विलास शर्मा - हिन्दी की जातीय पत्रिका, आलोचना, अप्रैल-जून, 1977, पृ० 17.

अतः यदि इस लिपि का और साथ ही हिंदी के सरलतम रूप का प्रचार किया जाय तो शीघ्र ही इस देश की एक भाषा हो जायगी जिसे हम राष्ट्रभाषा के नाम से पुकार सकेंगे ।"[1]

शैली एवं शिल्प :-

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द "द्विवेदी युग की श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धि हैं ।"[2]

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी भाषा के परिष्कार, प्रचार तथा हिन्दी साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से एक विशिष्ट लेखन-शैली को अपनाया था । 'सरस्वती' के सम्पादक की दृष्टि से आचार्य द्विवेदी की यह एक विशिष्टता थी, कि 'सरस्वती' में प्रकाशित गद्य पर तो उनकी सामान्य शैली की छाप है, किन्तु पद्य में इसके विपरीत अतिशय शैलीगत विविधता है । उस युग के प्रमुख कवि मैथलीशरण गुप्त, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', अयोध्या सिंह उपाध्याय तथा स्वयं द्विवेदी जी की कविताओं में में विविध शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । शैली ही नहीं भाषा, छन्द, विषय, काव्यरूप तथा अन्यान्य काव्य प्रयोगों में भी पूर्ण स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर होती है । गद्य की शैलियों पर तो इनका नियन्त्रण दिखता है, किन्तु पद्य साहित्य के लिए केवल विषय निर्देश और खड़ी बोली के प्रति आग्रह मात्र दिखता है, शैलीगत नियंत्रण नहीं ।

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ० 170.

2- डॉ० रामविलास शर्मा - हिन्दी की जातीय पत्रिका, 'सरस्वती', आलोचना, अप्रैल-जून, 1977, पृ० 18.

सामाजिक - राष्ट्रीय परिवर्तन की दृष्टि से काव्य के लोक रूपों की ओर सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ध्यान दिया था। किन्तु उस विचारधारा को संवर्धित किया आचार्य द्विवेदी ने। आधुनिकहिन्दी में लोक रूपों के व्यवहार साहित पद्य रचना पर आचार्य द्विवेदी ने पूरा ध्यान केन्द्रित किया और इसके लिए कवियों को पूरी छूट भी दी। खड़ी बोली हिन्दी का अपना एक लोक काव्यात्मक स्वरूप भी है, जिसे डॉ0 राम विलास शर्मा के अनुसार नजीर अकबराबादी ने विकसित किया था। द्विवेदी जी ने भी उसी लोककाव्यात्मक रूप में लिखी हुई बागीश्वर मिश्र की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित की थीं। लोक-साहित्य रचने वाले जनपदीय उप-भाषाओं के कवियों को भी आचार्य द्विवेदी ने प्रोत्साहित किया था। इनमें बैसवाड़ी भाषा में आल्हा लिखने वाले कल्लू अल्हैत और भोजपुरी में अछूत समस्या पर मार्मिक काव्य रचना करने वाले पटना के हीरा डोम प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी जी ने "जिस शैली के गद्य को .... अपनाया है उसमें प्रसाद, ओज, सामन्जस्य, प्रतिपक्षता, बहुभाषिता तथा व्यंग्य के साथ सजीवता अथवा यह कहिये कि स्पष्टता भी रहती है।"[1] हिन्दी की साहित्य - शैलियों की विवेचना करते हुए मूर्धन्य सम्पादक पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा था - " यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी साहित्य गगन में

1- रामाकान्त त्रिपाठी - हिन्दी गद्य मीमांसा, पृ0 600.

सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा-भरा करने वालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।"[1]

बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों का हिन्दी साहित्य जिन दिशाओं में अग्रसर हुआ है तथा उसके जो आयाम सामने आये हैं वे सब निश्चय ही द्विवेदी जी की देन थे। " विगत तीस वर्षों का हिन्दी-साहित्य का इतिहास श्रद्धेय पण्डितजी की कीर्ति-कौमुदी से ही आलोकित है। इस इतिहास-मन्दिर की दीवारें जिस नींव पर खड़ी हो सकती हैं, वह एकमात्र उन्हीं की साहित्य-सेवा है। स्वर्गीय पण्डित नाथूराम शंकर शंकर शर्मा ने जिस 'सरस्वती' की महावीरता का गुणगान किया था, उसे हटा दीजिए तो पहले पन्द्रह वर्षों का इतिहास शून्य मात्र रह जाता है और पिछले पन्द्रह वर्षों का बिलकुल लचर।"[2]

द्विवेदी जी की शैली का प्रभाव उनके समकालीन लेखकों की शैलियों पर भी पड़ा था। सत्य तो यह है कि उनकी शैली का प्रभुत्व आज भी हिन्दी साहित्य में बहुत-कुछ मिलता है। "बहुत थोड़े लोग यह जानते हैं कि आज जिस भाषा का वे उपयोग करते हैं उसकी शैली के निर्माण करने का श्रेय अधिक अंशों में द्विवेदी जी को ही प्राप्त है।"[3]

1- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी - हिन्दी गद्य शैली का प्रभाव तथा दान, पृ0 538.

2- रामदास गौड़ - द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, हिन्दी गद्य-शैली पर प्रभाव तथा दान, पृ0 522.

3- लल्ली प्रसाद पाण्डेय, द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ, निबन्धकार द्विवेदी, पृ0 548.

यह बात पूर्णरूपेण सत्य है और स्वाभाविक भी है कि समय के साथ किसी एक लेखक ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण साहित्य की शैलियों में परिवर्तन आया ही करते हैं । द्विवेदी जी तथा उनके समकालीन साहित्य के संबंध में भी यह बात पूरी तरह खरी उतरती है । जैसा डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कहा है - " समय के साथ द्विवेदी जी की भाषा-शैली में उतार - चढ़ाव हुए हैं । उनकी भाषा में भाव-प्रकाशन की तीन प्रमुख शैलियां उपस्थित हैं - व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक । यद्यपि उनके पूर्व भी इन शैलियों का अस्तित्व अवश्य था, परन्तु उनका रूप स्थिर नहीं हो सका था ।"[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह बहुत बड़ी विशेषता थी कि उनकी शैली विषय तथा कथ्य के अनुरूप पूरी कलात्मकता के साथ परिवर्तन होती चलती थी । किन्तु परिवर्तन के साथ-साथ उसमें आकर्षण इतना अधिक होता था कि वह पाठक को तन्मयता की सीमा तक बांधे रहता था । उनकी शैली में एक कुशल कथावाचक की कुशलता थी, जो गूढ़-से-गूढ़ विषय को भी ऐसी रोचकता प्रदान कर देती थी कि पढ़ने वाले का मन कहीं भी उचाट न हो सके । उनकी शैली की पृष्ठभूमि में एक सहृदय अध्यापक की झलक भी मिलती रहती थी, जो अपने पाठक को बड़ी कुशलता से कुछ-न-कुछ सीख देता प्रतीत होता था, लेकिन सीख देने की यह प्रक्रिया भी प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष ही हुआ करती थी । द्विवेदी जी की यह विशेषता थी कि

1- डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० 100.

जिस शैली को उन्होंने स्वयं अपने लिए अपनाया उसी को यत्र-जत्र परिवर्तन परिवर्धन के साथ स्वीकार करने के लिए अपने युग के साहित्य सर्जकों को भी प्रेरित किया । सरलता तथा व्यावहारिकता उनकी और उनके युग की रचनात्मक शैली का मूल मंत्र था । डॉ० राम रतन भटनागर ने उचित ही लिखा है कि - " द्विवेदी जी की गद्य-शैली में हमें पहली बार कला पूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं । आचार्य द्विवेदी की सफलता का रहस्य उनकी गद्य - शैली को ही है ।"[1]

आचार्य द्विवेदी तथा उनके द्वारा प्रचारित - प्रसारित शैली में विविधता भी प्रचुर मात्रा में रहती है । प्राय: प्रत्येक रचनाकार का कोई-न-कोई प्रिय विषय होता है, कोई विशेष प्रिय विधा होती है और उसी के अनुरूप उसकी अपनी निजी शैली होती है, किन्तु द्विवेदी जी इसके अपवाद थे । उनकी शैली में विविधतायें हीं-विविधतायें थी । इसका एक विशेष कारण है - वे एक जागरूक सम्पादक थे, और 'सरस्वती' जैसी विविध विषयक साहित्यिक पत्रिका के सम्पादक थे । जिस समय द्विवेदी जी ने लेखन-सम्पादन के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय इतिहास, पुरातत्व, विज्ञान, आध्यात्म, सम्पत्ति-शास्त्र, शासन-पद्धति जैसे विषयों को न तो साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता था और न ही इन विषयों पर कोई रचना पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित ही होती थीं । जब उन्होंने इन अछूते विषयों को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकारा और पहले स्वयं इन

1- डॉ० राम रतन भटनागर, हिन्दी गद्य, पृ० 159.

विषयों पर लिखवाया तो उनकी शैली में विविधता आ जाना स्वाभाविक ही था। उनकी कोई एक शैली न होकर अनेक शैलियाँ हो गयीं और उनके युग में विविध विषयक अनेक शैलियों का प्रचलन हो गया। यदि वे पाश्चात्य देशों की पत्रिकाओं के सम्पादकों जैसे सम्पादक होते तो सम्भवत: ऐसा कदापि न हुआ होता। वहाँ के सम्पादक को केवल सम्पादकीय कार्य करना होता है। उसे रचनाओं के अभाव में न तो स्वयं अनेक विषयों पर लिखना पड़ता है और न अन्य लेखकों को तरह-तरह के विषयों पर लिखने के लिए प्रेरत और निर्देशित करना होता है। उन देशों में उपरोक्त सभी विषय पहले से ही साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते थे। और उन सभी विषयों पर रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। इसी कारण प्रधान सम्पादक की सहायता के लिए भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञाता सम्पादकीय विभाग में रहते थे। इस कारण प्रधान सम्पादक के लिए वहाँ यह आवश्यक नहीं था कि वह सभी विषयों का मर्मज्ञ हो। किन्तु अपने देश में परिस्थितियाँ इसके बिलकुल विपरीत थीं। आचार्य द्विवेदी को पहलीमुहिम तो उपरोक्त सभी विषयों को साहित्य के अन्तर्गत स्वीकार कराने के लिए छेड़नी पड़ी। विविध विषयों पर आरम्भ में लिखने वाले नहीं मिले, तो स्वयं लिखना भी पड़ा। इससे उनकी लेखन शैली को तो विविधता मिली ही, साथ ही उनके निर्देशन में जिन रचना-कारों ने उन विषयों पर अपनी कलम चलाई/उनकी शैली पर भी द्विवेदी जी की शैलीगत विशिष्टताओं का प्रभाव पड़ा। ये सभी विषय आचार्य द्विवेदी

के प्रिय विषय नहीं थे, किन्तु उन्हें तो हिन्दी भाषा का परिष्कार और हिन्दी साहित्य के फलक को विस्तार देकर इसे समुन्नत बनाना था । अतः उन्हें बहुत सारे निबन्ध सम्पादकीय आवश्यकताओं, तत्कालीन समस्याओं, पाठकों के ज्ञानवर्धन तथा मनोरंजन और हिन्दी साहित्य की रिक्त-पूर्ति के लिए भी लिखने पड़ते थे । द्विवेदी जी "एक यशस्वी सम्पादक, न्याय-प्रिय समालोचक, कर्त्तव्य-परायण, सुधारक तथा परिश्रमी निबन्ध लेखक थे । उनका विचारवान सम्पादक उनके भावुक साहित्यकार पर हावी रहा ।"[1] किन्तु इसके बावजूद द्विवेदी जी ने ऐसी शैलियों को अपनाया जिनका शाश्वत् महत्त्व था । अनेक तत्कालीन रचनाकारों ने उन्हीं की प्रेरणा से अपनी लेखन-कला को सँवारा और शैली-निर्माण में वैशिष्ट्य प्राप्त किया । इस रूप में द्विवेदी जी शैलीकार ही नहीं, शैलीकारों के निर्माता और प्रेरणा स्रोत भी थे ।

आचार्य द्विवेदी तथा उनके युग के रचनाकारों ने द्विवेदी जी के ही प्रभाव से वर्णनात्मक, आलोचनात्मक, प्रेरणात्मक, व्यंग्यात्मक तथा भावात्मक शैलियों को स्वीकार किया तथा उनके अंतर्गत अपनी रचनाधर्मिता का विकास किया ।

वर्णनात्मक शैली :-

किसी वस्तु, स्थान अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध में लिखते समय वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया । वर्णनात्मक शैली में सरलता

1- डॉ० वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पृ० 75।

स्वयमेव आ जाती है। कठिन तथा सूक्ष्म विषयों पर जब वर्णनात्मक शैली में लिखा जाता है, तो शैली में इतनी सरलाता आ जाती है कि पाठक उसका रसास्वादन करने में कठिनाई नहीं महसूस करता। द्विवेदी जी ने 'साहित्य की महत्ता', कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' और कालिदास के मेघदूत का रहस्य' जैसे जटिल विषयों पर भी वर्णनात्मक शैली अपनाकर ऐसे निबन्धों की रचना की कि पाठक सरलता पूर्वक उनके कथ्य को समझ सके। नेपाल, मालाबार, साँची के स्तूप तथा बनारस शीर्षकों पर द्विवेदी जी के निबन्ध उनकी वर्णनात्मक शैली के सुन्दर उदाहरण हैं। सरलता वर्णनात्मक शैली का प्रधान गुण है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, द्विवेदी जी अपने युग के रचनाकारों को भाषा-शैलीगत सरलता की प्रेरणा अपने पत्रों तक में दिया करते थे। व्याकरण जैसे जटिल विषयों के सम्बन्ध में अम्बिकादत्त कौशिक को उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसमें व्याकरण के नियमों का सरल निदर्शन प्रस्तुत किया था। वह पत्र यहाँ उल्लेखनीय है - " देखिए लेने के अर्थ में जब लिए शब्द लिखा जाता है और विभक्त के रूप में आता है, तब यकार से लिखा जाता है। जो शब्द एक-वचन में यकारांत में रहते हैं वे बहुवचन में भी यकारांत ही रहते हैं। जैसे किया, किये, गया, गये, परन्तु स्त्रीलिंग में गयी न लिखकर गई लिखा जाता है; कहिए, चाहिए, देखिए इत्यादि में एकार लिखा जाता है। अकारांत शब्दों का बहुवचन एकारांत होता है; जैसे हुआ का बहुवचन हुए।"[1]

1- डॉ० वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पुराने पत्रकारों की गद्य शैली, पृ० 749.

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व आडम्बरहीन तथा सरल था । उनकी वर्णनात्मक शैली में उनका यह व्यक्तिगत गुण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । उनके समक्ष भाषा-शैली के दो वर्ग थे । एक में संस्कृत भाषा का शाब्दिक इन्द्रजाल, अलंकारिकता तथा वाह्य बनाव श्रृंगार था । दूसरे में उर्दू, फारसी का शाब्दिक बनावटीपन, चंचलता, हल्केपन में रची-बसी गतिशीलता थी और नाजो-नखरा था । इन दो परस्पर विरोधी किनारों के बीच उन्होंने अपनी भाषा-शैली को व्यावहारिक, सरल और अनलंकृत रखते हुए भी इसे अत्यधिक सशक्त तथा सरस बनाया था । कविता क्या है, इसकी परिभाषा क्या है, इस तरह के प्रश्नों पर भी उन्होने ऐसी सरल टिप्पणियाँ कीं जिनकी प्रतिपादन शैली अत्यधिक सुलझी हुई है - "संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए । उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं । दबाव से कवि का जोश दब जाता है । उसके मन में भाव आप-ही-आप पैदा होते हैं । जब वह निडर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता हैं । बनावट से कविता बिगड़ जाती है । किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण दोष को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्‌भूत हों उन्हें यदि बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय द्रावक हुए बिना न रहे । परंतु परतंत्रता या पुरष्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रूकावट के पैदा हो जाने से यदि अपने मन की बात कहने

1- डॉ0 वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पुराने पत्रकारों की गद्य शैली, पृ0 749.

का साहस ही नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है । इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है ।"[1]

उनके विचार से साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलनसेबहु-दर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवना शक्ति की धारा बहने लगी, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय । मनोरंजनमात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्र-गठन को हानि न पहुँचनी चाहिए । आलस्य, अनुयोग या विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है । रसवती, ओजस्वनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रंथ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं ।"[2]

यह तो हुआ उनका अपने युग के रचनाकारों के लिए दिशा-निर्देश। कठिन और सूक्ष्म विषयों पर सरल, वर्णनात्मक शैली में उनके लेखन का स्वरूप 'प्रतिभा' शीर्षक लेख की निम्न पंक्तियों में भी दृष्टिगोचर होता है - अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकारों के रोग हैं । उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है । प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है । प्रतिभा में मनोविकार बहुत प्रबल हो उठते हैं । विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है । जैसे विक्षिप्तता में समक्ष विलक्षण प्रकार की

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ० 189.
2- वही, पृ० 188.

होती है वैसे प्रतिभा वालों की समझ भी असाधारण होती है । वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नये-नये मार्ग निकाला करते हैं । पुरानी लीक पीटना उन्हें अच्छा नहीं लगता ।"[1] उनका 'प्रतिभा' नामक लेख वर्णनात्मक शैली का एक अच्छा उदाहरण है ।

द्विवेदीजी की वर्णनात्मक शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने गागर में सागर भरने वाली उक्ति का अनुसरण न करके एक ही बात को घुमा फिरा कर बढ़ा-चढ़ा कर इस तरह लिखने की शैली को स्वीकारा कि पाठक को उनके कथ्य के मर्म को समझने में कोई कठिनाई महसूस न हो । यही कारण था कि उनकी इस शैली में भावों को मनोवैज्ञानिक ढंग से पाठकों तक में संचरित करने की शक्ति थी । भावों की यह संचार शक्ति उनकी वर्णनात्मक शैली की विशिष्टता है । उनके छोटे-छोटे वाक्यों में चमत्कार है, प्रौढ़ता है, प्रवाह और सजीवता है तथा ऐसी रोचकता है कि उनका कथ्य स्पष्ट और बोधगम्य बन जाये । उनकी इस शैली के सम्बन्ध में निम्नांकित टिप्पणी दृष्टव्य है -

"अधिक - से - अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे । शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है । सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द -चयन - चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है ।

1- 'सरस्वती', भाग 3, संख्या एक , पृ0 263.

उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती । सार्थक पदविन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है, उसमें हमारी वह कल्पना शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है । पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुपम चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्यविन्यसास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे । अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे । द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है । उनकी भाषा में कोई संगति नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण कला से उधार लिया है । विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं वे कभी-कभी खाली चली जाती हैं - असर नहीं करतीं; परन्तु वे फिर आती हैं और असर करती हैं । लघुता उनकी विभूति है, वाक्य-पर-वाक्य आते और विचारों की पुष्टि करते हैं जैसे इस प्रदेश की छोटी लखौरी ईंटें, दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे वाक्य भी ।"[1]

आलोचनात्मक शैली —

आचार्य द्विवेदी ने अपनी लेखन शैली में जो विशिष्टता अपनाई उसमें उनकी आलोचनात्मक शैली का अत्यधिक महत्त्व है । हिन्दी में इसके पूर्व इस शैली का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था । इसी कारण द्विवेदीजीकी इस शैली ने

1- द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रस्तावना, पृ0 8.

हिन्दी पर अपनी विशिष्टता की उल्लेखनीय छाप छोड़ने में सफलता प्राप्त की ।

आचार्य द्विवेदी की आलोचनात्मक शैली में आदेशपूर्ण आलोचना प्रमुख है । भटके हुए रचनकारों को उचित मार्ग पर लाने के लिए द्विवेदी जी की सुधारात्मक भावना ने उन्हें यह शैली अपनाने की प्रेरणा दी । इस शैली के लेखन में द्विवेदी जी कहीं-कहीं तो उपदेशक जैसे प्रतीत होने लगते हैं । भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा प्रताप नारायण मिश्र की कुछ पूर्ववर्ती रचनाओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय आदेशपूर्ण आलोचनात्मक शैली प्रचलित भी थी । 'सरस्वती' में प्रकाशित एक टिप्पणी में आचार्य द्विवेदी ने लिखा था - "लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए । उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं । इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं । जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमेरिका देशों के अनेक पंडितों और लेखकों के नाम हो, जिसमें अंग्रेजी नाम, शब्द और वाक्य अंगरेजी ही अक्षरों में लिखे हों, उस रचना को लोग बहुधा पाण्डित्यपूर्ण समझते हैं । परंतु यह गुण नहीं, दोष है । हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जानने वाले भी सहज

ही में समझ जायें। संस्कृत और अंग्रेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पाण्डित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्ददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता यदि एकमात्र पाण्डित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्देश्य सफल होगा - तभी उससे पढ़ने वालों के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।"[1]

अपने तत्कालीन रचनाकारों को उचित मार्गनिर्देशन देने तथा हिन्दी साहित्य के प्रति उनको कर्त्तव्य बोध कराने की सुधारात्मक भावना द्विवेदी जी की उपरोक्त टिप्पणी में उजागर होती है। उनकी इस शैली में गुरू जैसा आदेश भी है, सुधारक जैसा उपदेश भी। उनकी आलोचनात्मक शैली की भाषा सहज ही गंभीर हो जाती है। अपने एक ऐसे ही लेख में उन्होंने भाषा की सरलता और सजीवता का उल्लेख किया है। उन्होंने इसी भाषा का अधिकतर प्रयोग भी किया है। इस भाषा में उर्दू और संस्कृत के तत्सम् और तद्भव शब्द खुलकर प्रयोग में लाये गये हैं। द्विवेदी जी की यह शैली संयत तो थी ही, सजीव भी थी। भाषा तथा बोलियों पर टिप्पणी करते हुए एक स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था -

"इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गये हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोलियों में नहीं, किन्तु हिंदी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 174-75 (सरस्वती से उद्धृत)

अरबी-फारसी के शब्द आते हैं । पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए । वे अब हिंदुस्तानी हो गये हैं और उन्हें छोटे-छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं । उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है । अँग्रेज़ी के हजारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आये हैं । यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है ? "1

प्रेरणात्मक शैली —

आचार्य द्विवेदी की प्रेरणात्मक शैली भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । इस शैली को हम ओज पूर्ण शैली भीकह सकते हैं । अँग्रेजी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर जॉन्सन और रस्किन ने इस शैली को अपनाकर अँग्रेजी साहित्य में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की थी । आचार्य द्विवेदी ने इस शैली का उपयोग अपने उन लेखों में विशेष रूप से किया है, जिनकाउद्देश्य हिन्दी भाषा की शुद्धता और परिष्कार की प्रेरणा देना, हिन्दी साहित्य की प्रगति और विकास की ओर रचनाकारों का ध्यान आकृष्ट करना, भारतीय अस्मिता, राष्ट्रीयता, स्वधर्म और आत्मगौरव की भावना पाठकों में जागृत करना होता था । उन्होंने 'सरस्वती' में शिक्षा की दीन-हीन दशा पर दुख और चिन्ता व्यक्त करते हुए एक टिप्पणी लिखी थी - "हमारे प्रान्त में शिक्षा की यह दशा है कि सौ में चार लड़के भी मदरसे

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 180-?

नहीं जाते । शिक्षा में इतना पिछड़े हुए प्रदेश के शिक्षित निवासियों के लिए हिंदी से नफरत करना क्या लज्जा की बात नहीं ? क्या उनकी अंग्रेजी - शिक्षा की बदौलत ही सारा देश शिक्षित हो जायगा ? क्या उनकी अंग्रेजी का प्रवेश गाँव-गाँव में कभी हो सकेगा ? जिस देश में उनका पालन पोषण हुआ, जिस भाषा में उन्होंने अम्मा, दद्दू और कक्कू कहना सीखा, उसका क्या उन पर कुछ ऋण नहीं ? .... हाय भारत, तेरी भूमि ही कुछ ऐसी है ‖ हो गई है ? ‖ कि उस पर कदम रखते ही लोग तेरी भाषा का अनादर करने लगते हैं । योरप और अमेरिका के जिन प्रवासियों की कीर्ति का मान बरसों सरस्वती ने किया उनका अब कहीं पता है ? कोई अध्यापकी में मस्त है, कोई बारिस्टरी में, कोई इंजिनियरी में । लिखने की प्रार्थना करो तो उत्तर मिलता है - फुरसत नहीं । लालसा नहीं, सामग्री पास नहीं ! ! ! पर अंग्रेजी लिखने के सारे साधन सदा ही उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं । हो चुकी हिंदी की उन्नति ! हो चुकी देश की उन्नति"[1]

आचार्य द्विवेदी की इस शैली में ओज तो है ही, साथ ही अपनी बात प्रस्तुत करने का ढंग ही ऐसा है कि पाठक पर तुरन्त ही इसका प्रभाव देखने को मिल सकता है । 'साहित्य की महत्ता' पर लिखते हुए द्विवेदी जी ने एक अत्यधिक प्रभावपूर्ण और प्रेरणात्मक टिप्पणी 'सरस्वती' में की थी, जिसका निम्नांकित अंश उल्लेखनीय है - "साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती । योरप

1- 'सरस्वती', अप्रैल सन् 1913, पृ0 243- 244.

में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पादन साहित्य ही ने किया है, जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है । पोप की प्रभुता को किसने कम किया है ? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है ? पदाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने । जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिन्दा करने वाली संजीवनी औषधि है, जो साहित्य पतितों को उठाने ~~को उठने~~ वाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करने वाला है उसके उत्पादन और संवर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है । अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, वह देश-द्रोही है, वह जाति द्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है ।"[1]

द्विवेदीजी की इस प्रेरणात्मक शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि यदि पाठक ने उसे ध्यान पूर्वक पढ़ लिया अथवा सुनने वाले ने एकाग्र होकर इसे सुन लिया तो उसके मन-मस्तिष्क पर उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है । 'शिक्षा' शीर्षक पुस्तक की भूमिका में उन्होंने जो कुछ लिखा

1- प्रेमनारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, साहित्य की महत्ता से उद्धृत पृ0 176 .

वह भी इसी शैली का नमूना है जो प्रभावोत्पादक भी है - " जो मनुष्य अपनी संतति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते अथवा जान बूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं, उनको विवाह करने का अधिकार नहीं ।" संतति के जीवन तथा पिता बनने के अधिकार के संबंध में द्विवेदी जी ने उपरोक्त टिप्पणी में इतनी कड़वी बातें सहजता से कह दी हैं कि पाठक के मन को वह टिप्पणी झकझोरे बिना नहीं रह सकती ।

व्यंग्यात्मक शैली :-

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की एक अन्य प्रमुख शैली व्यंग्यात्मक भी है, जिसका हिंदी में पहला-पहला सार्थक उपयोग संभवत: आचार्य द्विवेदी ने ही किया था । उनकी इस शैली में "भाषा चिकोटी काटती चलती है ।" इस शैली में " जब आचार्य द्विवेदी लिखते हैं तो उनकी भाषा में निश्चय ही बड़ी जान आ जाती है । तीव्र व्यंग्य करते समय उनकी भाषा में जो तीखा-पन दृष्टिगोचर होता है, वह बड़ों-बड़ों की धज्जियां उड़ा देता है । भ्रष्ट अनुवादों, अश्लील तथा स्तरहीन पुस्तकों, समाज की कुरीतियों और मठा - धीशों पर वे इतना तीखा व्यंग्य करते हैं कि व्यंग्य के पात्र पर तो उसका तीव्र असर होता ही है पाठकों पर भी ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे द्विवेदी जी की इस शैली का पूरा रसास्वादन करते हैं तथा उनके व्यंग्य वाणों को महसूस करते हैं ।

1- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृ० 100.

आचार्य द्विवेदी कालिदास के 'कुमार सम्भव' के अनुवाद से असंतुष्ट थे। इस अनुवाद के संदर्भ में उन्होंने 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने तीखा व्यंग्य किया। उन्होंने लिखा- 'कुमारसंभव' की भाषा में अनुवादक जी ने 'बजे जु टूटत सप्त ऋषि हाथा', 'टूटे तार की बीन समाना' लिखा था, इसमें 'टूटी माल बिखरी लटें बसे अगर सनकेस' लिखा गया। 'टूटना' क्रिया से अधिक स्नेह जान पड़ता है। 'अस्त होना' स्यात कटु था, जिससे इतना लिखा गया। अनुवादक जी अभी तक 'ठंड के पीछे पड़े थे। छोड़ते-छोडते उसे छोड़ा तो उसके स्थान पर 'जाड़ा' लिख दिया। ईंट न सही पत्थर ही सही।"[1]

आचार्य द्विवेदी दिग्गज माने जाने वाले लेखकों पर भी तीव्र व्यंग्य करने में नहीं झिझकते थे। उन्होंने एक बार बालमुकुन्द गुप्त जैसे लेखक की भाषा पर भी तीखे व्यंग्य किये थे। दंभी, पंडिताऊ, लेखन को तो वे कभी बख्शते ही नहीं थे। राम दत्त के व्याकरण की आलोचना करते हुए उन्होंने बड़े तीखे व्यंग्य वाण छोड़े थे। "इधर पुस्तकारंभ में अपनी तारीफ के जटिल काफिले, उधर पुस्तकांत में भी। जिस के सर, सनक सवार होती है वही ऐसी बातें लिख सकता है।"[2]

आचार्य द्विवेदी ज्योतिष और जन्मकुण्डली जैसे विषयों पर व्यंग्य करते समय अत्यधिक व्यंग्यपरक बन जाते हैं। अपने एक ऐसे ही व्यंग्य में उन्होंने लिखा था - " (बच्चा) आषाढ़ के उजेले पक्ष में हुआ था। उस दिन प्रदोष का

1- वेद प्रताप वैदिक, हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पृ0 749.
2- 'सरस्वती', अगस्त 1913

वृत था । शाम का वक्त था । गायें चर कर आ गई थीं । अथवा दोपहर को छूटने के बाद मजदूर फिर आ गये थे । समय के इसी निर्भ्रान्त और अचूक ज्ञान के आधार पर ज्योतिषी महाराज जन्मपत्री की ऊँची इमारत उठाते हैं । और इसी ज्ञान लोभ के द्वारा देखी गयी लग्न और गुहा से ॥ विवाह से ॥ दिन निश्चय करते हैं ।"1

द्विवेदी जी ने अस लेख में जन्मकुण्डली तथा विवाह संबंधी अंध-विश्वासों की पोल खोली थी । ज्योतिष आधारित कुण्डली जन्म समय के जिस आधार पर तैयार की जाती है, उसकी अनिश्चितता प्रबुद्ध लोगों को भली-भाँति ज्ञात है । इसी पर द्विवेदी जी ने व्यंग्य की ऐसी बौछारें की हैं कि पाठक की आँखें अंधविश्वासों के प्रति खुल जायें ।

हिन्दी में पुस्तकों के अभाव की बात अक्सर लोग किया करते थे । द्विवेदी जी को इस अभाव की बात करने वालों पर तीखा रोष था । अपने एक लेख में उन्होंने प्रश्न आधारित व्यंग्य शैली में बड़ा प्रभावोत्पादक प्रहार किया था - "पढ़ें क्या, हिन्दी में पढ़ने लायक पुस्तकें भी हैं । और कालेजों में भी उन्नत विषयों की शिक्षा हिंदी द्वारा कैसे दी जा सकती है ? दर्शन शास्त्र, सम्पत्ति शास्त्र और विज्ञान पर हैं भी कोई अच्छी पुस्तकें ? नहीं साहब, एक भी नहीं और यदि आपकी ऐसी ही कृपा बनी रही तो बहुत समय तक होने की संभावना भी नहीं ।"2

1- 'साहित्य संदर्भ - विवाह विषयक व्यभिचार', पृ0 78-89.

2- वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता - विविध आयाम, पृ0 750 पर उद्धृत ।

हिन्दी बोलने और लिखने में शर्म करने वालों पर चुटीला व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा - " कितनी लज्जा , कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अंगरेजी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है ? संस्कृत जानाना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है । इन मातृभाषा - द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे । सात समुद्र पार कर इंग्लैंड वाले यहाँ आते हैं और न जाने कितना परिश्रम और खर्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते हैं । फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान-वृद्धि करते हैं । उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्वज्ञानी बनते हैं । खुद कुछ नहीं करते । सिर्फ़ व्यर्थ कालातिपात करते हैं । अंगरेजी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं । घर में घोर अंधकार, उसे तो दूर नहीं करते, विदेश में, जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग जलाने दौड़ते हैं ।"[1]

इनके उपरोक्त लेखन में कुटीलापन भी है, ओज भी है तथा आलोचना और मार्मिक व्यंग्य भी है । द्विवेदी जी की व्यंग्यात्मक शैली बड़ी व्यावहारिक थी । जब वे व्यंग्य लिखते थे, तो उनके वाक्य बहुत छोटे

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 181

और सरल होते थे तथा अभिव्यंजना पाठक के लिए सुगम होती थी । व्यंग्य के साथ-साथ विनोद के छींटे भी होते थे, जिनकी फुहारें पाठकों को मनोरंजन तथा आनन्द प्रदान करती थीं । किन्तु उनके व्यंग्य केवल व्यंग्य के लिए न होकर सुधार के लिए भी होते थे । उनमें हास्य भी है और गंभीर गूढ़ तत्व भी । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यदि व्यंग्य के पीछे निहित उनके उद्देश्य पर ध्यान दिया जाये तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से बहुत अलग नहीं प्रतीत होती । उनके व्यंग्य में आलोचनात्मक स्वर निश्चय ही विद्यमान रहता था । और जब वे आलोचना लिखते थे , तो जैसे उनकी लेखनी व्यंग्य वाण छोड़ने से अपने को रोक ही नहीं पाती थी । उनके लेखन का एक उदाहरण उल्लेखनीय है -

"वृहस्पति को भी बारह वर्षों तक बारह खड़ी की बारीकी बताने की योग्यता रखने वाले मैं अहम्मानी महाशय न्याय, नीति, सदाचार और सच्चाई सबको एक साथ तिलांजलि दे देते हैं । प्रतिकूल समालोचना पढ़ते ही उनको हृदय में उच्चता, योग्यता, श्रेष्ठता, आत्म-मर्यादा और प्रखर पाण्डित्य के पानी की प्रबल धारा - सी बहने लगती है ।"[1]

द्विवेदी मीमांसा के लेखक प्रेम नारायण टंडन एक स्थान पर लिखते हैं - "मार्मिकता और चुटैलेपन का कारण उनका उग्र स्वभाव है । उग्र स्वभाव से हमारा आशय केवल इतना ही है कि दूसरों को सभ्यता या कर्तव्य से विमुख होते देख कर वे अपने को रोक न सकते थे ।...बाबू श्याम सुन्दर दाससम्पादित 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' के द्वितीय भाग में द्विवेदी

1- रमाकान्त त्रिपाठी - हिन्दी गद्य मीमांसा , पृ0 24।

जी का जो चरित्र छपा है, उसमें पहले उनके चरित्र के सम्बन्ध में 'उग्र स्वभाव'[1] लिखा गया था। जब द्विवेदी जी को यह मालूम हुआ तो उन्होंने इसके विरोध में इण्डियन प्रेस को लिखा। फलतः, 'उग्र स्वभाव' निकाल दिया गया।"[1]

द्विवेदी जी के व्यंग्य के पीछे निश्चय ही कोई उग्रता नहीं होती थी। उनका व्यंग्य सोद्‌देश्य होता था। 'सरस्वती' में उन्होंने लिखा था "प्रहसनों और हँसी - मजाक के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है। हिंदी में साहित्य के इस अंश को बहुत कमी है।"[2]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी के व्यंग्य का उद्‌देश्य समाज और साहित्य के दोषों को दूर करना तथा पाठक को लाभ पहुँचाना हुआ करता था। साथ ही वे यह प्रयास भी करते थे कि उनके ऐसे लेखन से पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन हो सके।

पंडित प्रभु दयाल मिश्र ने उर्दू भाषा में महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद किया था। आचार्य द्विवेदी को उस अनुवाद में अनेक दोष दिखाई दिये। उन दोषों का उल्लेख करते हुए आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती'

1- रमाकान्त त्रिपाठी - हिन्दी गद्य मीमांसा, पृ0 181-182

2- 'सरस्वती' भाग 16 अंक 1, पृ0 61..

में लिखा -

"जो लेखक छः मात्राओं वाले चित्रकूट और पाँच मात्राओं वाले दामागीरी को संस्कृत ज़बान में व्यंजन समझता है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझने बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं ।"[1]

द्विवेदी जी ने ऐसेचुटीले व्यंग्य अकसर किये हैं । उनकी आलोचनात्मक शैली में भी ऐसे व्यंग्य अकसर ही देखने को मिलतें हैं । यदि इसे उनकी आलोचनात्मक शैली का ही एक रूप कहा जाये तो अनुचित न होगा । इस प्रकार की व्यंग्यात्मक और कटाक्षपूर्ण शैली का प्रयोग उन्होंने पाठकों के मनोविनोद के लिए ही नहीं किया है वरन साहित्य और विषय के संदर्भ में भी उन्होंन ऐसे व्यंग्य किये थे । किन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि उन्होंने हास्य और मनोविनोद के लिए व्यंग्य का प्रयोग अपने लेखन में किया ही नहीं । इतना अवश्य है कि उनके ऐसे व्यंग्य से भी किसी को कष्ट नहीं होता था, किन्तु पाठक का मनोरंजन अवश्य हो जाता था । उनके व्यंग्य की यही शिष्टता थी कि वे सरल हास्य की सृष्टि तो करते थे, किन्तु किसी के मन को चोट नहीं पहुँचाते थे । इससे यह भी इंगित होता है कि उनके स्वभाव में भी विनोदप्रियता तथा मसखरापन निहित था । ऐसी ही सरल व्यंग्य शैली में उन्होंने लिखा था - " इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन {जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं} श्रीमान् बूचा शाह

---

1 - 'सरस्वती' भाग 17 अंक 6, पृ0 416 .

हैं । बाप - दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है । पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं । चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि आपकी कारगुजारी गवर्नमेन्ट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें । म्यूनिसिपैल्टिी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से । इसके एक मेम्बर हैं बाबू बख्शिश-राय । आपके साले साहब ने फ़ी रुपये तीन-चार पसेरी का भूषा म्यूनिसि-पैलिटी को देने का ठेका लिया है । आपका पिछला बिल दस हजार रुपये का था । पर कूड़ा - गाड़ी के बैलों और भैसों के बदन पर सिवा हड्डी के, मांस नजर नहीं आता । सफ़ाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सतगुरु दास । आपकी इन्स्पेक्टरी के जमाने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं । फजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था । सेठ सर्वसुख उसके तीन हजार देते थे । पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला । उसके 6 महीने बाद म्यूनिसपैलिटी के मैंबर पंडित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही जमीन हजार पर बेंच दी गई ।"[1]

आचार्य द्विवेदी की यह सुदृढ़ मान्यता थी कि हास्य-व्यंग्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन की नहीं और मात्र साहित्य ही नहीं, वरन समाज के दोषों की ओर इंगित करना और उन्हें दूर करने का प्रयास भी होता है

एक बार आक्सफोर्ड से 'सरस्वती के एक पाठक शिवचरण दास ने आचार्य द्विवेदी पर बड़ा तीक्ष्ण प्रहार किया था । । उस पाठक ने 'सरस्वती

1- प्रेमनारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 184-185.

के 15 जनवरी सन्, 1909 के अंक को वापस करते हुए लिखा था - "बारह मयत्य' के भेजे हुए Article में जो अंत में 4 व 5 शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर जरूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवासियों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है ।"[1]

इस पत्र का द्विवेदी जी ने जो उत्तर दिया वह स्वयं अपने आप में उनकी व्यंग्य शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है । उन्होंने 7-2-1909 को पत्रोत्तर में अत्यधिक शिष्टता पूर्वक जो व्यंग्य किया वह दृष्टव्य है - "आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस 'दास' भाव से आपको इतनी घृणा है उसे आपने सदा के लिए अपने नाम के साथ बाँध कर रक्खा है । अस्तु ।"[2]

आचार्य द्विवेदी जब अपने लेखन के द्वारा व्यंग्य वाण चलाते थे उस समय उनकी लेखनी में अत्यधिक निर्भयता, सत्यनिष्ठा तथा निष्काण्ट भाव समाहित हो जाता था । उनके व्यंग्य में विरोध कम साहित्यिक अहम् अधिक होता था । अपनी लेखिनी द्वारा व्यंग्य करते समय द्विवेदीजी ने सदैव उस लोकोक्ति का ही पालन किया जिसमें 'साँप मरे और लाठी भी न टूटे' के विचार को सराहा गया है । उनकी लेखन शैली ने सम्पादकीय शिष्टता और गम्भीरता की लक्ष्मण रेखा को कभी पार करने का प्रयास

1- प्रेम नारायण टंडन - द्विवेदी मीमांसा, पृ0 185.

2- वही, पृ0 186.

नहीं किया । 'सरस्वती' के पुराने अंकों पर दृष्टिपात करने से यह मान्यता स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है । उन्होंने जो भी व्यंग्य किये, उनमें सत्य था और निष्कपट भाव भी । उन्हें न किसी से विरोध था न वैर ।

आचार्य द्विवेदी ने व्यंग्यात्मक शैली में जो टिप्पणियाँ की हैं, उनकी पृष्ठभूमि में हिन्दी भाषा और साहित्य की तत्कालीन परिस्थितिया भी रही हैं । भाषा, साहित्य और आलोचना का आदर्श क्या हो, इस सम्बन्ध में उस समय बहुत वाद-विवाद हो रहा था और विद्वान लेखक एक - दूसरे पर आक्षेप भी कर रहे थे । द्विवेदी जी स्वभाव से वाद-विवाद से अपने को अलग रखना चाहते थे । किन्तु 'सरस्वती' और उससे सम्बन्धित रचनाकारों पर लगाये जा रहे आक्षेप तथा लांछन उन्हें असह्य थे । ऐसी अनर्गल बातों का मुँह तोड़ जवाब देने के लिए उन्होंने जिस शैली को अपनाया, उसमें व्यंग्य और हास्य तो था ही तिखा कटाक्ष, चुटीलापन और मार्मिकता भी थी । मार्मिकता इस कारण थी, कि साहित्य के सम्बन्ध में उनके मन में गहरी सद्भावना थी और उत्तरदायित्व का बोध था । उनकी इस शैली में उत्तरदायित्व बोध के कारण कहीं - कहीं उग्रता अवश्य दिखायी देती है, किंतु वे अधिकतर तर्क-वितर्क का सहारा लेते हैं । उनके इस तर्क-वितर्क में भी ओज, व्यंग्य, हास्य तथा गम्भीरता का मिला-जुला प्रौढ़ स्वरूप दिखायी देता है । अपने तर्क को प्रमाणित करने के लिए वे अकसर अन्य पुस्तकों की टिप्पणियों तथा विद्वानों की सम्मतियों को भी आधार बनाते थे । किन्तु यदि कोई छोटे मुँह बड़ी

बात करने की चेष्टा कर रहा हो, तो उस पर तीखा व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते थे । उनकी व्यंग्य शैली इन्ही कारणों से अत्यधिक प्रौढ़ और परिष्कृत है ।

भावात्मक शैली :-

हिन्दी साहित्य में भावात्मक शैली का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचनाकाल में ही हो चुका था । ठाकुर जगमोहन सिंह भी इस शैली के जन्मदाताओं में गिने जाते हैं । भारतेन्दु की रचनाओं में तो इस शैली के अनेक उदाहरण दिखाई देते हैं ।

आचार्य द्विवेदी के हृदयोदगार जब बहुत तीव्र होते थे तो उनकी रचना में भावावेश स्वयं ही आ जाता था । भारत की कूप-मंडूकता से द्विवेदी-जी बहुत क्षुब्ध थे। यही कारण था, कि उन्होंने जब 'पृथ्वीप्रदक्षिणा शीर्षक पुस्तक की आलोचना 'सरस्वती' में लिखी तो अत्यधिक भावुक हो उठे, और लिखा - " कूप-मंडूक भारत , तुम कब तक अन्धकार में पड़े रहोगे ? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता ? क्या तुम्हें अपने पुराने दिनों की कभी याद नहीं आती ? "[1]

प्रायः इसी प्रकार के विषयों पर लिखते समय उनकी भावात्मक शैली उजागर होती थी । एक और विशिष्टता थी कि जब वे प्रसन्नता के भाव

1- 'सरस्वती' , अगस्त 1914.

प्रकट करते थे तो उनके वाक्य बहुत छोटे हो जाते थे। बम्बई, मद्रास और बंगाल के विश्वविद्यालयों में जब इतिहास, भूगोल तथा गणित जैसे कुछ विषयों की शिक्षा मातृभाषा में देने का निर्णय हुआ, तो उन्होंने 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा' शीर्षक अपनी टिप्पणी में लिखा था - "अच्छी बात है। शुभ लक्षण है। जागृति के चिन्ह हैं। अंधविश्वास का पटल हट रहा है। विवेक सूर्य की किरणें फैलाने लगी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी और अंग्रेजी भाषा के ज्ञानी भी अब जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।"[1]

आचार्य द्विवेदी भारत के प्राचीन ज्ञान-विज्ञान तथा सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति इतने भावुक थे, कि किसी भी ऐसे विषय पर जब उनकी लेखनी चलती तो उसमें भावनाओं की ही प्रधानता आ जाती थी। 'भारत में हीरों की खानें' शीर्षक एक निबन्ध में उन्होंने अतीत कालीन गौरव का स्मरण करते हुए निम्न प्रकार से लिखा था - "भारतवर्ष, क्या तुम्हें कभी पुराने दिनों की याद आती है। क्या तुम्हें इस बात का स्मरण स्वप्न में भी होता है कि किसी भी समय तुम ज्ञान-विज्ञान, सम्मान आदि सभी विषयों में रत्नोपमान थे? धन-जन-प्रभुता में तुम अपना सानी न रखते थे। स्वर्ण और रजत की ही नहीं, हीरों तक की एक नहीं अनेक खानें तुम्हारी ही रत्नगर्भा भूमि के भीतर भरी पड़ी थीं। चेतो, जागो, कर्म और चेष्टा करना सीखो।"[2]

1- 'सरस्वती', नम्बर 1916.

2- 'सरस्वती', खण्ड 29, संख्या 6, पृ0 642.

किसी आत्मीय व्यक्ति के निधन पर शोकोद्गार व्यक्त करते समय भी आचार्य द्विवेदी की भावनात्मक शैली ही मुखर हो जाती थी। राय देवी प्रसाद पूर्ण के निधन पर उन्होंने बड़े मार्मिक भाव से लिखा था - "बड़े दुःख की बात है, बड़ी ही परिताप का विषय है, बड़ी ही हृदय - दाहक घटना है - राय देवी प्रसाद अब इस लोक में नहीं। गत 30 जून को सबेरे 10 बजे वे उस धाम के पथ के पथिक हो गये जहाँ से फिर कोई लौटकर नहीं आता - 'यदगत्वा न निवर्तंते'। ऐसे सच्चे देश भक्त ऐसे उत्कट कवि, ऐसे हार्दिक हिंदी प्रेमी, ऐसे धुरीण धर्मिष्ठ की निधन - वार्ता अचानक सुननी पड़ेगी, इसका स्वप्न में भी ख्याल न था, सुनकर सिर पर वज्रपात-सा हुआ; कलेजा काँप उठा। दूर होने के कारण अपने इस मान्नीय मित्र के अंतिम दर्शनों से भी यह जन वंचित रहा। शोक! जिसकी हास्य - रस पूर्ण पर तर्क-संगत और युक्तियुक्त वक्तृता सुनकर कुछ समय पूर्व श्रोता लोग लखनऊ में मुग्ध हो गये थे वह विद्वान, वह नामी वकील, वह धर्म - प्राण पुरूष केवल 45 वर्ष की उम्र में अपने प्रेमियों को अपने नगर के निवासियों को, अपने मित्रों और कुटुम्बियों को रूलाकर चल दिया।"[1]

इसी प्रकार पं0 बालकृष्ण भट्ट के निधन पर उन्होंने भावात्मक शोकोद्गार प्रकट किये थे - "भट्ट जी, तुम्हारे शरीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी व्यथा हुई। उस व्यथा की इयन्ता हम किस प्रकार बतावें। हमारा कंठ रूँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु हैं, हमारा शरीर अवसन्न है।"[2]

1- 'सरस्वती', जुलाई, 1915
2- 'सरस्वती', अगस्त, 1914

कुछ विद्वानों के अनुसार - आचार्य द्विवेदी की रचनाधर्मिता में बुद्धि की ही प्रधानता रही है, भाव की नहीं । सम्भवत: इसी कारण डॉ0 मु0 व0 शाहा ने अपने शोध-प्रबन्ध में यह टिप्पणी की है कि "उत्तम भावनात्मक शैली से युक्त द्विवेदी का कोई निबन्ध नहीं है ।"[1] किन्तु यह वास्तविकता नहीं है । द्विवेदी जी ने अनुमोदन का अंत', 'सम्पादक की विदाई', 'माघ का प्रभात वर्णन', 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' जैसे अनेक ऐसे निबन्ध लिखे हैं जिनमें भावात्मक शैली की ही प्रधानता है । हाँ सच है कि उन्होंने कुछ ऐसे निबन्ध भी लिखे, जिनका अल्पांश भावात्मक है । और इसमें भी संदेह नहीं कि आचार्य द्विवेदी उन साहित्यिक सम्पादकों में नहीं थे, जो साहित्य में भावराशि को ही प्रधानता देते हैं । वे तो ज्ञान राशि के संचित कोश को ही साहित्य मानते थे । किन्तु इसके बावजूद राष्ट्रीयता अथवा मातृभाषा के प्रश्न पर, भारत की अस्मिता के संबंध में और किसी आत्मीय जन के निधन अथवा विदाई के अवसर पर जब वे कुछ लिखते थे तो उनकी लेखनी स्वाभाविक रूप से भावात्मक हो जाती थी । शुद्ध भावात्मक निबन्धों में ही नहीं, अपितु गम्भीर विचारात्मक निबन्धों में भी कहीं-कहीं ऐसे स्थल आ जाते हैं, जिनमें उनकी भावात्मक शैली ही मुखर हो उठती है । उनका एक विचारोत्तेजक निबन्ध है 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता । इस रचना के कुछ वाक्य अत्यधिक भावात्मक हैं - "हाय वाल्मीकि ! जनकपुर में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार वैवाहिक वेश

1- डॉ0 मु0 व0 शाहा, हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन, पृ0 227 ·

में दिखाकर चुप हो बैठे । अयोध्या आने पर ससुराल में उसकी सुधि आपको न आई थी, तो न सही, पर क्या लक्ष्मण के वन-प्रयाण के समय में भी उसका दुःखाश्रुविमोचन करना आपको उचित न जंचा ? रामचंद्र के राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो रहीं थीं, तब राजान्तःपुर ही क्यों सारा नगर नन्दन बन बन रहाथा, उस समय नवला उर्मिला कितनी खुशी मना रही थी, तो क्या आपने नहीं देखा ।"[1]

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी और उसके साहित्य को जीवन के समीप लाने का प्रयत्न किया था । आचार्य द्विवेदी ने उसी हिन्दी और उसके साहित्य को विश्वालोक में ला खड़ा किया ।"[2] द्विवेदी जी की भाषा-शैली "जन-जीवन के इतना अनुकूल है कि उनकी शैली का अनुकरण समाचार पत्रों के क्षेत्र में अधिक किया गया । उनकी शैली के इस सामूहिक सत्कार ने शैली के भविष्य के लिए बहुत बड़े द्वार का उद्घाटन कर दिया ।"[3]

आचार्य द्विवेदी संस्कृत , बंगला , मराठी, उर्दू,अंग्रेजी, आदि भाषाओं के ज्ञाता थे और उन्होंने इन सभी भाषाओं की शैलियों के अनुकूल स्वरूपों को सहर्ष ग्रहण किया । डॉ० श्री कृष्ण लाल के शब्दों में - "एक ओर तो संस्कृत का शब्दाडंबर, अलंकार-प्रियता और वर्णन - नैपुण्य , दूसरी ओर बंगला भाषा की रसात्मकता और भावुकता की बाढ़, कोमल

1- रसज्ञ रंजन, कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता, पृ० 482 ·

2- शंकर दयाल चौऋषि - द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ० 170·

3- वही

कान्त पदावली तथा व्यंजनापूर्ण विशेषण, चौथी और उर्दू की उक्ति-वैचित्र्य भाषा की उछल-कूद, नाज व अंदाज तथा विनोद-प्रियता और अंग्रेजी की स्पष्ट और सरल व्यंजना तथा प्रभावशालीनता अपने प्रभाव डाल रहे थे। उस समय हिन्दी ने अंग्रेजी की स्पष्ट भाव-व्यंजकता, बंगला की सरसता और माधुर्य, मराठी की गंभीरता और उर्दू का प्रवाह ग्रहण किया और इस प्रकार एक सन्तुलित और समन्वित भाषा-शैली और भाव - धारा का विकास किया।"[1]

देश, काल तथा सामाजिक-राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुकूल तत्वों को आचार्य द्विवेदी तथा उनके पथ-प्रदर्शन में चलने वाले रचनाकारों ने पूरी तरह स्वीकार किया। इसके साथ ही प्रतिकूल तत्वों को पूरी तरह इन रचनाकारों ने त्याज्य माना। उन्होंने - "उर्दू की अत्यधिक उछल-कूद, अगंभीरता और अतिशयोक्ति, मराठी की विशेष आलंकारिकता, बंगला की अत्यधिक रसात्मकता और संस्कृत की अनुप्रास, यमक-प्रियता और उद्भुत शब्द जाल को बिलकुल नहीं अपनाया।"[2]

द्विवेदी जी के पूर्व रचनाकारों का प्रधान लक्ष्य पाठक की रागात्मकता को प्रेरित करके उसके हृदय को स्पर्श करना मात्र होता था। द्विवेदी युग में उनके नेतृत्व में साहित्य-पथ पर अग्रसर हो रहे रचनाकारों का ध्यान

1- डॉ० श्रीकृष्ण लाल, हीरक जयंती ग्रंथ, पृ० 153

2- डॉ० श्रीकृष्ण लाल, आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० 176.

पाठक की बौद्धिक क्षुधा की तृप्ति करने की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। परिष्कृत जन-रुचि के अनुकूल बौद्धिक तुष्टि के लिए प्रभावी तथा कलात्मक शैली में सामग्री प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया। इस विशेष परिस्थित में द्विवेदी युग की विभिन्न शैलियों के विकास को बहुत अनुकूल और प्रशस्त मार्ग प्राप्त हुआ। द्विवेदी युग की विभिन्न साहित्यिक शैलियाँ लोको-पकारी हो गई, उनमें जन-जन की भावना तथा युग-चेतना को आत्मसात किया गया। विभिन्न विषयों के साथ-साथ विभिन्न शैलियाँ भी विकसित हुई। आचार्य द्विवेदी ने उस काल में साहित्य के क्षेत्र में युग नेतृत्व किया। उन्होंने भाषा के नियामक के साथ-साथ शैलीकारों के अनुशासक की भी भूमिका का सफल निर्वाह किया। इसी कारण वे साहित्यकारों का सृजन करने में भी सफल हुए। द्विवेदी युग हिन्दी साहित्य में विशेष रूप से गद्य शैलियों के निर्माण का स्वर्णयुग था। इस युग में निबन्ध, नाटक, कहानियाँ यात्रा-विवरण, जीवनचरित्र तथा विभिन्न भौतिक, आध्यात्मिक, ~~साहित्यि~~ साहित्यिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, स्थूल-सूक्ष्म विषयों पर लेखादि लिखे गये। आचार्य द्विवेदी ने स्वयं इन सब की शैलियों का सूत्रपात किया उनके प्रयास से विषय-प्रधान ही नही, वस्तु प्रधान रचनायें भी लिखीं गईं, और उनमें कलात्मकता तथा सौन्दर्य बोध की स्थापना की गई। किन्तु इन सब की पृष्टिभूमि में उपयोगितावाद प्रधानरूप से अपना प्रभाव दिखाता रहा। इस युग की सबसे उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि प्रेमचन्द, राम चन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, मैथलीशरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट, सुदर्शन, पद्मसिंह शर्मा, विशम्भर नाथ शर्मा कौशिक, पदुमलाल पुन्ना

लाल बख्शी, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राजेश्वर प्रसाद सिंह, जी0 पी0 श्रीवास्तव, चण्डी प्रसाद हृदेश, पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्ण दास, कामता प्रसाद गुरू, केशव प्रसाद मिश्र, गंगा नाथ झा, वृन्दावन लाल वर्मा, लक्ष्मी धर बाजपेयी, राय कृष्ण दास जैसे अनेक प्रतिभाशाली शैलीकारों का हिन्दी साहित्य में उदय हुआ। पं0 रामचन्द शुक्ल ने अपनी प्रथम रचना 'ग्यारह वर्ष का समय' सन् 1903 में, वृन्दावन लाल वर्मा ने प्रथम रचना 'राखीबन्द भाई' सन् 1909 में, जयशंकर प्रसाद ने प्रथम रचना 'ग्राम' 1911 में, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी प्रथम रचना 'सुखमय जीवन' 1911 में, विश्म्भर नाथ शर्मा कौशिक ने प्रथम रचना 'रक्षा बन्धन' 1913 में, राजाराधिका रमण प्रसाद सिंह ने 'कानों में कंगना' 1913 में, चतुरसेन शास्त्री ने प्रथम रचना 'गृह लक्ष्मी' 1914 में, प्रेमचन्द ने 'पंच परमेश्वर' 1916 में, राय कृष्ण दास ने प्रथम रचना 1917 में और राजेश्वर प्रसाद सिंह ने अपनी प्रथम रचना 'उमा' सन् 1919 में प्रकाशित करवा कर द्विवेदी युग के श्रेष्ठ साहित्यकारों में अपना नाम दर्ज करवाया था। इस युग के श्रेष्ठ साहित्यकारों में से कुछ ने द्विवेदी युग के प्रारम्भिक काल में तथा कुछ ने मध्य काल में अपनी प्रथम रचनायें प्रस्तुत करके आगामी दो दशकों की अवधि में चोटी के साहित्यकारों की पंक्ति में अपने को स्थापित कर लिया था। साहित्य की इन महान विभूतियों में कुछ प्रतिभायें तो ऐसी प्रतिष्ठित हुई जिन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक अमूल्य और अमर ग्रन्थों से परिपूरित किया।

हिन्दी साहित्य की शैलियों पर अनुवादों का प्रभाव

अनुवादों के माध्यम से भी हिन्दी साहित्य की शैलियों के विकास को पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई । इसमें संदेह नही कि विभिन्न भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद का महत्वपूर्ण कार्य आचार्य द्विवेदी ने किया था । किन्तु उनके अतिरिक्त पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा, बाबू गोपाल राम गहमरी, पं० रामचन्द्र शुक्ल , रूप नारायण पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा, गंगा प्रसाद गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि रचनाकारों ने भी इस क्षेत्र में उल्लेख-नीय कार्य किये थे । अनुवादों के माध्यम से विलयम शेक्सपियर, लार्ड फ्रैंसिस बेकन, गार्ल्सवर्दी, ओलिवर गोल्ड स्मिथ, आर्थर कानन डायल, विक्टर ह्यूगो, ड्यूमा, मोलियर, इलियट, एच० जी० वेल्स आदि अंग्रेजी साहित्य के लेखकों ने हिन्दी भाषा-शैली को पर्याप्त रूप में प्रभावित किया । बंगला-साहित्य के बंकिम चन्द्र, द्विजेन्द लाल राय, रमेश चन्द्र दत्त, गिरीश चन्द्र घोष, चण्डी शरण सेन, रखालदास बन्धोपाध्याय, माइकल मधुसूदन दास, चारूचन्द्र, रवीन्द्र नाथ ठाकुर आदि प्रतिष्ठित लेखकों की उत्कृष्ट शैलियों ने भी हिन्दी साहित्य की नवविकसित शैलियों को प्रभावित किया । संस्कृत साहित्य के अप्रतिम साहित्यकार कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट, भारवि, अश्वघोष, राजशेखर, शूद्रक, विशाखदत्त, हर्ष आदि ने भी तत्कालीन हिन्दी साहित्य की शैलियों पर अपना गहरा प्रभाव डाला । मराठी साहित्य के संत ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास , संत तुकाराम, बाल गंगा

धर तिलक आदिने तत्कालीन हिन्दी साहित्य से अपना निकट संबंध अपनी गहन अनुभूतियों तथा परिपक्व विचारों के माध्यम से स्थापित किया। इन भाषाओं के साहित्य में स्थापित शैलियां, मुहावरे, शब्द, उक्तियां, पद-विन्यास, वाक्य-योजना आदि अनुवादों के माध्यम से हिन्दी भाषा में कहीं मूल रूप में और कहीं परिवर्तित रूप में स्थान पा गयीं। इससे निश्चय ही हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि हुई। कुछ आलोचकों का मत है कि अनुवादों के जाल में फँस कर अनेक हिन्दी रचनाकारों की मौलिक प्रतिभायें कुंठित हो गई थीं। किन्तु उत्तर द्विवेदी युग में जब भाषागत अव्यवस्था समाप्त हुई, उस समय हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में ऐसी विभूतियां भी प्रकट हुईं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को ऐसे ग्रन्थ भी दिये जो अमूल्य तो हैं ही, अजर-अमर भी हैं। युगीन परिस्थितियों ने भी साहित्य को गोष्ठियों, सम्मेलनों के दायरे से निकाल कर जन-जीवन में प्रवेश करने का अवसर दिया। मुद्रण कला धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। और यातायात के साधन भी बढ़ते जा रहे थे। इससे साहित्य की वाहक पत्र-पत्रिकायें भी तीव्र गति से एक विस्तृत क्षेत्र के जन समूह के निकट पहुँचने लगी थीं।

प्रेमचन्द्र, सुदर्शन, पद्म सिंह शर्मा, स्वामी सत्यदेव जैसे रचनाकार पहले हिन्दी भाषा में न लिख कर अपनी रचनाओं से अन्य भाषाओं की श्रीवृद्धि कर रहे थे। द्विवेदी युग की अनुकूल परिस्थितियों ने ऐसे विशिष्ट रचनाकारों को हिन्दी की ओर आकृष्ट किया। ऐसे साहित्यकार अन्य

के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती । उस युग की इन पत्र-पत्रिकाओं तथा विशेष रूप से द्विवेदी जी तथा उनकी 'सरस्वती' की अगुवायी का ही यह सुफल था कि द्विवेदी युग के समाप्त होते -होते विशिष्ट शैलियों में हिन्दी पद्य तथा गद्य की उत्कृष्ट रचनायें प्रस्तुत करने वाले मौलिक शैलीकारों की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्याकाश में हो सकी ।

सम्पादकीय शैली :-

आचार्य द्विवेदी की सम्पादकीय टिप्पणियों पर दृष्टि डालने से सहज ही यह अनुभूति होती है, कि उन्हें अपने पाठकों से इतना स्नेह था कि वे बड़े आत्मीय भाव से अपने विचार पाठक के मन -मस्तिष्क तक सम्प्रेषित करने का प्रयास करते थे । इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शैलीकार का सबसे बड़ा गुण यही होता है कि वह अपने पाठक से ऐसी आत्मीयता स्थापित करने में समर्थ होता है कि पाठक के हृदय तथा मस्तिष्क के बीच भी वह तादात्म स्थापित कर लेता है । आचार्य द्विवेदी में यह शैलीगत विशिष्टता उत्कृष्ट रूप में प्रस्फुटित हुई थी । द्विवेदी जी की सम्पादकीय टिप्पणियों में कहानी जैसी सरसता होती थी, जिनके माध्यम से पाठक का ज्ञानवर्द्धन भी होता था और मनोरंजन भी । शंकर दयाल चौऋषि के अनुसार आचार्य द्विवेदी की सम्पादकीय टिप्पणियां "बातों का संग्रह हैं ।"[1]

वास्तविकता यही है कि आचार्य द्विवेदी अपनी सम्पादकीय टिप्प - णियों के माध्यम से अपने पाठकों से स्नेह पूर्वक बातें किया करते थे । सम्पाद -

---

1- शंकर दयाल चौऋषि - द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, पृ0 163

कीय में उन्हें साहित्यिकता के निर्वाह के साथ-साथ राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, संस्कृतिक ही नहीं अपितु पुरातात्विक विषयों के गाम्भीर्य के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किरने के साथ ही पाठकों के प्रति भी अपनी कर्त्तव्य निष्ठा का निर्वाह करना होता था। इसके लिए उन्होंने गहरी सूझ-बूझ और मार्मिक दृष्टि से परिपूर्ण शैली को अपनाया था। विषयानुसार उनके स्वर में प्रशंसा, कठोरता, व्यंग्य, आक्रोश, आवेश और तीव्रता का समावेश होता था और पूरा उतार - चढ़ाव भी दिखता था। यह अवश्य है कि उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों में आवेग और आक्रोश अकसर अधिक दृष्टिगोचर होता था। इसमें उनकी कोई निश्चित शैली नहीं थी। वह विषय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होती रहती थी। यही उनकी सम्पादकीय टिप्पणी की सब से बड़ी विशिष्टता थी। द्विवेदी जी चूंकि साहित्यिक पत्रकारिता के उस युग के अग्रणी सम्पादक-रचनाकार थे, अतः अन्य साहित्यिक पत्रों ने भी उनका ही अनुसरण करने का प्रयास किया और सम्पादकीय टिप्पणियों की यही विविधात्मक, परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनीय शैली विकसित हुई।

काका कालेलकर ने आचार्य द्विवेदी की भाषा शैली की चर्चा करते हुए लिखा था - "द्विवेदी जी सचमुच हिन्दी साहित्य के महावीर थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भले ही वर्तमान हिन्दी के जनक हों, किन्तु टकसाली हिन्दी का, जिसका कि आज सब जगह प्रचलन है, स्वरूप का निर्णय और प्रचार करने में महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का बहुत बड़ा हिस्सा है।"[1]

1- साहित्य सन्देश, भाग 2, अंक 8, अप्रैल, 1939, पृ० 358

इसी प्रकार डॉ० श्याम सुन्दर दास ने अपनी टिप्पणी में कहा था - " द्विवेदी जी का महत्व उनके लेखों में नहीं है । उनका महत्व विशेषकर इसी बात में है कि उन्होंने भाषा को परिमार्जित और सुन्दर रूप देने का सफलतापूर्वक उद्योग किया । कहें तो कह सकते हैं कि वे वर्तमान हिन्दी भाषा के निर्माता के नाम से प्रसिद्ध रहेंगे ।"[1]

आचार्य द्विवेदी की भाषा-शैली के सम्बन्ध में पुरूषोत्तम दास टंडन ने सत्य ही कहा था - " द्विवेदी जी ने कठोर परिश्रम करके हिन्दी गद्य-शैली में एक निश्चित शैली की स्थापना की .... ।"[2]

यह एक ध्रुव सत्य है, कि आचार्य द्विवेदी के ही अध्यवसाय से हिन्दी की जातीय शैलियों का विकास हुआ, उनकी अभिव्यंजना शक्ति का प्रौढ़ स्वरूप निखर सका, लोक-रूचि का परिष्कार हुआ, विभिन्न शैलियाँ राष्ट्रीय चेतनामय हो सकीं, हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में नयी-नयी प्रतिभाओं का प्रादुर्भाव हुआ, युग की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को नया दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ, साहित्यिक पत्रकारिता में एक नयी तथा विशिष्ट क्रांति का जन्म हुआ, और इसमें साहित्यिक आदर्शवादिता का उदय हुआ, जिसका प्रभाव आगे आने वाले युगों में भी विविध रूप-स्वरूपों में देखने को मिलता है ।

1- साहित्य संदेश, भाग 2, अंक 8, अप्रैल, 1939, पृ0 358

2- वही

षष्टम् अध्याय

द्विवेदीयुगीन रचनाओं के विधा - रूप

= काव्य - विधा

- महाकाव्य

- खण्डकाव्य

= द्विवेदीयुगीन गद्य विधायें

- नाट्य - विधा

- उपन्यास - विधा

- कहानी - विधा

- निबन्ध - विधा

- आलोचना - विधा

- अन्य विधायें

द्विवेदीयुगीन रचनाओं के विधा - रूप

द्विवेदीयुगीन पत्रकारिता साहित्यिक पत्रकारिता का वह स्वर्ण युग है, जब व्यापक राष्ट्रीय चेतना तथा नवजागरण ने साहित्य में अनेकानेक विधाओं के विकास और प्रगति को प्रेरित किया । इस काल में हिन्दी के लगभग सभी पत्रकार साहित्यकार थे,, और सभी उत्कृष्ट साहित्यकार, पत्रकार भी थे । इस कारण भी साहित्य की सभी विधाओं को विकास का पूरा अवसर प्राप्त हुआ । यह मात्र संयोग नहीं था, कि सन् 1900 में 'सरस्वती' के प्रकाशन तथा सन् 1903 में द्विवेदी जी द्वारा उसका सम्पादकत्व ग्रहण करने के साथ ही हिन्दी साहित्य में प्रगति और विकास के नये आयाम जुड़ गये । इसके पीछे 'सरस्वती' के प्रकाशन का सिद्धान्त वाक्य "सरस्वती श्रुति महती न हीयाताम् " अर्थात सरस्वती ऐसी श्रुति है जिसका कभी नाश नहीं होता और आचार्य द्विवेदी का अथक परिश्रम और मौलिक चिन्तन था । इस काल - खण्ड ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को सर्वस्वीकृत पथ-प्रदर्शक, विचारक तथा साहित्य - नेता स्वीकार किया था । इसी कारण इस काल - खण्ड का नाम ही द्विवेदी युग पड़ गया । नवजागरण तथा बहुमुखी सुधार का यह ऐसा युग था, जिसमें विभिन्न साहित्यिक विधाओं के विकास पर द्विवेदी जी की स्पष्ट छाप दिखायी पड़ती है । इस युग में इतिवृत्तात्मकता, उपदेशात्मकता

भारतेन्दु युग में आर्य समाज आदि के सामाजिक, धार्मिक सुधार आन्दोलनों का साहित्य पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा । द्विवेदी युग में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय चेतना ने गद्य शैलियों तथा विधाओं को प्रभावित किया ।

द्विवेदी युग में साहित्यिक प्रगति को पूरी तरह समझने के लिये आवश्यक है, कि सन् 1857 की क्रान्ति के बाद से भारत की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का आकलन किया जाय । वास्तव में भारतीय इतिहास का यह काल-खण्ड ब्रिटिश दमन-चक्र तथा कूटनीति और आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियासोफिकल सोसाइटी और इण्डियन नेशनल कांग्रेस के माध्यम से भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म, राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया के शुभारम्भ का युग था । सन् 1857 की क्रान्ति के बाद, 1858 में महारानी विक्टोरिया के घोषणा - पत्र में भारतीय जनता के प्रति सहृदयता तथा सदाशयता का भरपूर प्रदर्शन किया गया । साथ ही ब्रिटिश सरकार की ओर से कुछ सुधार भी लागू हुये थे । इससे आशान्वित होकर कुछ भारतेन्दु युगीन साहित्यकारों ने राजराजेश्वरी विक्टोरिया की जय-जयकार किया तथा अंग्रेजों की प्रशस्तियाँ भी लिखीं । किन्तु कुछ छोटे सुधारों के अतिरिक्त पीड़ित भारतीय समाज के लिये वास्तविक अर्थों में कुछ हुआ नहीं । जनता की आशायें अपूर्ण रहीं । कुछ तो ऐसे काले और प्रतिगामी कानून भी अंग्रेजों द्वारा बनाये गये,

जिनसे जनता में गहरा असंतोष और क्षोभ भड़कने लगा । अंग्रेजों की आर्थिक नीतियाँ भी भारतीय समाज के लिये असहय होती जा रही थीं । कच्चा माल भारत से विदेश जा रहा था और वहाँ का तैयार माल भारत में आयात किया जा रहा था । भारत का धन लगातार बाहर जाने से देश का वैभव तेजी से घट रहा था और निर्धनता का पंजर कसता जा रहा था । जो उद्योग - धन्धे थे भी, वे भी बन्द होते जा रहे थे । अत्याचारों तथा बहुमुखी विफलता के कारण जब जनता पूरी तरह त्रस्त हो गयी, तब उसके नेताओं को अच्छी तरह समझ में आ गया कि सारी समस्याओं की जड़ परतन्त्रता है । जनता ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग कर डाली । उसे गोपाल कृष्ण गोखले तथा बाल गंगाधर तिलक जैसे कर्मठ नेता भी मिल गये । तिलक द्वारा "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है " की घोषणा ने देश की जनता तथा साहित्यकारों, पत्रकारों को पूरी तरह उद्वेलित कर दिया । स्वराज्य और स्वतन्त्रता की भावना जन-जन में समा गयी । भारतेन्दु युग का साहित्यकार भारत की दुर्दशा पर केवल दुःख प्रकट करके रह जाता था । किन्तु द्विवेदी युग के रचनाकार तथा मनीषी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रेरणा भी देशवासियों को देने लगे । इसके लिये बलिदान तथा आत्मोत्सर्ग की भावना भी उन्होंने जागृत की । परिस्थितियाँ ऐसी बदलीं, कि पूरी रचना-धर्मिता पर उसका प्रभाव अंकित हो गया ।

ब्रिटिश दमन - चक्र के इस युग में कूटनीति - कुशल ब्रिटिश शासकों ने सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में भी राजनीति जैसे ही कुशल कूटनीति से काम लिया । उन्होंने भारतीयों को इस उद्देश्य से अंग्रेजी की शिक्षा देना शुरू किया, कि वे उनके कार्य - संचालन में सहायक बन सकें तथा भारतीय होते हुए भी सहर्ष अंग्रेजों के गुलाम बने रहें । ब्रिटिश शासन को जहाँ इस उद्देश्य में सफलता मिली, वहीं अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय शिक्षित समाज का रूसो, स्पेन्सर, मिल और बर्क जैसे विचारकों की रचनाओं तथा अंग्रेजी साहित्य के उत्कृष्ट ग्रन्थों का सम्पर्क भी प्राप्त हुआ । इससे राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति की आकांक्षा उनमें इस हद तक जाग्रत हुई, कि उन्होंने इस आकांक्षा को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया । इस प्रयास के अन्तर्गत ही आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी तथा इंडियन नेशनल कांग्रेस के माध्यम से जन जागरण तथा पुनरुत्थान का अभियान चला । तिलक तथा गोखले के अतिरिक्त लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद, पं० मदन मोहन मालवीय और महात्मा गांधी जैसे नेताओं ने देशवासियों का स्वाभिमान जाग्रत करने तथा गौरवशाली भारतीय परम्पराओं और अस्मिता के प्रति जन-जन की निष्ठा जगाने का प्रयास किया । द्विवेदी युग में साहित्य की विभिन्न विधाओं पर भी इस प्रयास का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । इसी कारण द्विवेदीयुगीन

हिन्दी साहित्य वास्तविक अर्थों में साहित्यिक आदर्शवादिता का युग बना, और उस युग की सबसे बड़ी विशेषता बन गयी ' कट्टर प्रादेशिक राष्ट्रीयता '

काव्य विधा :-

द्विवेदी युग को यदि राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से विद्रोह का युग कहा जाये, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उस समय परतन्त्रता के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन का वातावरण तैयार हो गया था। इस पृष्ठभूमि में राष्ट्रीय काव्य के सृजन की प्रवृत्ति ही प्रमुख रूप से विकसित हुई। नव-जागरण, राष्ट्रीय आत्म-सम्मान, बलिदान, संघर्ष, प्रतिशोध, क्षोभ, साहस, वीरता तथा त्याग के प्रेरक प्रसंग युगीन काव्य पर छाये रहे और राष्ट्रीय काव्य-प्रकृति का प्रसार हुआ। इस युग की काव्य-धारा की एक विशेषता राजनीतिक चेतना भी थी, जिसके अर्न्तगत कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से साम्प्रदायिक सामंजस्य, मेल-मिलाप, राष्ट्रीय एकता, स्वदेशी की लहर और सर्वतोमुखी जागरण का संदेश जन-जन तक पहुँचा रहे थे। इस युगान्तर की प्रेरणा आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से युगीन कवियों को अपना कर्तव्य मान कर दिया था। सन् 1911 में उन्होंने 'सरस्वती' में ' कवि - कर्तव्य ' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने कवियों को जिन कर्तव्यों का बोध कराया था उसमें समय तथा समाज की रुचि की बात सर्वोपरि थी। हिन्दी साहित्य में यह पहला

अवसर था, कि द्विवेदी जी ने गद्य और पद्य दोनों ही को काव्य विधान का माध्यम स्वीकार किया । उन्होंनें लिखा था कि "गद्य और पद्य दोनों में ही कविता हो सकती है ।"[1] यही नहीं, द्विवेदी जी ने खड़ी बोली हिन्दी में काव्य रचना की प्रेरणा भी कवियों को दी । द्विवेदी जी ने जो उपदेश अन्य कवियों को दिया, उसका पालन स्वयं भी किया । आरम्भ में द्विवेदी जी भी ब्रज भाषा में ही कविता किया करते थे । किन्तु उन्होंनें स्वयं ब्रज भाषा छोड़ कर खड़ी बोली में काव्य रचना प्रारम्भ किया । उनकी खड़ी बोली की पहली कविता " बलीवर्द" श्री वेंकटेश्वर समाचार " में 19 अक्टूबर, सन् 1900 को प्रकाशित हुई थी, जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक भी नहीं बने थे । उनकी कविताओं का प्रथम संग्रह "काव्य मंजूषा" सन् 1903 में प्रकाशित हुआ था जिसमें उनकी 1895 से 1902 तक की 33 रचनायें संग्रहीत हैं । इनमें से उन्नीस कवितायें ब्रज भाषा की थीं, आठ संस्कृत की और केवल छः खड़ी बोली की इनका दूसरा संग्रह "सुमन" था, जिसमें सन् 1920 तक की उनकी 31 कवितायें हैं, जिनमें से लगभग सभी खड़ी बोली में हैं । द्विवेदी जी यद्यपि कविता का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन मानते थे, किन्तु वे कविता को अतिशय श्रृंगारिकता से बचाना भी चाहते थे । राष्ट्र की तत्कालीन परिस्थितियों की ओर से आँख बंद करके

1.आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, कवि कर्तव्य, "सरस्वती", 1911 ई0, पृ0 232.

केलि - कौतूहल तथा परकीयाओं और स्वकीयाओं की 'गतागत' पहेली बुझाने वाले कवियों को द्विवेदी जी बुरी तरह फटकारते थे। वे तो पाठक को प्राचीन भारतीय संस्कृत से परिचित कराकर सोये हुये भारतवासियों को जागृत करना चाहते थे। अपनी 'आर्य-भूमि' शीर्षक कविता में उन्होंने भारत को 'वीर प्रसू', 'वीरभूमि', 'जगत्पूजित' 'धन्य भूमि', 'पूज्यभूमि', 'धर्म-भूमि' आदि विशेषणों से विभूषित करते हुये अंतमें लिखा था ---

"विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करते सताते।
न क्या कभी देव दया करेंगें,
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगें।"

कर्तव्य - पथ से भटके हुये समाज को देखकर एक स्वदेश प्रेमी के मन में जो व्यथा और कसक होनी चाहिये, वही द्विवेदी जी की इन पंक्तियों में उजागर हुई है। साहित्य में अव्यवस्था पैदा करने वाले रचनाकारों पर उन्होंने तीखा व्यंग्य अपनी एक कविता "ग्रन्थकार लक्षण" में किया था —

'इधर उधर से जोड़ बटोर,
लिखते हैं जो तोड़ मरोड़
इस प्रदेश में वे ही पूरे,
ग्रन्थकार कहलाते हैं।"[1]

---

1. 'सरस्वती', भाग 2, संख्या 8

इसी प्रकार उन्होंने "विधि विडम्बना" कविता में लिखा है —

"शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये - नये अखबार ।

द्विवेदी जी ने जब धर्माचार्यों पर तीखा प्रहार किया, तो उनका कड़ा विरोध भी किया गया, किन्तु द्विवेदी जी को ऐसे विरोधों की कभी चिन्ता नहीं हुई । उन्होंने लिखा था —

"दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है,
कुत्सित कर्म कुशल कुटिलों को अक्षरज्ञ उपजाता है ।
मूर्ख धनी विद्वज्जन निर्धन उलटा सभी प्रकार,
तेरी चतुराई को ब्रह्मा बार-बार धिक्कार ।"

द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के भाग 2 संख्या 6 में नायिका भेद पर एक लेख लिखकर अपनी निर्भय स्पष्टवादिता का परिचय देते हुये, अपने सुधारक रूप को स्थापित किया था । ब्रज भाषा के स्थान पर सरल खड़ी बोली में काव्य-रचना के लिये द्विवेदी जी ने जबरदस्त आन्दोलन खड़ा किया था । उन्होंने 'सरस्वती' में लिखा था —

ब्रज भाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय गया । अब फिर नहीं आने का । ब्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली के न जानने वाले चाहे लंगूर बनाये जॉय चाहे गीदड़ — इससे बोल-चाल की भाषा की कविता का प्रवाह बंद न होगा ।"[1]

---

1. 'सरस्वती', भाग 15, संख्या 4, पृ0 228.

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था, कि द्विवेदी जी ब्रज भाषा या उर्दू का आदर नहीं करते थे। उन्होंने लिखा था —"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा — भाषा उसकी चाहे ब्रज की हो, चाहे उर्दू।"[1] इससे द्विवेदी जी की उदारता का परिचय मिलता है। वास्तविकता यही है कि वे कविता के लिये खड़ी बोली के प्रयोग के कट्टर समर्थक थे, भले ही उदारता के कारण ब्रज भाषा की सरस कविता के आदर की बात उन्होंने लिख दी हो।

द्विवेदी जी के शुद्ध - सात्त्विक आचार-विचार ने तत्कालीन कविता को बहुत तरह से प्रभावित किया था, जैसे कि भाषा में, सफाई, संस्कृत वृत्तों का हिन्दी कविता में प्रवेश, कविता का श्रृंगार, भगवत्भक्ति तथा समस्यापूर्ति के संकुचित क्षेत्र से कविता का बाहर निकलना तथा जन-रुचि और, जन-आकांक्षाओं के अनुरूप विविध विषयों पर काव्य-रचना का प्रारम्भ होना।

साहित्य के दिशा - निर्देशक तथा जन्म आकांक्षाओं और रुचियों के अद्भुत पारखी आचार्य द्विवेदी में जहाँ कठोर अनुशासन था, वहीं रचनाकारों के लिए स्नेहयुक्त प्रोत्साहन और प्रेरणा भी थी। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि उस काल में अनेक कवि उन्हीं के आदर्शों के अलम्बरदार बनकर साहित्याकाश में उभर कर सामने आये।

---

1. 'सरस्वती', भाग 15, संख्या 4, पृ0 228.

मैथलीशरण गुप्त, गोपाल शरण सिंह, गया प्रसाद शुक्ल "सनेही", लोचन प्रसाद पाण्डेय जैसे कवि द्विवेदी युग की देन हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों ने द्विवेदी जी के प्रभाव से अपनी रचनाधर्मिता में उल्लेखनीय परिवर्तन किये। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध, नाथू राम शर्मा 'शंकर', राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' परम्परागत् तथा चिर-परिचित विषयों पर काव्य-रचना किया करते थे। इन रचनाकारों के विषय में प्रमुख बात यह है कि द्विवेदी जी के प्रभाव से वे परम्परागत् लीक से हटे और विविध नये विषयों पर काव्य रचना की। 'हरिऔध', श्रीधर पाठक तथा शंकर ने पहले परम्परागत् विषय ही नहीं अपनाये थे, बल्कि भाषा भी उनकी ब्रज ही थी। किन्तु इन्होंने भी ब्रज भाषा को छोड़कर खड़ी बोली में कवितायें रचीं। जब भाषा की चर्चा करते हैं, तो यह बात भी उल्लेखनीय प्रतीत होती है कि भारतेन्दु युग की भाषागत् अस्थिरता द्विवेदी जी के प्रभाव से समाप्त हो चुकी थी तथा काव्य भाषा, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तथा वर्तनी की दृष्टि से स्थिर होने की दिशा से अग्रसर हो रही थी। छंदों को लें, तो इस युग की कविता में संस्कृत वृत्तों और उर्दू बहरों तक का प्रयोग किया गया। कवियों ने समस्यापूर्ति की सीमा तोड़ कर स्वतन्त्र विषयों पर कवितायें लिखीं। यद्यपि जगन्नाथ दास रत्नाकर तथा सत्य नारायण कविरत्न जैसे कुछ कवि इस युग में भी कविता की भाषा के रूप में ब्रज भाषा का ही पल्ला पकड़े हुये थे, किन्तु युगीन प्रभावों को वे भी अनदेखा नहीं कर सके।

कविता के संबंध में द्विवेदी जी के विचार में अद्भुत नवीनता थी । उनकी कविता में चित्रमयता का आग्रह था और वे कविता तथा चित्रकला में अद्भुत सादृश्य देखते थे । उन्होंने 'कविता कलाप' की भूमिका में इस सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट रूप से लिखा था —

" चित्रकला और कविता का घनिष्ठ सम्बन्ध है । दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है । दोनों का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनो विकारों को चित्रित करना है । जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है । कविता भी एक प्रकार का चित्र है । कविता के श्रवण से आनन्द होता है, चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है, इसका निर्णय करना कठिन है, क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार से कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी इसकी वृद्धि होती है । चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान ।"[1]

राष्ट्रीयता, मानवतावाद, नीति तथा आदर्श और भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति अद्भुत जागरूकता द्विवेदी युग की प्रधान भाव धारायें थीं । डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ " हिन्दी साहित्य का इतिहास" में द्विवेदी युगीन काव्य का मूल्यांकन करते हुये विचार व्यक्त

---

1. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, कविता कलाप, भूमिका.

किया है — " द्विवेदी युग की कविता राष्ट्रीय - सांस्कृतिक कविता है । इस युग की राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता से अपर अति उदार और व्यापक राष्ट्रीयता है । मातृभूमि के लिये सर्वस्व-बलिदान , स्वार्थ-त्याग तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने की अमोघ प्रेरणा देकर इन कवियों ने असंकीर्ण राष्ट्रीय भावना को विकसित किया तथा तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों को बल प्रदान किया । द्विवेदी-कालीन कवियों ने जातीय जीवन की बड़ी मार्मिक और रचनात्मक आलोचना की । उन्होंने उसके शुभ पक्ष को प्रोत्साहित और अशुभ पक्ष को तिरस्कृत किया । जहाँ उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों एवं निरर्थक रूढ़ियों पर जोरदार प्रहार किये, वहाँ अपनी परम्परा के उपयोगी तत्वों का सबल समर्थन और पोषण भी किया । वस्तुतः इस युग की कविता का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त सबल है, उसी में इसकी शक्ति निहित है । प्रस्तुत युग में एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण गृहीत हुआ — सामान्य मानव के गौरव की प्रतिष्ठा पहली बार इसी युग में हुई । महिमामण्डित ही नहीं, क्षुद्र और तुच्छ भी काव्य का विषय बना । "[1]

यद्यपि खड़ी बोली काव्य का स्वरूप-निर्धारण द्विवेदी युग में ही हुआ और उसके विकास की धारा ने भी उसी काल-खण्ड में गति

---

1. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 515.

पकड़ी, किन्तु इस सत्य को कदापि नकारा नहीं जा सकता कि यह खड़ी बोली कविता का आरम्भिक काल ही था । अतः किसी-न-किसी कथानक के माध्यम से ही काव्य रचना करना कवियों को अधिक सहज प्रतीत हुआ । प्रबन्ध काव्य ने इसी कारण इस काल-खण्ड के व्यक्तियों को अधिक आकृष्ट किया । यह बात अलग है कि महान कथाओं और आदर्श चरित्रों के अलावा छोटे और नगण्य प्रसंगों तथा चरित्रों ने भी रचनाकारों को आकृष्ट किया और वे काव्य-विषय बने ।

यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि ग्राम्य बोलियों में काव्य रचना का आरम्भ अधिकांशतः, लोक गीतों से हुआ और संस्कृत भाषाओं में काव्य रचना प्रबन्ध काव्य से हीआरम्भ हुई । बाल्मीकि कृत महाकाव्य 'रामायण' और होमर कृत 'इलियड' इस तथ्य के सबसे उल्लेखनीय प्रमाण हैं । यह भी एक अकाट्य सत्य है, कि जीवन के सत्यों को मूर्तरूप देने की प्रबन्ध काव्य में ऐसी क्षमता होती है, जो पाठक को भी बड़ी सहजता से आकृष्ट करती है । इस विशिष्टता ने भी द्विवेदीयुगीन कवियों को प्रबन्ध काव्य की ओर आकृष्ट किया और रचनाकारों ने महत्वपूर्ण महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघु प्रबन्ध, पद्य कथा, प्रबन्ध मुक्तक और कथा प्रधान काव्य की रचना कर खड़ी बोली काव्य को समृद्ध किया । द्विवेदी जी द्वारा निर्धारित सिद्धान्त के अनुसार इस काल के काव्य में उच्चादर्शों और सदुपदेशों का समावेश

हुआ । परिणाम यह हुआ कि उपदेश प्रवृत्ति प्रधान प्रबन्ध काव्यों में आदर्श चरित्रों का अवलम्बन ग्रहण किया गया । इस युग में पद्य-निबन्धों की भी रचना हुई, जो आधुनिक साहित्य के लिये पूर्णतः नई विधा थी । द्विवेदी जी ने इस विधा को पूरा प्रोत्साहन इन शब्दों में दिया था —" समस्या पूर्ति के विषय को छोड़कर अपनी इच्छा के अनुसार विषयों को चुनकर, कवि को यदि बड़ी न हो सके तो छोटी ही स्वतंत्र कविता करनी चाहिये । क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में प्रायः अभाव है ।"[1] द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में इस प्रकार की रचनायें प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुईं । 1910 ई की 'सरस्वती' के अंकों में मैथिलीशरण गुप्त द्वारा इस विधा में रचित 'कीचक की नीचता' और 'कुन्ती और कर्ण' रचनायें प्रकाशित हुईं । यह रचनायें कभी तो खंड काव्य की शैली में लिखी जाती थीं और उनमें केवल एक ही छन्द होता था, जैसा कि 'कुंती और कर्ण में देखने को मिलता है । कभी-कभी इनका स्वरूप गीत-प्रबन्ध का होता था और उनमें अनेक छन्दों का प्रयोग होता था, उदाहरणार्थ लाल भगवानदीन का 'वीर पंचरत्न' । इसी विधा की रचनायें अक्सर पत्र - गीतों के रूप में भी होती थीं, जैसे मैथिलीशरण गुप्त रचित 'पत्रावली'।

---

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी, रसज्ञ रंजन, पृ0 13.

प्रबन्ध काव्य की ओर स्वाभाविक आकर्षण तथा आचार्य द्विवेदी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप इस युग में महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा लघु प्रबन्धों को भी विकास का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ । इन विधाओं पर संक्षेप में ही सही, अलग-अलग विचार करना आवश्यक है ।

महाकाव्य :-

यह ऐसी श्रेष्ठ विधा है जिसकी कोई सार्वकालिक और सार्वदेशीय व्याख्या नहीं हो सकती । युगीन जीवन की परिस्थितियों और परम्पराओं के अनुरूप उनकी अवधारणा परिवर्तित होती रहती है । किन्तु जैसा कि डा0 देवी प्रसाद गुप्त ने कहा है ——————

" महाकाव्य वह महत काव्य रूप है जिसमें व्यापक कथानक, विराट, चरित्र-कल्पना, गम्भीर अभिव्यंजना शैली, विशिष्ट, शिल्प-विधि और मानवतावादी जीवन-दृष्टि से उसकारचयिता युग-जीवन के उन्नत बोध को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिफलित करता है । संक्षेप में, श्रेष्ठ महाकाव्य की रचना मानवता के मंगलमय आख्यान और लोक मानस की चेतना के आकलन का सांस्कृतिक प्रयास होती है ।"[1]

द्विवेदी युग के तीन महत्वपूर्ण महाकाव्य "प्रिय प्रवास", "साकेत" तथा 'राम चरित चिन्तामणि' पर युगीन चेतना का स्पष्ट भाव दृष्टिगोचर होता है । द्विवेदी युग के श्रेष्ठ और बड़े रचनाकार

---

1. डॉ0 देवी प्रसाद गुप्त, हिन्दी महाकाव्य, सिद्धान्त और मूल्यांकन, पृ0 30.

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रचित 'प्रिय प्रवास' वास्तव में खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है । इस महाकाव्य का कथानक यद्यपि श्रीमद्भागवत पर आधारित है फिर भी हरिऔध जी ने राष्ट्रीयता, अहिंसा, सत्य, लोक सेवा, नारी की महत्ता, अस्पृश्यता के विरोध जैसी आधुनिक विचारधाराओं को भी इस महाकाव्य के विराट फलक में मुखर रूप से वाणी दी है । आदर्श माता-पिता, आदर्श समाज, आदर्श नेता, आदर्श प्रेयसी तथा आदर्श समाज सेविका की सम-न्वित परिकल्पना के साथ ही कृष्ण के अवतारी पुरुष तथा महापुरुष के रूप में भी उनकी स्थापना तथा व्रत, पूजा, प्रार्थना, भक्ति के महत्व आदि को भी हरिऔध जी ने प्रमुखता से चित्रित किया है । साथ ही, भारतीय संस्कृति की विविध विशेषताओं को उन्होंने इस महाकाव्य में सुरक्षित रखा है ।

कृष्ण का सेवा भाव तथा राधा की सहिष्णुता, त्याग, जन सेवा जैसी प्रवृत्तियाँ इस महाकाव्य की नवीन अवधारणायें हैं । वास्तव में कृष्ण और राधा के चित्रण में हरिऔध जी ने युगानुरूप परिवर्तन करके नई स्थापना की है । कृष्ण इस महाकाव्य में लोक ख्यात, धीरोदात्त नायक बन गये हैं और राधा जन-सेवा की प्रतिमूर्ति । इस महाकाव्य के कृष्णका जीवन लोक हित के लिये समर्पित है । वे नेतृत्व करते समय कर्मवीर तथा कर्तव्य पालन करते समय

मानवता के चरम विकसित स्वरूप के प्रतिबिम्ब बन जाते हैं। उनका व्यक्तित्व मानवादर्श का प्रतीक और लोक कल्याण की भावना का चरमोत्कर्ष है। हरिऔध की राधा मध्ययुगीन चारदीवारी से निकल कर आधुनिक युग की सजग तथा लोकहित से प्रेरित नारी के रूप में प्रतिष्ठित हुई हैं। इस महाकाव्य के एक अन्य प्रमुख पात्र नंद बाबा समष्टि के हित के लिये सब-कुछ न्योछावर कर देने के लिये प्रेरित दिखते हैं, तो माँ यशोदा वात्सल्य, ममता तथा करुणा की साकार मूर्ति के रूप में स्थापित की गयी हैं। ऊधव इस महाकाव्य में त्याग, तपस्या, लोकसेवा तथा विश्व-प्रेम की प्रतिमूर्ति बन गये हैं। "प्रिय प्रवास" युगीन परिस्थितियों, मान्यताओं तथा आन्दोलनों को अपने परिवेश में समाविष्ट किये हुये हैं। कला-पक्ष की दृष्टि से भी यह एक अपूर्व कृति है। चित्रोपमयता की दृष्टि से "सकल पादप, नीरव ये खड़े, हिल नहीं सकता एक पत्र था," नाद सौन्दर्य तथा लाक्षणिकता के उदाहरण के रूप में " हा ! वृद्धा के अतुल धन ! हा ! वृद्धता के सहारे, "अभिधा के " दिवस का अवसान समीप था," लक्षणा के " बहु भयंकर भी यह यामिनी " और " बिलपते ब्रज भूतल के लिये " तथा व्यंजना के " आई बेला हरि गमन की छा गयी खिन्नता थी " आदि उदाहरण हरिऔध जी की अभिव्यक्ति- निपुणता, माधुर्य गुण और शब्द शक्ति के परिचायक हैं।

हरिऔध जी ने खड़ी बोली हिन्दी के इस प्रथम महाकाव्य की रचना 15 अक्टूबर 1909 को आरम्भ की थी तथा 24 फरवरी 1913 को इसे पूर्ण किया था। उन्होंने इसका शीर्षक पहले "ब्रजांगना विलाप" रखा था। किन्तु बाद में इसे परिवर्तित करके "प्रिय प्रवास" शीर्षक दिया।

साकेत : द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि तथा बाद में राष्ट्र-कवि की प्रतिष्ठा से विभूषित मैथिलीशरण गुप्त ने अपने महाकाव्य "साकेत" में लक्ष्मण-पत्नी उर्मिला को प्रधान पात्र बना कर एक सामाजिक क्रान्ति की घोषणा की थी। गुप्त जी ने उर्मिला के जीवन सूत्रों से अपनी महाकाव्य कथा को एक नयी विराट वस्तु-योजना प्रदान की थी, जो निश्चय ही क्रान्तिकारी परिवर्तन था। इस महाकाव्य में राष्ट्र-प्रेम तथा महात्मा गांधी के युगीन प्रभाव का स्पष्ट संकेत मिलता है। गुप्त जी ने "साकेत" महाकाव्य में भारत की परतन्त्रता के प्रति अपने मन की अकुलाहट को स्पष्ट रूप से अंकित किया है ——

" भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,

सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

उक्त पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से उनकी व्याकुलता का संकेत हैं। 'साकेत' के राम ने एक युग-पुरुष की तरह अल्पसंख्यकों, दलितों तथा दीन-दुखियों के लिये कार्य किये थे। गुप्त जी ने नयी दृष्टि के द्वारा

भरत और उर्मिला के जीवन सूत्रों से इस कथा को महाकाव्य का स्वरूप दिया । कहना तो यहाँ तक चाहिये कि गुप्त जी ने उर्मिला के जीवन-सूत्रों को आधार बनाकर एक आदर्श महाकाव्य का ताना-बाना बुना, जो महाकाव्य लेखन के सन्दर्भ में एक क्रान्तिकारी पहल थी । उर्मिला "साकेत" का एक महत्वपूर्ण पात्र है । इस तरह उन्होंने एक महिला पात्र को महाकाव्य का मुख्य पात्र बना कर सामाजिक क्रान्ति का संकेत दिया था । उनके इस महाकाव्य में राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना के साथ-साथ महात्मा गांधी का प्रभाव परिलक्षित होता है । वे राम के मुख से कहलाते हैं ---

इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।

गुप्त जी ने युगीन प्रभाव के अनुरूप भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा चरित्र, वेद, जप, तप, यज्ञ, व्रत, उपवास के धार्मिक आदर्शों की स्थापना की है । साथ ही, समाज में स्त्रियों के स्थान तथा अस्पृश्यों के सम्मान का आस्थापूर्ण चित्रण किया है । उर्मिला तथा कैकेई का चरित्र - चित्रण करते हुये गुप्त जी ने नारी शिक्षा, विधवा समस्या, कर्तव्य, अधिकार, सेवा, साहस पर पूरा ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास किया है । राम के मनुष्यत्व तथा ईश्वरत्व की भावना के प्रति गुप्त जी ने कहा है ---

"राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुये सभी कहीं नहीं हो क्या ?

गुप्त जी ने गोस्वामी तुलसीदास के अवतारवाद या ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव की ईश्वरता की स्थापना की। गुप्त जी की सीता मात्र देवी नहीं हैं, वे स्वावलम्बी गृहणी भी हैं। वे चरखा, तकली, कुदाल और खुरपी भी चलाती हैं।

'साकेत' में उर्मिला को पहली बार महाकाव्य की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी चरित्र की महानता की व्याख्या करना ही 'साकेत' का मुख्य लक्ष्य है। उर्मिला-लक्ष्मण की प्रेम कथा को महत्व देकर 'साकेत' के महाकवि ने परम्परा को तोड़ा है तथा नवीनता को ग्रहण किया है। इसी कारण कुछ विद्वान इस महाकाव्य को लक्ष्मण-उर्मिला की कथा मानते हैं।

टैगोर तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने लेखों में उर्मिला जैसे पात्र की उपेक्षा की भर्त्सना की थी। इसी पृष्ठभूमि में सम्भवतः मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला के चरित्र को पूरी तरह प्रकाशित करने के उद्देश्य से 'साकेत' की रचना की थी। इस महाकाव्य के नायक लक्ष्मण हैं और नायिका उर्मिला। लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम प्रसंगों तथा वाग-विनोद का भी महाकाव्य में चित्रण है। नारी पात्रों के चित्रण में मंथरा - कैकेई प्रसंग में भी नवीनता के दर्शन होते हैं। मंथरा ने राम के अभिषेक को एक सुनियोजित षड्यंत्र की संज्ञा दी थी और व्यंग्य किया था —

भरत - से सुत पर भी संदेह,

बुलाया तक न उसे जो गेह ।

इन पंक्तियों में मंथरा कैकेई के मर्मस्थल को वेध डालती है ।

गुप्त जी ने 'साकेत' की रचना लगभग 1913-14 में आरम्भ की थी और इसका अंतिम अंश 1932 में पूरा किया था । इस महाकाव्य का प्रथम सर्ग 'सरस्वती' के जून 1913 के अंक में छपा था । इस रचना का पाँचवा सर्ग जुलाई 1918 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था । 1929 और 1931 ईसवी में 'साकेत' के कुछ अंश 'विशाल भारत' में छपे थे । 'साकेत' का पुस्तक रूप में प्रकाशन सन् 1932 में हुआ । यद्यपि 'साकेत' के केवल पाँच सर्ग ही 'सरस्वती' में प्रकाशित हुये थे, किन्तु इसके शेष अंश भी द्विवेदी जी के प्रभाव के अन्तर्गत ही लिखे गये थे । इस महाकाव्य में हिन्दी खड़ी बोली अपनी पूरी क्षमता के साथ अलंकृत हुई है । भाषा में प्रौढ़ता के साथ-साथ शिष्टता भी है । छन्द योजना भी प्रसंग के अनुकूल तथा प्रौढ़ है । 'साकेत' में भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म की पृष्ठभूमि तो है ही, उसमें नवीन काव्य चेतना भी है । साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध महाकाव्य 'साकेत' में मानवतावाद की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है । इसे द्विवेदी युग की एक श्रेष्ठ रचना कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

राम चरित चिन्तामणि : पण्डित राम चरित उपाध्याय के इस प्रबन्धकाव्य में एक बड़ी नवीनता यह है, कि जहाँ बाल्मीक ने राम को पुरुषोत्तम के रूप में स्थापित किया है, वहाँ "राम चरित चिन्ता मणि" में उन्हें, ईश्वर माना गया है । इसके पीछे निश्चित रूप से अध्यात्म रामायण का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । इस महाकाव्य में यद्यपि महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं, तब भी इसमें इतनी शिथिलता है कि कुछ विद्वान इसे महाकाव्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित नहीं करते ।

पच्चीस सर्गों के इस प्रबन्धकाव्य का आधार मुख्य रूप से बाल्मीकि रामायण और राम चरित मानस हैं । बाल्मीकि रामायण का ही यह प्रभाव था, कि बाइसवें सर्ग में रावण बध के बाद राम सीता से कहते हैं कि " मैंने रण इसलिये किया था कि कोई मुझे भीरु न समझे । मैं तुम्हें अपना कर कलंकित नहीं होना चाहता हूँ । तुम्हें शत्रु ने अपने घर में रख कर अंक से लगाया है, फिर मैं तुम्हें किस प्रकार रख सकता हूँ ।"[1] द्विवेदी युग को राम का इस तरह का चरित्र कदापि स्वीकार नहीं था । उस काल में नारी उत्थान के लिये आन्दोलन चल रहे थे । ऐसी स्थिति में राम द्वारा अपनी निरपराध पत्नी को अपमानित किया जाना कैसे स्वीकार हो सकता था ?

---

1. पूनम चन्द्र तिवारी, द्विवेदी युगीन काव्य, पृ0 410.

इसी प्रकार इस प्रबन्धकाव्य के लक्ष्मण वन गमन के समय समस्त भारतीय परम्पराओं को तोड़कर माता-पिता की भी हत्या कर डालने की बात कहते हैं ——

"माता और पिता दोनों को इससे मारूँगा तत्काल
आज्ञा मिले, देखिये सज्जित है मेरे कर में करवाल ।"[1]

इस प्रबन्ध काव्य की सीता ने राम चरित मानस के विपरीत स्वयं यह स्वीकार किया है कि रावण ने उनके शरीर को स्पर्श किया ——

"बरबस मुझे दशकंठ ने जो छू दिया तो क्या करूँ,
परवस पड़ी हूँ, आज तक, सरबस गया, कैसे मरूँ ।"[2]

निश्चित रूप से यह प्रसंग द्विवेदी युगीन परम्पराओं तथा परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है, किन्तु प्रकृति के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति द्विवेदी युगीन विशिष्टता के अनुरूप है । उन्होंने लिखा है —

"काम के वशीभूत जो हैं गिरे,
दोष को देखते वे न अंधे निरे ।
केतकी कंटकाकीर्ण है देखिये,
भृंग ने प्राण तो भी इसे हैं दिये ।।"[3]

---

1. राम चरित उपाध्याय, राम चरित चिन्तामणि, 7/6
2. वही, पृ0 248.
3. वही, 3/29

एक प्रसंग में उपाध्याय जी ने परस्पर विरोधी भाव प्रकट करके लक्ष्मण के चरित्र को गहरी ठेस पहुँचायी है । वे एक ओर तो लक्ष्मण को महान शूरवीर बताते हैं, दूसरी ओर भरत को जब चित्रकूट की ओर आते देखते हैं, तो राम से अत्यधिक भीरु वाणी में लक्ष्मण कहते हैं —

" भग चलिये हे राम, यहाँ वे जब तक आवें,
लौट जायेंगे स्वयं हमें यदि देख न पावें ।"[1]

'राम चरित चिन्तामणि' की कैकेई अपने पति दशरथ को शठ, निलज, मत बको, लबार आदि अपमानजनक शब्दों से ताड़ती हैं । यही नहीं, वे राम तथा भरत के लिये मद - व्यसनी तथा कामिनी - प्रेमी जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करती हैं । हनुमान द्वारा सीता को अशोक वाटिका में राम की अँगूठी देने के पूर्व सीता की परीक्षा लेना भी अपमानजनक प्रसंग है ।

डॉ० शम्भू नाथ सिंह ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास' में यह विचार व्यक्त किया है कि 'राम चरित चिन्तामणि' द्विवेदी युग का ऐसा महाकाव्य है, जिसमें महाकाव्यों के लक्षणों का निर्वाह करने का प्रयास तो किया गया है, किन्तु उसके रूप-शिल्प तथा दृष्टिकोण में कोई मौलिकता अथवा नवीनता नहीं है ।"[2]

---

1. राम चरित उपाध्याय, राम चरित चिन्तामणि, पृ0 116.
2. पूनम चन्द्र तिवारी, द्विवेदी युगीन काव्य, पृ0 415.

पं० राम चरित उपाध्याय ने आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा से 'सरस्वती' में लिखना प्रारम्भ किया था और उन्होंने 'राम चरित चिन्तामणि' महाकाव्य की रचना सन् 1920 ई० में की थी ।

खण्ड काव्य :-
===========

द्विवेदी युगीन काव्य धारा का एक दूसरा प्रमुख स्वरूप है खण्ड काव्य । इस युग में पन्द्रह उल्लेखनीय खण्ड काव्यों की रचना हुई, जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी, रत्नाकर, पंत और सिया राम शरण गुप्त जैसे रचनाकारों के खण्ड काव्य सम्मिलित हैं । खण्ड काव्य महाकाव्य का ही छोटा काव्य रूप है, जिसे लघु प्रबन्ध भी कह सकते हैं । आकार में छोटा होने के कारण खण्ड काव्य में परिकल्पना की विराटता तो नहीं होती, किन्तु कथा वस्तु में तीव्रता होती है और लक्ष्य की ओर तीव्रगति से बढ़ने की तत्परता हुआ करती है । महाकाव्य में जीवन के अनेक पक्षों को अपने फलक पर उतार लेने की प्रवृत्ति होती है । इसके विपरीत खण्ड काव्य में जीवन के किसी एक पक्ष को ही पूरी तीक्ष्णता के साथ निरूपित करने का लक्ष्य होता है ।

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने द्विवेदी जी की 'सरस्वती' की प्रेरणा से तथा उसी के माध्यम से हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया था उन्होंने राजस्थानी गाथाओं को आधार बना कर सन् 1909 में

'रंग में भंग' खण्ड काव्य की रचना की । उनके दूसरे खण्ड काव्य 'जयद्रथ - वध' की कथा महाभारत से ली गयी, और उसकी रचना सन् 1910 में हुई । गुप्त जी के 'शकुंतला' खण्ड काव्य की रचना सन् 1914 में हुई । उन्होंने इसकी कथा वस्तु का आधार कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को बनाया । गुप्त जी तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति भी पूर्ण रूप से जागरूक थे । राष्ट्रीय आंदोलनों में भारतीय किसान की तत्कालीन दुर्दशा की चर्चा मुख्य रूप से हो रही थी । सम्भवतः उसी से प्रेरित होकर उन्होंने "किसान" खण्ड काव्य सन् 1916 में लिखा और किसानों की दयनीय स्थिति को तीखे तेवर में चित्रित किया । इस दृष्टि से इस खण्ड काव्य को गुप्त जी की क्रान्तिकारी रचना कहा जा सकता है । इस खण्ड काव्य में उन्होंने ब्रिटिश राज्य पर भी कटाक्ष किया है ——

"" ब्रिटिश राज्य के उपकारों का बदला चुका दें आज ।"[1]

किसान के मन की क्रान्ति को भी गुप्त जी ने उजागर किया है ——

" यदि मै डाकू बनूँ मुझे क्या दोष है ?
दोषी है तो पुलिस उसी पर रोष है ।"[2]

---

1. मैथिलीशरण गुप्त, किसान, पृ0 86.

2. वही, पृ0 28.

'रंग में भंग' खण्डकाव्य में भी मैथिलीशरण गुप्त ने भारतीय समाज की विधवा समस्या को उभारने के लिए मण्डप में ही विधवा हुई एक पुत्र को कथानक का केन्द्र बनाया है ।

इस खण्ड काव्य में गुप्त जी ने बंग - भंग तथा राष्ट्रीय आंदोलन की भी तीखी झलकें दी है तथा मातृभूमि के प्रति अपनी भावनाओं को उजागर किया है---

"स्वर्ग से भी श्रेष्ठ जननी जन्म भूमि कही गयी ।"[1]

तथा ---"मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिये ।"[2]

और ---"मृत्यु माता की जगत में सहय हो सकती किसे ।"[3]

इस खण्ड काव्य में गुप्त जी ने वीर, श्रृंगार, करुण तथा रौद्र रसों की सहायता से अपने काव्य -शिल्प को पूरा निखार दिया है ।

महाभारत के द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित दुर्भेद्य चक्रव्यूह में सात महारथियों से घिर कर अन्यायपूर्वक अभिमन्यु के मारे जाने के मार्मिक प्रसंग को आधार बना कर मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचा गया खण्ड काव्य 'जयद्रथ वध' द्विवेदी युग का एक महत्वपूर्ण प्रबन्ध-काव्य है । अभिमन्यु की विधवा उत्तरा का विलाप इस प्रबन्ध-

---

1. मैथिलीशरण गुप्त, रंग में भंग, पृ0 32.

2. वही.

3. वही.

काव्य का सर्वाधिक मर्मस्पर्शी अंश है ----

प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई,

वह नववधू फिर गिर पड़ी 'हा नाथ ! हा !' कहती हुई ।[1]

भारतीय संस्कृति के अनुरूप गुप्त जी की उत्तरा के उद्‌गार तो यह हैं कि " हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं ।" किन्तु बेचारी उत्तरा को गर्भवती होने के कारण इस दारुण दुख की पीड़ा को सहन करते हुए जीवित रहना पड़ा ।

सात सर्गों में विभाजित इस खण्डकाव्य के नायक अभिमन्यु - पिता अर्जुन हैं, जो वीर, उदात्त, पुत्रवत्सल, तथा दृढ़प्रतिज्ञ हैं । जयद्रथ इस प्रबन्ध काव्य का प्रतिनायक है, जो " निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है " की नीति को पूरी तरह जानते हुये भी तथा वीर और शिव भक्त होते हुए भी शस्त्रहीन अभिमन्यु का नीचतापूर्वक धोखा देकर वध कर डालता है । गुप्त जी ने इस खण्ड काव्य में कृष्ण को ईश्वर का अवतार न मानकर साक्षात् ईश्वर के रूप में निरूपित किया है, जिनकी सहायता तथा कूटनीति के फलस्वरूप जयद्रथ, अर्जुन के हाथों उनकी प्रतिज्ञा के अनुरूप सूर्यास्त के पूर्व मारा जाता है । कृष्ण अर्जुन के सारथी ही नहीं, उसकी विजय

---

1. मैथिलीशरण गुप्त, जयद्रथ वध, पृ० 21.

के मूल स्रोत भी हैं । वीर, रौद्र तथा करुण रस प्रधान, इस ओजपूर्ण रचना में शब्द चमत्कार की भी विपुलता है । गुप्त जी ने इस खण्डकाव्य की रचना सन् 1910 में की थी ।

गुप्त जी द्वारा ही रचित 'शकुन्तला' कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की भव्य तथा विराट परिकल्पना पर आधारित है । सन् 1914 ई0 में रचे गये इस खण्ड काव्य में गुप्त जी ने मंगलाचरण में सीता को लक्षित किया है तथा मृगनयनी शकुन्तला के संदर्भ में महाकवि कालिदास का भी स्मरण किया है—

"मृग के बदले मृगनयनी को वहाँ महीपति ने पाया —
और यहाँ भी कालिदास ने श्रवण सुधा रस बरसाया ।"[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने परम्परा से हटकर शकुन्तला के चरित्र में विश्व-प्रेम की भावना परिलक्षित की है —" सीमा रहित अनन्त गगन - सा प्रेम " लिख कर गुप्त जी ने इस चरित्र को उदात्त बना दिया है । "प्रिय प्रवास " की राधा की तरह शकुन्तला को भी उन्होंने कल्याणमय रूप दिया —"औरों का कल्याण कार्य ही उसका अपना क्षेम हुआ ।"[3] अपने देश में प्राचीन-काल से ही बेटी को विदा करने का प्रसंग अत्यधिक करुण और

---

1. मैथिलीशरण गुप्त, शकुन्तला, पृ0 6
2. वही, पृ0 10
3. वही.

भावुकतापूर्ण रहा है । इस परम्परा का निर्वाह करते हुये ही गुप्त जी ने कण्व ऋषि से कहलाया है ---

" मेरा यह उपदेश कभी तू भूल न जाना
शील, सुधा से सींच जगत को स्वर्ग बनाना ।"[1]

तथा---बेटी कह कर किसे -कुछ आंगा में द्वारे ।[2]

शकुन्तला के विदा होने के बाद कण्व ऋषि के आश्रम के चारों ओर फैले वन, उपवन के जीवों की दशा के चित्रण में भी भावुकता है --

" मोरों ने निज नृत्य, मृगों ने चरना छोड़ा
हिम गिरि ने भी वाष्पवारि-सम्भरना छोड़ा ।"[3]

गुप्त जी ने करुण रस प्रधान इस लघु खण्डकाव्य में शृंगार रस तथा शकुन्तला के नख-शिख वर्णन में दैहिक सौन्दर्य का शृंगारिक वर्णन भी किया है --

" नित्य उरोजों के उभार से अंगों को कसने वाली
वल्कल की चोली हँस-हँस कर करती थी आली ।"[4]

गुप्त जी के इस खण्डकाव्य में एक स्थल पर तो काव्य की नवीन छायावादी अभिव्यंजना की झलक भी दिखायी देती है । ---

" मै हूँ वह महानिन्द्य, अविनीत हा ।
होगा मुझ-सा और कौन अपनीतहा ।"[5]

---

1. मैथिलीशरण गुप्त, शकुन्तला, पृ0 33.
2. वही, पृ0 33
3. वही .
4. वही, पृ0 13
5. वही, पृ0 59

उक्त आत्म भर्त्सना में विनय का भाव भी लक्षित किया जा सकता है ।

गुप्त जी का ही एक अन्य खण्डकाव्य "विरहिणी ब्रजांगना" स्वयं गुप्त जी के ही शब्दों में मधुसूदन कृत ब्रजांगना का भावानुवाद है। किन्तु डॉ० उमाकान्त सहित अनेक विद्वानों का मत है कि यह भावानुवाद न होकर ब्रजांगना का अविकल अनुवाद है ।

यह एक बहुत बड़ा सत्य है, कि द्विवेदी युग में हिन्दी खड़ी बोली काव्य के विकास का स्वरूप अपनी पूर्णतया तथा भव्यता के साथ मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों में प्रतिफलित हुआ है । सन् 1905 से 1920 ई० तक रचित इन काव्य-प्रबन्धों के काल खण्ड में ही द्विवेदी युगीन कविता भारतेन्दु कालीन प्रभावों से मुक्त होकर पूरी कलात्मकता तथा भावात्मकता के साथ विकसित हुई और अंतिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते छायावादी प्रभावों के लक्षण भी हिन्दी काव्य में दिखाई पड़ने लगे । गुप्त जी की सबसे लोक प्रिय रचना 'भारत भारती' है, जिसमें उन्होंने भारतवासियों की दीन-हीन दशा को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है । 'पत्रावली' में गुप्त जी ने अभिनव प्रयोग किया और सात काव्य-पत्रों का इसमें संकलन किया । इस रचना में खड़ी बोली का रूप इतना निखर उठा है, कि भाषा महिमा-मंडित प्रतीत होती है ।

'वैतालिक' गुप्त जी की वैचारिक कृति कही जायेगी । इसमें उन्होंनें युगों से सोये हुए भारतवासियों को जगाने के लिए उनका उद्‌बोधन किया है । गुप्त जी ने अपने सम्पूर्ण काव्य में इतिहास, पुराण, धर्म और सांस्कृतिक परम्पराओं को समाहित करने के साथ ही लोक जीवन को वाणी दी । वे नवीन राष्ट्रीय चेतना के प्रतिनिधि कवि बन गये । भारत की आत्मा को उन्होंनें वाणी दी ।

सन् 1914 से 1917 ईसवी के मध्य पाँच और महत्वपूर्ण खण्डकाव्य—'मौर्यविजय', 'आत्मोत्सर्ग', 'नकुल', 'अमृत पुत्र', तथा 'अनाथ' हिन्दी खड़ी बोली में रचे गये । इन पाँचों खण्ड काव्यों के रचनाकार थे सियाराम शरण गुप्त, जिन्होंनें अपने काव्य में राष्ट्रीय भावना को ही व्यंजित किया है । 'आत्मोत्सर्ग' की राष्ट्रीय भावना को 'मौर्यविजय' में साकार करते हुए सियाराम शरण जी ने "मातृ भूमि को शीश चढ़ा दें "[1] तथा " भारत के हम और हमारा भारत प्यारा "[2] जैसी पंक्तियाँ रची हैं ।

---

1. सियाराम शरण गुप्त, मौर्य विजय, पृ0 27
2. वही, पृ0 30.

"अनाथ" खण्डकाव्य में सियाराम जी ने तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में भारत के ग्राम्य-जीवन तथा भारतीय कृषक के दीन - हीन जीवन की करुण कथा को मार्मिक रूप से चित्रित किया है ।

द्विवेदीयुगीन खण्ड काव्यों में राम नरेश त्रिपाठी के तीन ग्रन्थ 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' भी उल्लेखनीय हैं । त्रिपाठी जी ने कल्पित कथाओं के माध्यम से देश भक्ति जैसे विषय को भी सरसता प्रदान की तथा आवाहन किया —

" पर पद दलित स्वदेश भूमि का चलो करें उद्धार "[1]

तथा— " किया जिन्होंने स्वर्ण भूमि को कौड़ी का मोहताज"[2]

और— " प्रतिफल देना उन्हें उचित है धर विकराल कृपाण"[3]

गाँधी जी की अहिंसा परमोधर्मः की नीति को भी त्रिपाठी जी ने अपनी रचना में सशक्त वाणी दी —

"रक्तपात् करना पशुता है कायरता है मन की
अरि को वश करना चरित्र से शोभा है सज्जन की ।"[4]

---

1. राम नरेश त्रिपाठी, मिलन, पृ0 9

2. वही, पृ0 4

3. वही. पृ0 5

4. राम नरेश त्रिपाठी, पथिक, पृ0 56

जयशंकर प्रसाद जी ने भी द्विवेदी युग में ही काव्य रचना आरम्भ कर दी थी । उन्होंनें पहले ब्रज भाषा में काव्य रचना की, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण उनका सर्गविहीन खण्डकाव्य 'प्रेम पथिक' है । इसके ब्रज भाषा में रचित रूप का प्रकाशन सन् 1906 में हुआ था । बाद में सम्भवतः युगीन प्रभाव के कारण प्रसाद जी ने इसका रूपान्तर खड़ी बोली में किया, जो सन् 1914 में प्रकाशित हुआ । स्वयं प्रसाद जी ने लिखा है —" यह ब्रज भाषा में आठ वर्ष पहले लिखित 'प्रेम पथिक' का परिवर्तित, परिवर्धित, तुकान्तविहीन हिन्दी रूप है ।"[1]

इस खण्ड काव्य की कथा काल्पनिक भी है, रोमांटिक भी तथा भावना प्रधान भी । प्रसाद जी लिखते हैं —

" प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है ।"[2]

प्रसाद जी ने उसी काल-खण्ड में सन् 1914 ईसवी के पूर्वार्द्ध में एक और सर्गविहीन खण्डकाव्य 'महाराणा का महत्व' की रचना की।

---

1. जय शंकर प्रसाद, प्रेम पथिक, निवेदन, पृ0 5
2. वही, पृ0 22.

पाँच दृश्यों में बँटे इस लघु प्रबन्ध का आरम्भ एक प्रश्न के साथ होता है, जिसमें जिज्ञासा भी है, संवाद की ध्वनि थी —

क्यों जी कितनी दूर अभी वह दुर्ग है

इस खण्डकाव्य के नायक महाराणा प्रताप के चरित्र को प्रसाद जी ने इतनी उज्ज्वलता प्रदान की है, कि उनकी राष्ट्रीयता की प्रशंसा विदेशी भी किये बिना नहीं रह सके ---

" सच्चा साधक है सपूत निज देश का,

युक्त पवन में पला हुआ वह वीर है ।"

'इन्दु' के सन् 1913 के एक अंक में प्रसाद जी की एक और रचना 'करुणालय' प्रकाशित हुई, जो स्वयं प्रसाद जी के शब्दों में एक "दृश्य गीति नाट्य के ढंग पर लिखा गया"[1] काव्य है । इसे कुछ विद्वान गीति रूपक, भाव नाट्य, कथोपकथनात्मक पद्य कथा या नाटकोन्मुख, कथोपकथनात्मक, पद्यबद्ध कहानी भी कहते हैं । इस नाट्योन्मुख खण्डकाव्य में प्रसाद जी ने हरिश्चन्द्र, शुनः शेप, अजीगर्त, विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसे पात्रों की प्रस्तुति में उल्लेखनीय मौलिकता का प्रदर्शन किया है तथा नरबलि जैसी घृणित प्रथा का

---

1. जयशंकर प्रसाद, करुणालय, सूचना .

कड़ा विरोध किया है ।

सुमित्रानंदन पंत ने भी एक सर्गविहीन खण्डकाव्य 'ग्रन्थि' की रचना सन् 1920 में की थी । किन्तु कुछ विद्वान इसे खण्डकाव्य न मानकर गीतिकाव्य, विरह काव्य या एक घटना का वर्णन मात्र मानते हैं । इस रचना की कथा विशुद्ध कथा नहीं है, वह एक पृष्ठभूमि मात्र है, एक प्रेम वंचित भावुक हृदय की मर्म व्यथा की अभिव्यंजना मात्र है । यह रचना एक लम्बी प्रगीति प्रतीत होती है । प्रगीति शैली का 'ग्रन्थि' में बहुत अच्छा प्रयोग हुआ है । इस रचना का नामकरण विवाह के ग्रन्थि-बंधन के प्रतीक के रूप में किया गया है, जिसमें नायिका शैवालिनी का ग्रन्थि-बंधन अपने प्रेमी से न होकर किसी अन्य से हो जाता है । पंतजी प्रेम वंचित के लिए कहते हैं ---

"प्रेम वंचित को तथा कंगाल को,

है कहाँ:आश्रय विरह की वहानि में ।"[1]

'ग्रन्थि' की छन्दयोजना की प्रशंसा में डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है--
"वास्तव में पंत की छंद योजना/विशुद्ध है । उनके प्रत्येक छंद में राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है । कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नहीं दिखाई पड़तीं ---" उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार कर दी गयी हैं ।"[2]

---

1. सुमित्रानंदन पंत, ग्रन्थि, चतुर्थ संस्करण, पृ० 43.

2. पूनम चन्द्र तिवारी, द्विवेदी-युगीन काव्य, पृ० 490 पर उद्धृत.

सन् 1915 में प्रकाशित द्वारिका प्रसाद गुप्त रचित ऐतिहासिक खण्डकाव्य 'आत्मार्पण' भी इस युग की एक उत्तम रचना है। इस खण्डकाव्य में भारतीय इतिहास की वह अद्भुत घटना वर्णित है, जिसमें एक नवविवाहिता राजपूतानी अपने पति चूड़ावत् को युद्ध में निराशा से ग्रसित होता देख अपना शीश काट कर उसके पास भेज देती है। इस खण्डकाव्य के अंतिम अंश में कवि ने हिन्दुत्व की भावना भी उजागर की है —

" हिन्दूपन की धाक जगत में जम जाये फिर हे जगदीश,
बने साहसी राजा जैसे प्रकटें प्रभावती सी सतियाँ।"[1]

सन् 1919 में श्रीधर की पद्यात्मक काल्पनिक कथा पर आधारित रचना 'चारण' प्रकाशित हुई। सेठ गोविन्द दास ने 1916 से 1919 ई० के मध्य 'प्रेम विजय' महाकाव्य की रचना की। श्रीधर पाठक ने 1902 ई० में 'श्रान्त पथिक' शीर्षक से गोल्ड स्मिथ के 'द ट्रैवलर' का शाब्दिक अनुवाद किया। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कालिदास के 'कुमारसंभव' के पाँच सर्गों को सर्वोत्तम मानकर उनका अनुवाद सन् 1902 में किया, यद्यपि 'कुमार संभव' में सत्रह सर्ग हैं।

यद्यपि द्विवेदी युग में खड़ी बोली काव्य का ही वर्चस्व था तथा कई ऐसे कवियों ने भी खड़ी बोली में काव्य रचना

---

1. द्वारका प्रसाद गुप्त, आत्मार्पण, रसिकेन्द्र, पृ० 61.

प्रारम्भ कर दी थी जो पहले ब्रजभाषा में काव्य रचना करते थे, फिर भी कुछ ऐसे ब्रजभाषा के प्रति निष्ठा रखने वाले कवि थे जो युगीन प्रभाव के विपरीत ब्रजभाषा में ही काव्य रचना करते रहे। इनमें जगन्नाथ दास रत्नाकर, सत्य नारायण कविरत्न, राय देवी प्रसाद पूर्ण विशेष उल्लेखनीय हैं। रत्नाकर का उद्धव शतक' तो इस काल के ब्रजभाषा काव्य का अत्यधिक प्रतिष्ठित खण्डकाव्य है, जिसकी रचना सन् 1910 से 1920 के मध्य हुई। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से 'उद्धव शतक' मुक्तक काव्य है, किन्तु इसमें प्रबन्ध काव्य की अनेक विशिष्टतायें देखने को मिलती हैं। सत्य नारायण कविरत्न ब्रजभाषा के अंतिम समावत कवि थे, जो ब्रजभाषा ही नहीं, ब्रजभूमि तथा ब्रजपति के भी भक्त थे। उन्होंनें करुण रस तथा माधुर्यगुण को अपने काव्य का मुख्य रूप से आधार बनाया और भवभूति कृत 'उत्तर राम चरित' का अनुवाद भी किया, जो इस कृति का सर्वोत्तम हिन्दी अनुवाद माना जाता है।

हरिजन - सेवा के प्रति समर्पित वियोगी हरि ने 'वीर सतसई', 'राणा प्रताप' तथा 'प्रेम - पथिक' जैसी रचनाओं की सृष्टि की। 'प्रेम -पथिक' सन् 1915 में रचा गया था, जिसमें प्रेम पुरी की काल्पनिक यात्रा का रसपूर्ण काव्य वर्णन उन्होंनें किया है। इस युग के कुछ अन्य कवि जैसे प्रेमधन, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, लाला श्रीनिवास दास तथा नाथू राम शर्मा शंकर भी मुख्यतः ब्रजभाषा के ही कवि थे।

द्विवेदी युग में स्फुट तथा संयुक्त मुक्तक भी रचे गये । इनमें प्रकृति, युद्ध, ऐतिहासिक स्थल, चकोर तथा कोकिल जैसे विषयों को उठाया गया । उपदेशपूर्ण मुक्तकों की रचना भी शंकर, रूप नारायण पाण्डेय, हरि और आचार्य द्विवेदी तथा राधा कृष्ण दास ने की। कुछ विवेचनात्मक और आलोचनात्मक मुक्तक भी रूप नारायण पाण्डेय, शंकर और द्विवेदी जी ने लिखे । एक से अधिक छन्दों वाले संयुक्त मुक्तक भी इस युग में प्रसाद, पंत, निराला, कामता प्रसाद गुरु, बदरी नाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, लाल भगवानदीन, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने रचे ।

सम्बोधन गतियाँ भी प्रसाद, निराला और रूप नारायण पाण्डेय जैसे कवियों ने लिखीं । निराला की 'जुही की कली' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं --

" विजन - वन - वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह -स्वप्न-मग्न,
अमल कोमल तनु तरुणी, जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में ।" [1]

इसी प्रकार पंत ने लिखा --

"कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के नीचे सोई ।
हाय, तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल-सा निष्ठुर कोई ।।[2]

---

1. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जुही की कली.
2. सुमित्रानंदन पंत, छाया.

द्विवेदी युग में भक्ति-गीत, प्रार्थना-गीत, स्वागत-गीत, राष्ट्रीय-गीत भी लिखे गये, जिनके रचनाकारों में पूर्ण, सनेही, रूप नारायण पाण्डेय, शंकर, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरणगुप्त, राम नरेश त्रिपाठी, कामता प्रसाद गुरु प्रमुख हैं।

इस युग में सानेट अर्थात चतुष्पदियाँ भी रची गयी। रूप नारायण पाण्डेय ने सबसे पहले खड़ी बोली में सानेट की रचना की। प्रसाद ने भी चतुश्पदियों की रचना की है।

कवि त्रिशूल ने उस काल में एक समापत साम्यवादी कविता की रचना की थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ ही उस काव्य की तीक्ष्णता को दर्शाने के लिये पर्याप्त हैं —

" कुछ भूखों पर मर रहे महा तनु जीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये कि घोर अजीर्ण हुआ है।
कैसा यह वैषम्य - भाव अवतीर्ण हुआ है।
जीर्ण हुआ मस्तिष्क, हृदय संकीर्ण हुआ है।
कुछ मधु पीकर मत्त हों, आँसू पीकर कुछ रहें।
कुछ लूटें संसार सुख, मरते जीकर कुछ रहें।।"[1]

द्विवेदी युग में काव्य की लगभग सभी रूप-विधाओं में रचनायें की गयीं। महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघु प्रबन्ध, मुक्तक तथा गीतों की इतनी विपुल मात्रा में रचनायें सामने आयी और उनमें जीवन के

---

1. त्रिशूल, राष्ट्रीय मंत्र, पृ० 5

लगभग सभी पक्षों तथा युगीन वातावरण की ऐसी सशक्त अभिव्यक्तियाँ देखने को प्राप्त हुईं, कि खड़ी बोली हिन्दी में पद्य रचना की सशक्तता स्वतः प्रमाणित हो गयी। भावों की गहनता, शिल्प-सौन्दर्य, शैलीगत, विविधता, आत्मानुभूतिपरक सरसता तथा भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति इस युग के साहित्य स्रष्टाओं ने अपनी रचनाओं के माध्यम से पूरी तरह स्थापित की।

द्विवेदीयुगीन गद्य विधायें :-

खड़ी बोली हिन्दी के गद्य-साहित्य के विकास में भी द्विवेदी युग तथा इस युग की पृष्ठभूमि में कार्य कर रही प्रवृत्तियों तथा चेतनाओं- अंतः चेतनाओं का उतना ही महत्व है, जितना काव्य-साहित्य के विकास में। यह ऐसा क्रान्तिकारी युग था, जब काव्य स्रष्टाओं ने ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली हिन्दी को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया तथा परम्परागत् काव्य-विषयों से परे हटकर युगीन चेतना के अनुरूप काव्य-विषयों में नये आयाम जोड़े। गद्य-साहित्य में यद्यपि खड़ी बोली भारतेन्दुयुगीन साहित्य स्रष्टाओं को ग्राह्य हो चुकी थी, किन्तु उसमें व्याप्त अव्यवस्था तथा अराजकता से मुक्ति द्विवेदी युग में ही आचार्य द्विवेदी के प्रयास से प्राप्त हो सकी। अंग्रेजी तथा अन्य उन्नतिशील भाषाओं के साहित्य से निकट सम्पर्क तथा उनके प्रभाव के फलस्वरूप गद्य की विभिन्न विधाओं का इस युग में आश्चर्यजनक विकास हुआ। और इन समस्त विधाओं में राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक चेतना की

आजस्र धारा अपने पूरे वेग से प्रवाहित हुई ।

भारत के इतिहास का यह एक ऐसा काल-खण्ड था, जब पूरा राष्ट्र नयी करवट ले रहा था, जन-जन सुषुप्तावस्था से जग कर राष्ट्रीय - सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति जागरूक हो रहा था, अपनी सांस्कृतिक धरोहर को नयी दृष्टि से महसूस करके अपने को गौरवान्वित अनुभव कर रहा था । कवियों ने ही नहीं, गद्य साहित्य के स्रष्टाओं ने भी राष्ट्र की इस नवीन चेतना को अच्छी तरह पहचाना और साहित्य की सभी विधाओं में उस चेतना को उजागर किया, क्योंकि यही उस युग की वास्तविक पहचान थी और यही जन-जन की आकांक्षाओं के अनुरूप था ।

विदेशी शासन के प्रति जन आक्रोश निरन्तर बढ़ता जा रहा था । राष्ट्रीय चेतना इतनी विकसित हो गयी थी, कि उसका लक्ष्य पूर्ण स्वतन्त्रता बन चुका था । इस युगीन चेतना की अभिव्यक्ति साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से भी हुई तथा अप्रत्यक्ष रूप से भी । कांग्रेस ने 1906 ई० के अधिवेशन में राष्ट्र की आर्थिक चेतना को जगाने का भी प्रयास किया । उसने इस गरीब देश की आर्थिक स्थिति की ओर इंगित करते हुये शासन का व्यय घटाने की मांग की । उसने सेना पर होने वाले व्यय को घटाने, कृषि बैंकों की स्थापना करने और सिंचाई की समुचित व्यवस्था करने की मांग के साथ-साथ प्राचीन उद्योगों को पुनर्जीवित करने, नये उद्योग लगाने तथा अनाज के

निर्यात को रोकने की भी माँग की । वास्तव में उस समय एक मात्र कांग्रेस ही राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधि थी और उसने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और सामाजिक-धार्मिक चेतना को भी उभारने का कार्य आरम्भ कर दिया था । देश की धार्मिक चेतना अभी तक इतनी पिछड़ी हुई तथा कट्टर थी, कि सन् 1892 में जब लोक मान्य तिलक तथा न्यायमूर्ति रानाडे ने ईसाई धर्मोपदेशकों के साथ चाय पी ली थी, तो उन्हें धर्म भ्रष्ट मान कर ऐसा हंगामा खड़ा कर दिया था कि इन नेताओं को गोमूत्र के प्राशन द्वारा प्रायश्चित तथा अपनी शुद्धि करनी पड़ी थी । इसके विपरीत इस काल-खण्ड में धार्मिक चेतना रूढ़िवादिता को छोड़कर इतनी प्रगतिशील हुई, कि महात्मा गाँधी ने एक अछूत कन्या को अपने आश्रम में अपनी पुत्री की भाँति रखा, सभी जातियों के लोगों को एक पंक्ति में बिठाकर भोजन कराया तथा अन्तर्जातीय कार्यों का निरोध करने का साहस नहीं किया । यह सत्य है कि आर्य समाज के सुधारवादी दृष्टिकोण का सनातनधर्मी अभी भी विरोध करते थे, किन्तु यह भी एक सुखद सत्य है कि धार्मिक - सामाजिक उदारता, सहिष्णुता तथा जागरूकता का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था । समाज को नेतृत्व सदैव ही मध्यम वर्ग ही प्रदान करता रहा है । इस शिक्षित मध्यम वर्ग की जागरूकता के परिणामस्वरूप ही सामाजिक-धार्मिक उदारता, सहिष्णुता, राष्ट्र-प्रेम, राजनीतिक चेतना और आर्थिक जागरूकता

का वर्चस्व बढ़ा था । यह भी सत्य है कि साहित्य की सृष्टि करने वाले रचनाकार भी मुख्यतः इसी शिक्षित मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे । अतः समस्त राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना उनके साहित्य में भी पूरी तरह प्रतिबिम्बित हुई तथा पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार की आभा उस काल की समस्त साहित्यिक कृतियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती रही । विधायें भिन्न-भिन्न थी, किन्तु उनमें प्रवाहित अन्तर्चेतना केवल एक थी । गद्य-साहित्य की विभिन्न विधाओं पर अलग-अलग विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है ।

विधाओं पर विचार करने के पूर्व द्विवेदी जी की 'सरस्वती' की तत्सम्बन्धी भूमिका पर भी विचार करना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी साहित्य की दिशा निर्धारित करने में द्विवेदी युग का पूर्वार्द्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण काल-खण्ड है । जैसी रामबक्ष की टिप्पणी है—
"वस्तव में सन् 1900 से 1910 तक का काल भारतीय इतिहास और हिन्दी साहित्य की भावी प्रकृति के निर्माण की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है — नीव की ईंट है । . . . . यह दौर साहित्य की "कलात्मकता" की दृष्टि से चाहे उतना महत्वपूर्ण न भी हो, पर साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है ।"[1]

---

1. रामबक्ष, 'सरस्वती में संस्कृति', (सन् 1900 - 1920 ई0), आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1977, पृ0 41.

सन् 1905 तक 'सरस्वती' में राष्ट्रीय चेतना सम्बन्धी अंतर्विरोध दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं अंग्रेजों की प्रशंसा है, तो कहीं आलोचना। किंतु जनवरी 1906 में राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक गीत "वन्देमातरम्" को न केवल हिन्दी में बल्कि संस्कृत और अंग्रेजी में भी प्रकाशित करके 'सरस्वती' ने साम्राज्यवाद -विरोधी संघर्ष की घोषणा कर दी। पिछली भूलों को सुधारा गया और द्विवेदी जी ने अंग्रेज-विरोधी स्वर को मुखर करने के साथ ही राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक- धार्मिक जागरूकता की आधारशिला पर साहित्य-सृजन को प्रोत्साहित और प्रेरित किया। फरवरी 1907 में स्वयं द्विवेदी जी ने सम्पत्तिशास्त्र पर 'सरस्वती' में निबन्ध लिखे और बाद में इसी शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी, जिसमें अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को उजागर किया तथा "गवर्नमेन्ट ही गोया जमींदार है"[1] जैसी टिप्पणी भी की। आम जनता तथा राष्ट्र के हित-चिन्तन की ओर साहित्य-स्रष्टाओं को प्रेरित करने का प्रयास 'सरस्वती' ने सबसे अधिक किया। इस तथ्य को भी अन्य - विधाओं पर चर्चा करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

---

1. सरस्वती, भाग 8, संख्या 8, पृ0 318.

नाट्य - विधा :-

" साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है " की उक्ति अन्य किसी गद्य-विधा पर उतनी पूर्णता से नहीं प्रतिष्ठित होती, जितनी नाट्य विधा पर । संस्कृत साहित्य में तो नाटकों की महिमा को इतनी श्रेष्ठता के साथ स्वीकारा गया है, कि उसे 'पंचम वेद' तक की संज्ञा से विभूषित किया गया है । अन्य गद्य- रूप तो केवल एकाकी पाठक अथवा पाठक सहित दो-चार श्रोताओं को ही एक बार में लक्षित करते हैं, किन्तु नाटक एक साथ सैकड़ों - हजारों दर्शकों को लक्ष्य करके उपस्थित होते हैं और उनके मर्म का स्पर्श कर जाते हैं । संवाद , गान, अभिनय तथा रस जैसे तत्वों से परिपूर्ण नाटकों में आचार्य भरतमुनि के ' नाट्य - शास्त्र ' के अनुसार लोक भावनानुसार भाषा इसी कारण आवश्यक है, क्योंकि उसे एक साथ शिक्षित -अशिक्षित जन समुदाय के सम्पर्क में आना होता है । उसे अपनी अभिव्यक्ति को दर्शकों के चक्षु तथा श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से उनके मन की गहराइयों तक पहुंचाना होता है ।

किंतु साहित्य की इतनी सशक्त विधा द्विवेदी युग में अपेक्षित समृद्धि नहीं अर्जित कर सकी । ऐसा नहीं कि इस काल-खण्ड में लिखे गये नाटकों की संख्या कम हो, लेकिन संख्या में कम न होने पर भी उनमें साहित्यिक महत्व तथा प्रभावोत्पादकता का गहरा

अभाव है । भारतेन्दु युग में साहित्यकार की साहित्यिक प्रतिभा की कसौटी नाट्य रचना को ही माना जाता था । स्वयं भारतेन्दु श्रेष्ठ नाटककार थे । किन्तु उनके बाद साहित्य में जिस युग का उदय हुआ, उसका नेतृत्व करने वाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी न तो स्वयं नाटककार थे और न उन्होंने नाट्य साहित्य की श्रीवृद्धि की ओर पर्याप्त ध्यान ही दिया । उन्होंने 'नाट्य शास्त्र' पुस्तिका लिखने के अतिरिक्त इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया । 'सरस्वती' में प्रकाशित साहित्यिक व्यंग्यचित्रों में भी उन्होंने यदा-कदा साहित्य की इस विधा की हीनता पर कटाक्ष अवश्य किये, किन्तु इसे नाट्य-विधा की श्रीवृद्धि के गम्भीर प्रयास के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता । चूँकि युग का नेता ही उदासीन था, अतः साहित्य स्रष्टाओं ने भी इस विधा की ओर ध्यान नहीं दिया । किन्तु प्रतिष्ठित रचनाकारों ने कतिपय नाटक लिखे भी तो केवल नाटककारों की पंक्ति में अपना नाम दर्ज कराने या मानसिक विलास की तुष्टि के लिए ।

नाट्य - साहित्य के अभाव की ओर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ध्यान अवश्य आकृष्ट हुआ और उसके द्वितीय अधिवेशन में हिन्दी सभाओं से नाटकों का अभिनय कराने का आग्रह भी किया गया । काशी की नागरी नाटक मण्डली तथा साहित्य सम्मेलन ने भी कुछ विशेष अवसरों पर नाटक मंचित कराये, किन्तु ये सारे प्रयास नगण्य थे ।

द्विवेदी युग के ठीक पहले अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध जैसे रचनाकार ने सन् 1893 में 'प्रद्युम्न - विजय - व्यायोग' तथा सन् 1894 में 'रुक्मणी-परिणय' नाटक लिखे, किंतु उनका प्रयास यहीं तक सीमित रह गया । बाद में द्विवेदी युग में राम नारायण मिश्र ने सन् 1906 में 'जनकवाड़ा - दर्शना' तथा 1910 ई0 में "कंसवध", ब्रजनन्दन सहाय ने 1909 ई0 में 'बूढ़ावर', बालकृष्ण भट्ट ने संवत् 1969 में 'शिक्षादान', विजयानन्द त्रिपाठी ने सन् 1912 में 'कविजय नाटक,' लोचन प्रसाद पाण्डेय ने सन् 1914 में 'साहित्य सेवा', मिश्र बन्धु ने संवत् 1971 में 'नेत्रोन्मीलन' और सं0 1979 में 'पूर्वभास', मैथिलीशरण गुप्त ने सं0 1972 में 'चन्द्रहास', सं0 1973 में 'तिलोत्तमा', और सं0 1982 में 'अनघ', विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' ने सन् 1918 में 'भीष्म' और सं0 1978 में 'अत्याचार का परिणाम', चतुरसेन शास्त्री ने सन् 1927 में अमर सिंह राठौर और 1928 में 'उत्सर्ग', बेचन शर्मा 'उग्र' ने सं0 1979 में 'महात्मा ईसा', वियोगी हरि ने सं0 1979 में 'छद्म वियोगिनी नाटिका', प्रेम चन्द्र ने सं0 1979 में 'संग्राम' और सं0 1981 में 'कर्बला', जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने सं0 1980 में 'मधुर मिलन', सुदर्शन ने सं0 1980 में 'अंजना' और राम दास गौड़ ने सं0 1922 में 'ईश्वरीय न्याय' नाटकों की रचना की । किन्तु इतने पर ही उनकी नाट्य -रचना पर पूर्ण विराम लग गया ।

सन् 1900 से 1910 तक का समय नाट्य साहित्य के लिए प्रायः दुष्काल है । इस कालावधि में कोई भी महत्वपूर्ण नाटक नहीं है।[1] सन् 1905 में बंग - भंग के बाद राष्ट्रीय चेतना यद्यपि बड़ी तीव्र और सजग हो गयी थी, किन्तु नाट्य-साहित्य पर उसका अपेक्षित प्रभाव नहीं दिखायी दिया । इस कालावधि में पारसी थियेटर के लिए नारायण प्रसाद बेताब, आगा हश्र, हरीकृष्ण जौहर, तुलसी दत्त शैदा, राधेश्याम कथावाचक आदि ने नाटक लिखे अवश्य, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं था । फारसी-उर्दू मिश्रित भाषा तथा इश्क - मुहब्बत से भरी रूमानी कहानियों पर आधारित ये नाटक वास्तव में हिन्दी के सांस्कृतिक गौरव के भी विरुद्ध थे ।

द्विवेदीयुगीन नाट्य साहित्य का हम सूक्ष्म विश्लेषण करने पर देखते हैं, कि इस युग के उत्तरार्ध में ही नाट्य साहित्य को कुछ गौरव मिल सका, जब साहित्य क्षितिज पर जयशंकर प्रसाद का उदय हुआ । प्रसाद ने न तो रंगमंच के अभाव पर ध्यान दिया, न अभिनयात्मकता और मंचन की प्राथमिकताओं को ही महत्व दिया । किन्तु प्रसाद ने प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आधार बना कर गुरु-गम्भीर शैली में अलंकृत, परिष्कृत और भावात्मक नाटकों की

---

1. डॉ० राम रतन भटनागर, प्रसाद के नाटक, पृ० 16—17

रचना की । उन्होंने अपने नाटकों में काव्यात्मक भाषा-शैली को अपनाया । इस सम्बन्ध में उन्होंने आलोचनाओं आक्षेपों से अपनी लेखनी को तनिक भी विचलित नहीं होने दिया । इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है कि अंग्रेजी साहित्य के महान नाटककार शेक्सपियर ने भी काव्योन्मुखी नाटकों की ही रचना की थी । प्रसाद जी ने प्रथम नाटक 'सज्जन' के 1910-11 में प्रकाशन के साथ ही हिन्दी साहित्य में एक महान नाटककार का उदय हुआ । मानना तो यह चाहिए कि यह एक उल्लेखनीय साहित्यिक घटना थी । उनके नाटकों की प्रौढ़-प्रांजल भाषा-शैली ने हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नया आयाम दिया ।

द्विवेदी युग में रचे गये नाट्य साहित्य को सात वर्गों में विभाजित किया जा सकता है --§1§ धार्मिक-पौराणिक नाटक, §2§ सामाजिक नाटक, §3§ ऐतिहासिक नाटक, §4§ रोमांचकारी नाटक, §5§ प्रहसन , §6§ अनूदित नाटक और §7§ गीति-नाट्य ।

जब हम इस युग के पौराणिक नाटकों पर विचार करते हैं, तो उनमें भी तीन वर्ग मिलते हैं --कृष्णचरित सम्बन्धी नाटक, रामचरित सम्बन्धी नाटक तथा अन्य पौराणिक पात्रों अथवा घटनाओं पर आधारित नाटक । कृष्ण चरित पर आधारित नाटकों में जो नाटक प्राप्त होते हैं, उनमें सन् 1904 में राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा', सन् 1907 में शिवनन्दन सहाय द्वारा

रचित 'सुदामा', सन् 1909 में बनवारी लाल कृत 'कृष्ण वध' तथा 'कंसवध', सन् 1909 में ब्रजनन्दन सहाय द्वारा रचित 'उद्धव' तथा सन् 1910 ई0 में राम नारायण मिश्र द्वारा लिखे गये 'कंसवध' विशेष उल्लेखनीय है। रामचरित पर आधारित उल्लेखनीय नाट्य कृतियाँ है —सन् 1906 में राम नारायण मिश्र द्वारा रचित 'जनकबाड़ा', सन् 1910 में गंगा प्रसाद कृत 'रामाभिषेक', उसी वर्ष गिरधर लाल कृत 'राम वनयात्रा', सन् 1911 में नारायण सहाय द्वारा रचित 'राम लीला' और सन् 1912 में राम गुलाम कृत 'धनुषयज्ञ लीला'। विविध पौराणिक पात्रों तथा घटनाओं को कथा-केन्द्र में रख कर जिन नाटकों की रचना द्विवेदी युग में की गयी, उसमें सन् 190 5 में महावीर सिंह लिखित 'नल-दमयन्ती', 1906 में गौरचरण गोस्वामी द्वारा रचित 'अभिमन्यु बध', उसी वर्ष सुदर्शनाचार्य कृत 'अनर्घ नलचरित', सन् 1908 में बांके बिहारी लाल कृत 'सावित्री नाटिका', सन् 1909 में बालकृष्ण भट्ट द्वारा लिखित 'वेणु संहार', सन् 1910 में लक्ष्मी प्रसाद रचित 'उर्वशी', 1910 में ही हनुमन्त सिंह रचित 'सती चरित्र', सन् 1911 में शिव नन्दन मिश्र, कृत 'शकुन्तला', सन् 1912 में जयशंकर प्रसाद कृत 'करुणालय', सन् 1915 में बद्री नाथ भट्ट द्वारा लिखित 'कुरुवन दहन', सन् 1916 में माधव शुक्ल रचित 'महाभारत पूर्वार्द्ध', सन् 1917 में

हरिदास माणिक रचित 'पाण्डव-प्रताप', तथा सन् 1918 में माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा रचित 'कृष्णार्जुन युद्ध' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

यदि नाट्य कला की दृष्टि से इन धार्मिक-पौराणिक नाट्य कृतियों पर सूक्ष्म विचार किया जाय, तो इनमें नाट्य कला का विकास नाम मात्र को ही नहीं दृष्टिगत् होता। नाटक का एक प्रमुख अंग अभिनय-तत्व भी इन नाटकों में शून्य है। और-तो-और बालकृष्ण भट्ट जैसे उत्कृष्ट रचनाकार ने भी अपने नाटकों में ऐसी भूलें की हैं जिन्हें भद्दी कहने में भी संकोच नहीं होगा। उनके 'वेणु संहार' में महाराज वेणु के कर्मचारी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो अत्यन्त असंगत और दोषपूर्ण है। महाराज वेणु के युग के पात्र से अंग्रेजी बोलवाना भट्ट जी की अक्षम्य भूल थी। यही नहीं, उनके नागरिक पात्र आधुनिक सामाजिक विकृतियों की चर्चा उर्दू गज़लों के माध्यम से करते दिखाये गये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भट्ट जी पारसी थियेटर के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सके और उन्होंने उर्दू गज़ल की तर्ज पर गीत-रचना की। यह भी एक बड़ा विद्रूप है कि सन् 1903 में स्वयं बालकृष्ण भट्ट ने ही पारसी थियेटर की तीखी आलोचना करते हुये लिखा था — "हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम लटका यह पारसी थियेटर है, जो दर्शकों को आशिक-माशूकों का लुत्फ़ हासिल कराने का बड़ा उम्दा जरिया है।"[1]

---

1. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 519 पर उद्धृत।

शायद पूरे शिष्ट समाज की इन नाटकों के सम्बन्ध में यही प्रतिक्रिया रही होगी । किन्तु जब स्वयं भट्ट जी ने नाटक की रचना की, तो वे भी इस 'लटके' को अपनाने का लाभ संवरण नहीं कर सके ।

माखन लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' अवश्य एक अपवाद था, जिसमें साहित्यिक गुण भी थे, राष्ट्रीय चेतन भी । अन्य नाटकों में तो पौराणिक-धार्मिक चरित्रों के माध्यम से उपदेश देने मात्र की प्रवृत्ति दिखाई देती है ।

हिन्दी में इस काल-खण्ड में ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गये और प्रसाद जी के पहले से ही कई लेखकों ने अपनी लेखनी इस दिशा में चलाई । किंतु खड़ी बोली हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात वास्तविक अर्थों में जयशंकर प्रसाद के नाटकों से ही हुआ । उनका प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री' सन् 1915 में रचा गया । इस नाटक में ऐतिहासिक तत्व की प्रसादजी ने पूरी रक्षा की है । इसके पूर्व सन् 1903 में गंगा प्रसाद गुप्त ने "वीर जयमल", सन् 1909 में वृन्दावन लाल वर्मा ने 'सेनापति उदल', 1915 में बद्री नाथ भट्ट ने 'चन्द्रगुप्त', सन् 1915 में ही कृष्ण प्रकाश सिंह ने 'पन्ना', उसी वर्ष हरिदास मणिक ने 'संयोगिता हरण' तथा प्रसाद जी ने प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री' के पश्चात सन् 1918 में परमेष्ठीदास जैन ने 'वीर चूड़ावत सरदार,' नाटक की रचना की थी । किन्तु इन नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण तक का निर्माण लेखक नहीं कर सके ।

तत्कालीन युग-प्रवृत्ति चूँकि राजनीतिक-सामाजिक चेतना तथा सुधारवादी दृष्टि की थी, अतः सामयिक विषयों पर भी रचनाकारों ने नाटक लिखे । इनमें सामाजिक कुरीतियों पर कटाक्ष के साथ-साथ सामाजिक सुधार के उपदेश भी हैं । जीवन की विकृतियों को उभारकर उनपर चोट करने की श्रेयष्कर प्रवृत्ति नाटककारों में उसी तरह थी जैसी अन्य विधाओं के रचनाकारों में, किन्तु नाट्यकला इनमें एकदम उपेक्षित रही । नाट्यकला की दृष्टि से इन नाट्य कृतियों का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि नाट्य शास्त्र का निर्वाह करने का इन रचनाकारों ने प्रयास ही नहीं किया । सन् 1902 में प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा', सन् 1905 में भगवती प्रसाद रचित 'वृद्धविवाह', सन् 1906 में रचित जीवानन्द शर्मा का 'भारत विजय', सन् 1915 में रचित कृष्णानन्द जोशी का 'उन्नति कहाँ से होगी' और 1915 में ही मिश्रबन्धु कृत 'नेत्रोन्मीलन' सामाजिक विकृतियों पर ही प्रहार करने वाले नाटक हैं, किंतु इनमें नाट्यशास्त्र पर नगण्य और समाज-सुधार पर ही भरपूर ध्यान केन्द्रित किया गया है ।

पारसी थियेटर का ही यह प्रभाव था, कि हिन्दी में रोमांचकारी और अलौकिक घटनाओं को केन्द्र बिन्दु बनाकर रोमांचकारी नाटक लिखे गये । हिन्दी साहित्य के इतिहास के कतिपय लेखकों ने इन्हें मंचीय नाटक की भी संज्ञा दी है । ये रोमांचकारी नाटक भी दो प्रकार के हैं । एक में पारसी प्रेमाख्यानों को आधार बनाया गया है

और दूसरे में अलौकिक पौराणिक आख्यानों को । उस काव्य-खण्ड में जन-रुचि को व्यावसायिक नाटक कम्पनियों ने उसी तरह प्रभावित कर रखा था, जिस प्रकार आधुनिक युग के सिनेमा ने । अतः इन व्यावसायिक कम्पनियों के लिए ही ये रोमांचकारी नाटक लिखे गये । मोहम्मद मियाँ 'रौनक', हुसैन मियाँ, 'जरीफ', मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान', नरायण प्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' तथा राधे श्याम कथावाचक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंनें परदों की तड़क-भड़क और वेषभूषा की चमक-दमक से अपने नाटकों को आकर्षक बनाया । उन्होंनें आकाश से तारों के टूटने, खम्भों के ध्वस्त होने तथा उनमें से पात्रों के प्रकट होने, आकाशमार्ग से देवताओं के आवागमन तथा पुष्प-वर्षा जैसे चमत्कारपूर्ण दृश्यों को अपने नाटकों में समाहित करके उन्हें रोमांचक बनाया । ऐसे नाटकों का प्रारम्भ प्रायः कोरस से होता था और समानान्तर प्रहसन भी चलता रहता था ताकि नाटक की मुख्य भावधारा से कुछ देर के लिए दर्शक का ध्यान हटाकर उसे हँसने-हँसाने का मौका मिल जाय । बाद में नाटककार समानान्तर हास्य के स्थान पर मुख्य नाटक में ही हास्य तत्व को समाहित करने लगे । इन नाटकों में पहले तो उर्दू-फारसी बहुल भाषा का ही प्रयोग होता था । बाद में बोलचाल की साधारण भाषा में ये नाटक लिखे जाने लगे । ये नाटक वस्तुतः उन व्यावसायिक नाटक कम्पनियों के

लिये लिखे गये, जिनका एकमात्र उद्देश्य जनता को सस्ता मनोरंजन देकर अधिक - से - अधिक धनोपार्जन करना था । बाद में प्रतिक्रिया स्वरूप प्रयाग में श्रीरामलीला नाटक मंडली, काशी में नागरी नाटक मंडली तथा भारतेन्दु नाटक मंडली और कलकत्ता में हिन्दी नाट्य परिषद जैसी संस्थायें स्थापित हुई, जिनके माध्यम से ऐसे नाटक मंचित हुये जिनमें अभिनयात्मकता के साथ-साथ कुछ साहित्यिक तत्व भी था और सुरुचि थी । अधिकांश रोमांचकारी नाटकों में तो छिछलापन और सस्ते मनोरंजन की ही प्रवृत्ति थी । कारण स्पष्ट था, कि आदर्शवादी और श्रेष्ठ साहित्यकार नाटक कम्पनियों के लिये लिखना अपमानजनक समझते थे, अतः उनसे कोई सम्पर्क ही नहीं रखते थे । शायद वे इस दिशा में अपनी लेखनी उठाते, तो इन नाटकों में भी साहित्यिक तत्व का थोड़ा बहुत समावेश अवश्य हो पाता ।

उपरोक्त नाटकों में समानान्तर हास्य-कथा का जो प्रचलित रूप था, उसी के स्वस्थ रूप में स्वतन्त्र प्रहसन भी द्विवेदी युग में लिखे गये, बद्रीनाथ भट्ट ने सन् 1912 में 'चुंगी की उम्मीदवारी' शीर्षक जो प्रहसन लिखा, उसमें तीखा कटाक्ष होने के साथ ही स्वस्थ हास्य भी है । गंगा प्रसाद श्रीवास्तव ने भी सन् 1918 में 'उलटफेर', और 'नोक-झोंक', प्रहसनों की रचना की । उन्होंने 'गड़बड़झाला', 'मरदानी औरत', 'नाक में दम', साहब बहादुर उर्फ चड्ढा, 'गुड़खेल', 'मारमार कर हकीम'

आदि हास्य नाटक भी लिखे । इनमें हास्य तो है, किन्तु उसे छिछलेपन से नहीं बचाया जा सका है । भाषा बाजारू और हास्य निम्न कोटि का है । बृजनंदन सहाय ने 1909 में 'बुद्वावर' और लोचन प्रसाद पाडेय ने 1914 में 'साहित्य सेवा' नाटकों की रचना की थी । किन्तु इनका हास्य भी ओछेपन के कारण निम्न कोटि का ही माना जायेगा ।

व्यंग्यात्मक प्रहसनों के क्षेत्र में अवश्य चण्डी प्रसाद हृदयेश, सुदर्शन और बेचन शर्मा उग्र ने व्यंग्य के साथ परिहास मिश्रित विनोदपूर्ण नाट्य रचनायें की । बाल विवाह, छुआ छूत, समाज की असंगत रूढ़ियों, पाखंडों, फैशनपरस्त नारी, उच्छृंखलता और पश्चिम के अंधानुकरण पर अच्छे और पुष्ट व्यंग्य किये गये । उग्र ने 'बेचारा सम्पादक', 'बेचारा अध्यापक' जैसे व्यंग्यात्मक नाटकों में शिष्ट हास्य की सृष्टि की है ।

द्विवेदी युग में अनूदित नाटकों की भी श्रृंखला मिलती है, जिनमें संस्कृत तथा बंगला भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी उल्लेखनीय हैं । सन् 1906 में सदानन्द अवस्थी ने संस्कृत से 'नागानन्द' नाटक तथा सन् 1913 में लाल सीताराम ने 'मृच्छकटिक' का अनुवाद किया । सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद भी इसी वर्ष किया । लाला सीताराम तथा चतुर्भुज औदीच्य ने शेक्सपियर के श्रेष्ठ अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद किया । फ्रांसीसी भाषा के उत्कृष्ट नाटककार मोलियर के नाटकों के अंग्रेजी

संस्करणों से लल्लीप्रसाद पाण्डेय तथा गंगा प्रसाद श्रीवास्तव ने हिन्दी नाट्य रूपान्तर किये । ब्रजनन्दन सहाय ने बंगला नाटकों के भी अनुवाद किये । लेकिन यह दुखद स्थिति थी कि इन अनुवादों में अनुवादक मूल कृतियों की आत्मा को नहीं उतार सके, अतः ये अनुवाद जीवन्त नहीं बन सके । अनुवाद तो तभी जीवन्त माना जाएगा जब मौलिक रचना सप्राण बन कर अनुवाद में उतर आये और अनुवाद मौलिक रचना जैसा प्रतीत होने लगे । इस युग के अनुवादों में यह श्रेष्ठता नहीं स्थापित हो सकी, यह सर्वमान्य सत्य है ।

द्विवेदी युग के काल-खण्ड में कुछ गीति-नाट्य भी रचे गये । इनमें तीन प्रधान रूप थे - संगीतमय, पद्यमय तथा गीतिमय । इन्दुमणि जी उस्ताद ने सन् 1906 में 'संगीत चन्द्रबलि का झूला', छोटे लाल उस्ताद ने उसी वर्ष 'संगीत ध्रुवलीला', विजयभारत सिंह ने सन् 1915 में 'संगीत सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'संगीत हरिश्चन्द्र' नाटकों की जो रचना की, उनमें नाटक कम्पनियों का ही प्रभाव प्रमुख रूप से उभरा । अभिनयात्मकता और चटकीले दृश्य तो इन गीति-नाट्यों में हैं, किन्तु भाषा, भाव तथा कलात्मक दृष्टि में इतनी भद्दी रुचि प्रदर्शित है कि इन कृतियों को तिरस्कृत ही माना जायेगा । मैथिलीशरण गुप्त का पद्य-रूपक 'अनघ', अवश्य भाव और भाषा की दृष्टि से उल्लेखनीय है, किन्तु उसमें 'नाटकीयता' का खटकने वाला अभाव है । लम्बे कथोपकथनों ने नाटकीयता को पूरी तरह दबा दिया है ।

जयशंकर प्रसाद का 'करुणालय'[1] तथा सियारामशरण गुप्त का 'कृष्णा' गीति-नाट्य उच्च कोटि की कृतियों की श्रेणी में उल्लिखित होते हैं। इनमें इन रचनाकारों की कवित्व-शक्ति तथा कलात्मक दृष्टि श्रेष्ठ रूप में उद्भाषित हुई है।

यद्यपि जयशंकरप्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में भी पारसी थियेटर के सस्तेपन का कुछ प्रभाव देखने को मिलता है, फिर भी उनके बाद के नाटक इस प्रभाव से मुक्त होकर विशुद्ध साहित्यिक कृतियों के रूप में सामने आये हैं। सत्य यही है कि भारतेन्दु तथा प्रसाद के बीच कोई भी ऐसा नाटककार हिन्दी में नहीं है, जिसमें नाट्य प्रतिभा वास्तविक रूप में निखर सकी हो। इतना अवश्य है कि युग के लगभग सभी कोटि के नाटकों में समाज की विकृतियाँ, विदेशी शासन के प्रति विरोध-भाव, समाज की तत्कालीन हीन अवस्था को किसी-न-किसी रूप में मुखरित स्वर मिला है। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में भी यह स्वर हर स्तर पर विद्यमान है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि जयशंकर प्रसाद इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार थे। सन् 1922 में 'अजातशत्रु' की रचना के साथ प्रसाद जी का साहित्यिक उत्कर्ष आरम्भ हुआ, तो वह द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध अर्थात तृतीय दशक में परमोत्कर्ष पर पहुँच गया और वे स्वयं हिन्दी

---

1. इन्दु, कला 4 खण्ड 1, पृ0 120 में प्रकाशित.

नाट्य-साहित्य के अजातशत्रु बन गये । उन्होंने सन् 1923 में 'कामना' 1925 में 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', आदि नाटक रच कर हिन्दी के नाट्य-साहित्य की ऐसी श्रीवृद्धि की, जिससे आने वाले युग में श्रेष्ठ नाट्य-रचना की नींव परिपुष्ट हुई । उन्होंने भारतेन्दु की नाट्य परम्परा को आगे बढ़ाया तथा अभूतपूर्व नाट्य-शैली का सूत्रपात किया । प्रसाद मूल रूप से कवि थे । अतः उनके भावुक काव्य-हृदय की रसात्मकता तथा काव्यात्मकता उनके नाटकों में भी प्रवहमान है । भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने प्रसाद के सम्बन्ध में लिखा था -- " पर्वतों में हिमालय और कवियों में प्रसाद--मनुष्य के मानवात्मा से देवात्मा की ओर विजय आरोहण पावन प्रतीक हैं ।"[1]

---

1. श्री जयशंकर प्रसाद पुण्य स्मरण, 'त्रिपथगा' पत्रिका, नवम्बर, 1956

उपन्यास विधा :-

'उपपत्ति कृतोह्यार्थ : उपन्यासः प्रकीर्तितः' ।[1]

भरत मुनि ने जिस युग में यह वाक्य लिखा था, उस समय उपन्यास विधा का कहीं कोई अस्तित्व नहीं था । वास्तव में संस्कृत साहित्य में नाटक के एक उपभेद के लिए उपन्यास शब्द का प्रयोग हुआ था । आधुनिक उपन्यास से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है और जहाँ तक प्राचीन मान्यताओं तथा साहित्यिक धारणाओं का प्रश्न है, आधुनिक उपन्यास उनसे पूरी तरह भिन्न हैं । वास्तविकता यही है कि उपन्यास कला पश्चिमी देशों की देन है और जैसा कि श्याम सुन्दर दास जी ने कहा है — " आधुनिक भारतीय उपन्यासकारों पर पश्चिम का तादिशयक ऋण सब को स्वीकार करना होगा ।"[2] डॉ० श्री कृष्ण लाल की मान्यता है कि उपन्यास " आधुनिक जनतान्त्र का साहित्यिक प्रतिनिधि है ।"[3]

---

1. भरतमुनि, नाट्य शास्त्र, 21/83.
2. श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृ० 190.
3. डॉ० श्रीकृष्ण लाल, श्यामा स्वप्न (ठाकुर जगमोहन सिंह) की भूमिका, पृ० 15.

काव्य में जो श्रेष्ठ मान्यता महाकाव्य को प्राप्त है, वैसी ही मान्यता गद्य में उपन्यास की है । उसका चित्र-फलक उतना ही विस्तृत और असीम है, जितना सम्पूर्ण मानव जीवन । उपन्यास में सामूहिक मानव जीवन की अभिव्यक्ति अपनी पूर्णता और असीम विस्तार में होती है । महाकाव्य तथा कुछ सीमा तक नाटक में भी बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति होती है । उपन्यास चूँकि विचारों की अपेक्षा मनोरंजन को अधिक महत्व देता है तथा समाज की परिस्थितियों को अत्यधिक स्पष्टवादी स्वरूप में अपने फलक पर उतारता है, अतः इसे जन साहित्य की भी मान्यता दी जाती है । समाज में व्याप्त, विषमतायें, जटिलतायें तथा मानव-मात्र के जीवन की कटुताओं से संघर्ष को अपने में समाहित करने के कारण ही उपन्यास जितनी तीव्र-गति से जन-प्रिय बन सका, उतनी शीघ्रता से साहित्य का कोई भी काव्यांग लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका । जीवन के यथार्थ का चित्रण ही उपन्यास की आत्मा है और इसी कारण व्यावहारिक शैली तथा अति सरल और सरस भाषा का ही उपन्यासों मेंप्रयोग होता है । भाषा की विदग्धता की अपेक्षा भाषा के सहज प्रवाह को उपन्यास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है । उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा को उपन्यास साहित्य ने ही सबसे अधिक दृढ़ता से स्थापित किया है ।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ तो भारतेन्दु युग में ही देवकी नंदन खत्री तथा किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों से हो चुका था। इस युग में अय्यारी, जासूसी तथा तिलस्मी उपन्यासों की ही रचना विशेषरूप से हुई। वस्तुत: यह हिन्दी उपन्यासों का शैशव काल था तथा पाठकों की रुचि में भी प्रौढ़ता तथा सुरुचि नहीं थी। बाबू देवकी नंदन खत्री ने तिलस्म तथा अय्यारों पर आधारित उपन्यासों की परम्परा भारतेन्दु युग में आरम्भ की और उस परम्परा को द्विवेदी युग के पूर्वार्ध तक कायम रखा। खत्री जी ने 'चंद्रकान्ता संतति', 'नरेन्द्रमोहनी', 'नौलखा हार', 'कुसुमकुमारी', आदि अनेक उपन्यास लिखे। उन्होंने द्विवेदी युग में जो उपन्यास रचे, उनमें सन् 1902 में रचित 'कागज की कोठरी', सन् 1905 में लिखा गया 'अनूठी बेगम' और सन् 1906 के उपन्यास 'गुप्त गोदना', तथा छ: भागों वाला 'भूतनाथ' विशेष उल्लेखनीय हैं। किशोरी लाल गोस्वामी ने भी इसी परम्परा में सन् 1905 में 'शीश महल' लिखा और राम लाल शर्मा ने सन् 1908 में 'पुतली महल' की रचना की। किशोरी लाल गोस्वामी के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास 'कुसुम कुमारी', राज कुमारी', 'चपला' और 'तारा' हैं। खत्री जी की ही परम्परा में हरे कृष्ण जौहर ने सन् 1901 में 'मयंक मोहनी या माया महल', सन् 1902 में 'कमल कुमारी' तथा 'निराला नकाबपोश' और सन् 1903 में 'भयानक खून' जैसे तिलस्मी उपन्यास लिखे। देवकी नंदन खत्री के पुत्र दुर्गा प्रसाद खत्री ने भी 'भूतनाथ' उपन्यास के प्रथम छ: भागों

के आगे के शेष भागों की रचना करके अपना नाम तिलस्मी उपन्यासकारों की पंक्ति में दर्ज करा लिया ।

हिन्दी में जासूसी उपन्यासों की परम्परा गोपाल राम गहमरी द्वारा शुरू हुई थी । वे अंग्रेजी के शीर्ष जासूसी उपन्यासकार आर्थर कानन डायल के उपन्यासों से अत्यधिक प्रभावित थे । उन्होंने कानन डायल के एक उपन्यास ' स्टडी इन स्कार्लेट ' का हिन्दी रूपान्तर सन् 1905 में ' गोविन्द राम ' शीर्षक से किया था । गहमरी जी ने सन् 1900 में 'सरकटी लाश' सन् 1901 में ' चक्करदार चोरी ' तथा 'जासूस की भूल', सन् 1904 में ' जासूस पर जासूसी ', सन् 1906 में 'जासूस चक्कर में ', सन् 1910 में 'इन्द्रपालिक जासूस', सन् 1913 में ' गुप्त भेद ', और सन् 1914 में 'जासूस की अय्यारी ' उपन्यास लिखे जो अत्यधिक लोक प्रिय भी हुए । गहमरी जी ने 'चतुर चंचला ', 'भानुमती ', 'नये बाबू ', 'बड़ा भाई ', 'देवरानी-जेठानी ' तथा 'दो बहिन ' उपन्यास भी लिखे । राम लाल वर्मा, जय राम दास गुप्त तथा किशोरी लाल गोस्वामी ने भी यद्यपि जासूसी उपन्यास लिखे थे, किन्तु जासूसी उपन्यासकार के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्धि गहमरी जी को ही प्राप्त हुई ।

द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध में अद्भुत घटनाओं पर आधारित कुछ उपन्यास भी लिखे गये, जिनमें इसी लोक की किसी घटना को रहस्यमय बना कर उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया जाता था ।

उपन्यासों की यह परम्परा अंग्रेजी के उपन्यासकार रेनार्ड से प्रभावित थी, जिनके एक उपन्यास 'मिस्ट्रीज आफ द कोर्ट आफ लंदन' का हिन्दी में अनुवाद 'लंदन रहस्य' शीर्षक से हुआ था । इस शैली में मुख्य रूप से सन् 1905 में विट्ठल दास नागर ने 'किस्मत का खेल', सन् 1912 में बांके लाल चतुर्वेदी ने 'खौफनाक खून', सन् 1913 में निहाल चन्द्र वर्मा ने 'प्रेम का फल' या 'मिस जोहरा', सन् 1915 प्रेम विलास वर्मा ने 'प्रेम माधुरी या अनंग कांता' तथा सन् 1916 में दुर्गा प्रसाद खत्री ने 'अद्भुत भूत' उपन्यासों की रचना की ।

द्विवेदी युग में इतिहास के मुस्लिम युग की कुछ रोचक घटनाओं को लेकर ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गये, किन्तु उनमें रहस्य की सृष्टि करने के लिये इतिहास से परे हटकर कल्पना की उड़ान अधिक दिखाई देती है । इनमें इतिहास - तत्व का अभाव इतना खटकता है, कि इन उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यासों की श्रेणी में रखने में भी संकोच होता है । किशोरी लाल गोस्वामी का सन् 1902 में लिखा गया 'तारा' व 'क्षात्र कुल कमलिनी', सन् 1904 में लिखा गया 'सुल्ताना रजिया बेगम' व 'रंग महल में हलाहल', सन् 1905 में रचित 'मल्लिका देवी व बंगसरोजनी' और सन् 1917 में लिखित 'लखनऊ की कब्र व शाही महल सरा' ऐसे उपन्यास हैं जो लोकप्रिय तो हुए किन्तु श्रेष्ठता की श्रेणी में नहीं पहुँच सके । गंगा प्रसाद गुप्त ने सन् 1902 में 'नूरजहाँ', सन् 1903 में 'कुमार सिंह सेनापति' और 'हम्मीर' जैसे

ऐतिहासिक उपन्यासों कीरचना की । किशोरी लाल गोस्वामी की परम्परा में ही जयरामदास गुप्त ने सन् 1907 में 'काश्मीर पतन' और सन् 1909 में 'नवाबी परिस्तान व वाजिद अली शाह' तथा 'मलका चाँदबीबी' उपन्यास लिखे । मथुरा प्रसाद शर्मा ने 'नूरजहाँ बेगम' व 'जहाँगीर' उपन्यास सन् 1905 में लिखा, जिसमें उन्होंने पूर्व परम्परा से कुछ हटकर इतिहास-तत्व को सुरक्षित रखने का प्रयास किया ।

यद्यपि किशोरी लाल गोस्वामी अपने समय के सबसे सशक्त ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं, किन्तु उनके उपन्यासों में प्रेम प्रसंगों की बहुलता तथा विविधताअधिक है, इतिहास सम्मत् सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का चित्रण कम है । उन्होंने इतिहास सम्मत् सांस्कृतिक दृष्टि तक की चिन्ता नहीं की तथा काल दोष के भी शिकार हुए । ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में वृन्दावन लाल वर्मा ने श्रेष्ठ सृजनशीलता का परिचय दिया । 'गढ़ कुण्डार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' उनके ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास हैं, जिनमें भारत के मध्ययुगीन इतिहास का सुन्दर रूपांकन हुआ है ।

जब हम द्विवेदी युग के सामाजिक धरातल पर रचे गये उपन्यास साहित्य पर दृष्टिपात् करते हैं, तो मानना पड़ता है कि प्रेम चन्द्र ही द्विवेदी युग की श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धि हैं ।[1] प्रेमचन्द पर द्विवेदी युग

---

1. डॉ राम विलास शर्मा, हिन्दी का जातीय पत्रिका सरस्वती, आलोचना अप्रैल – जून, 1977, पृ0 18

की वैचारिक धाराओं का पूरा प्रभाव था । भारतीय गाँव की जिस विषम स्थिति को द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ 'सम्पत्ति शास्त्र' में चित्रित किया है, वही ग्रामीण विषमता तथा दरिद्रता प्रेम चन्द के सम्पूर्ण कथा साहित्य की आधार भूमि हैं । 'सम्पत्ति शास्त्र' में किसानों के प्रति द्विवेदी जी की जिस आत्मीयता के दर्शन होते हैं, "वही आत्मीयता प्रेमचन्द के कला-शिल्प की मूल धारण-शक्ति है ।"[1] जैसी कि राम विलास शर्मा की मान्यता है, "अपने कथा साहित्य में प्रेम चन्द ने जिस भारत का चित्र खींचा है, उसका विश्लेषण 'सम्पत्ति शास्त्र' (आचार्य द्विवेदी) के बिना नहीं हो सकता । 'सम्पत्ति शास्त्र' वह ज्ञान-काण्ड है, जिसका प्रतिफलन 'प्रेमाश्रय', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' (सभी प्रेम चन्द-कृत) हैं ।"[2] 'कायाकल्प', 'निर्मला', और 'प्रेम प्रतिज्ञा' भी प्रेम चन्द के ऐसे ही धरातल तथा भाव भूमि पर रचे गये उपन्यास हैं । यथार्थ के साथ आदर्शपरक दृष्टि प्रेम चन्द के उपन्यासों की मुख्य धारा है । यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि तिलिस्म, जासूसी और अय्यारी के माया जाल में फंसी उपन्यास विधा को प्रेम चन्द ने उबार कर आदर्शपरक धारा में स्थापित कर दिया ।

---

1. डॉ० राम विलास शर्मा, हिन्दी का जातीय पत्रिका सरस्वती, आलोचना अप्रैल-जून, 1977 पृ० 17

2. वही, पृ० 18

यह मानने में किसी को कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि सन् 1918 में प्रकाशित प्रेमचन्द के प्रथम सामाजिक उपन्यास 'सेवा सदन' से ही हिन्दी उपन्यास के एक नये चेतन युग का उदय होता है। प्रेम चन्द ने 'सेवा सदन' में भारतीय समाज की उपेक्षिता नारी की ज्वलन्त समस्या को लेकर ऐसी मर्मस्पर्शी शैली का परिचय दिया कि हिन्दी उपन्यास जगत में एक नये उत्थान ने दस्तक दे दी। प्रेम चन्द के उपन्यासों में प्रवाहित वैचारिक धाराओं के कारण ही सम्भवतः श्याम सुन्दर दास ने यह टिप्पणी की थी —" प्रेम चन्द पर रूसी साम्यवाद, भारतीय सामाजिक आंदोलनों, विशेषतः आर्य समाज और देश के राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव पड़ा।"[1] जगत और जीवन के पर्यवेक्षण तथा आदर्शवादी सुधार प्रवृत्ति का सर्वोत्कृष्ट कलात्मक रूप प्रेम चन्द के उपन्यासों में ही प्राप्त होता है। युग प्रभाव के कारण कुछ उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी प्रेम चन्द के उपन्यासों में दिखाई देती है। उपन्यास के क्षेत्र में एक नई चेतना जगाने के कारण और आधुनिक उपन्यास विधा की नींव रखने का दायित्व-निर्वाह करने के कारण ही प्रेम चन्द को उपन्यास सम्राट तक की उपाधि से विभूषित किया गया।

प्रेम चन्द परम्परा में उपन्यास विधा के नींव के पत्थर रखने का कार्य विशम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', बेचन शर्मा 'उग्र', राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, चतुर सेन शास्त्री तथा राजेश्वर प्रसाद सिंह ने भी किया। किन्तु ये ऐसे उपन्यासकार थे, जिन्होंने

---

1. श्याम सुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृ0 190.

यथार्थ चित्रण के साथ, उत्कृष्ट कलात्मकता का भी सामंजस्य किया। कौशिक ने इसी युग में 'माँ', 'भिखारिणी' तथा 'कल्लो' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास रचे, चतुर सेन शास्त्री ने 'हृदय की परख', 'व्यभिचार', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह',' नीलमती' और 'वैशाली की नगर बधू' में तत्कालीन सामाजिक जीवन का सूक्ष्म दिग्दर्शन किया। राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह ने 'तरंग', 'राम रहीम', तथा 'पुरुष और नारी' में जीवन की समस्याओं के विश्लेषण के साथ ही रसात्मक आह्लाद तथा रसपूर्ण मनोरंजन का समावेश किया है। राजेश्वर प्रसाद सिंह हिन्दी के पहले उपन्यासकार थे, जिन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'मंच' में ही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मध्यमवर्गीय समाज के मार्मिक विवेचन को यथार्थपरक कथा शिल्प के साथ समन्वित किया। उग्र जी ने अपने उपन्यास 'चंद हसीनों के खतूत' में पहली बार हिन्दी उपन्यास विधा में पत्र शैली प्रस्तुत की। चण्डी प्रसाद हृदयेश ने भी इसी काल में "मनोरमा' तथा 'मंगल प्रभात' उपन्यास लिखे। गंगा प्रसाद श्रीवास्तव ने 'गंगा-यमुनी' तथा 'दिल जले की आह' जैसे हास्य उपन्यास प्रस्तुत किये। द्विवेदी युग के अवसान काल में जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, जैसे उत्कृष्ट उपन्यासकार भी हिन्दी साहित्याकाश में उदित हुए। इन उपन्यासकारों ने प्रेम चन्द कालीन परम्परा को और परिष्कृत करके उसे आगे बढ़ाया।

सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में एक अन्य स्वच्छ धारा प्रसाद जी ने प्रवाहित की थी । उनके 'कंकाल', 'तितली' तथा 'इरावती' (अपूर्ण) उपन्यासों पर विचार करने पर एक अलग ही काव्यमय, अलंकारिक तथा संस्कृत मिश्रित भाषा-शैली के दर्शन होते हैं । उनके उपन्यासों के माध्यम से गद्य में भी कोमलकान्त पदावलियों, प्रतीकात्मकता तथा लाक्षणिकता की प्राणवान शैली हिन्दी को प्राप्त हुई । उनके पूरे कथा साहित्य में समाज की आत्मा तथा हृदय और मस्तिष्क के चित्रण के साथ-साथ माधुर्य और कमनीयता घुल गयी है ।

हिन्दी उपन्यास विधा में अनेक यथार्थपरक और कलात्मक प्रयोगों के द्वारा समूची गद्य शैली को उल्लेखनीय सफलतायें प्राप्त हुईं । उपन्यास के क्षेत्र में जितने भाषा शैलीगत् नये प्रयोग हुए उतने प्रयोग गद्य की अन्य सारी विधाओं को मिलाकर भी नहीं हुए ।

कहानी विधा :-

हिन्दी कहानी वस्तुतः उपन्यास साहित्य से किसी भी तरह कम समृद्ध नहीं है । द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ने आख्यायिका के अन्तर्गत नियमित रूप से उत्कृष्ट कहानियाँ प्रकाशित करके हिन्दी कहानी विधा को बहुत अधिक प्रेरित और प्रोत्साहित किया था । भारतेन्दु युग में कहानियाँ लिखी ही नहीं गयी थीं । कथात्मक शैली के नाम पर उस युग में कुछ निबन्ध मात्र ही प्राप्त होते हैं ।

यद्यपि वे अत्यन्त रोचक हैं, किन्तु कहानी नहीं हैं। वास्तविकता यही है कि हिन्दी कहानी का जन्म सन् 1900 में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ ही हुआ था।

मनुष्य के जीवन से कथा-कहानियों का साहचर्य अनादि-काल से रहा है। ऋग्वेद में प्रतीकात्मक शैली में देव कथायें तथा संवाद शैली में दंत कथायें मिलती हैं। भारत में अज्ञात काल से कथाओं, आख्यानों, नीति कथाओं तथा लोक कथाओं की जन सुलभ परम्परा रही है। किन्तु उन कथाओं को आधुनिक कहानी कल्प की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इतना अवश्य है कि मनुष्य के जीवन के साथ कथा-कहानियों के अनादि काल से चले आ रहे साहचर्य के कारण ही आधुनिक युग की कहानियों को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। जन साधारण ने साहित्य की अन्य किसी विधा को उतनी निकटता से नहीं अपनाया जितनी निकटता से छोटी कहानियों को। आधुनिक युगमें कहानी की लोकप्रियता तथा लोकोपयोगिता के कारण ही हिन्दी कहानी की सर्वाधिक उत्कृष्ट परम्परा द्विवेदी युग में स्थापित हुई। इस युग की कहानियों में कथन की तीव्रता, कथा विकास के घनत्व तथा उत्सुकता की सृष्टि का पूर्ण निर्वाह करके प्रभावोत्पादकता का विशिष्ट मानदण्ड स्थापित किया गया, जहाँ एक वाक्य का भी अपव्यय वांछित नहीं माना गया। कहानियों के सम्बन्ध में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द का वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है — "वहाँ तो एक शब्द,

एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिये, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो, इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए । उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है, और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है । आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है, जिनके पास न धन है न समय । यहाँ तो सरलता पैदा कीजिए, यही कमाल है । कहानी ध्रुपद की वह तान है जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूर्ण कर देता है, जितना रात भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता है।[1]

प्रेमचन्द के उपरोक्त कथन से इतना तो स्पष्ट ही है कि कहानी की भाषा सरल और सुबोध ही नहीं सरस भी होनी चाहिए । कहानीकार में ऐसी सहृदयता भी होना अपेक्षित है कि वह अपने पाठक से सहज ही आत्मीयता स्थापित कर सके । आडम्बर प्रदर्शन तथा औपचारिकता कहानी के लिए अर्थहीन तो है ही पाठक से उसकी सम्प्रेषणीयता के विपरीत भी है । यही कारण है कि डायरी, पत्र अथवा टिप्पणियों की शैली में रची गयी कहानियाँ जन-सुलभता की

---

1. साहित्य का उद्देश्य, पृ0 38.

आवश्यक शर्त को पूरा नहीं कर पातीं । इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की निम्नांकित टिप्पणी उल्लेखनीय है—' यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है । इनसे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है । यूरोप वालों की देखा-देखी पत्रों, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं । मैंने स्वयं भी इन सभी प्रथाओं पर रचना की हैं, पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है ।'[1]

द्विवेदी युग के पूर्वार्द्ध में हिन्दी कहानी साहित्य में वर्णनात्मक शैली की प्रधानता थी । कहीं-कहीं प्रसंगवश भावनात्मक तथा विवेचनात्मक शैली की कहानियों में दिखाई देती थी । कहानियों में भाषा की भावात्मकता विशेष रूप से देखने को मिलती थी । जो कहानियाँ घटना प्रधान होतीं थीं, उनमें प्रारम्भ से ही भाषा इतनी प्रभावशाली और द्रुतगामी होती थी कि पाठक उसकी रसात्मकता में आरम्भ से ही रम जाये । हिन्दी कहानियों के द्वितीय चरण में जब सम्भाषण शैली का प्रादुर्भाव हुआ, तब कहानियों में कलात्मकता इतने श्रेष्ठ रूप में आयी कि उनमें सजीवता सहज ही विकसित हो गयी ।

उस युग की श्रेष्ठतम कहानियाँ द्विवेदी जी की 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुईं । इस रूप में कहानी कला के विकास में 'सरस्वती' का

---

1. हिन्दी साहित्य का उद्देश्य, पृ० 38.

महत्वपूर्ण योगदान था । चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की सर्वोत्कृष्ट कहानी 'उसने कहा था' सन् 1915 में 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई थी । प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में रचित इस कहानी का शिल्प अपने युग से बहुत आगे था । डॉ० नगेन्द्र के अनुसार — "आधुनिक हिन्दी कहानी का आरम्भ यहीं से मान्य होना चाहिये । इसमें निहित त्यागमय प्रेम का आदर्श भारतीय संस्कृति के अनुकूल है।"[1]

कहानियाँ 'सरस्वती' में उसके आरम्भिक काल से ही प्रकाशित हो रहीं थी । सन् 1900 से ही 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ कहानियाँ शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटकों के कथा-बिन्दुओं पर आधारित थीं । कुछ कहानियाँ संस्कृत नाटकों के कथा-सूत्र को आधार बना कर लिखी गयीं थी । बंगला की कुछ कहानियों के हिन्दी रूपान्तर भी हुए थे । कुछ कहानियाँ लोक कथाओं से प्राप्त प्रेरणा पर आधारित थीं और कुछ जीवन की मधुर-कटु यथार्थ घटनाओं की पृष्ठभूमि में लिखी गयी थी । किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' सन् 1900 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी । यह कहानी शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'टैम्पेस्ट' को आधार बना कर लिखी गयी थी । इसी वर्ष कहानीकार माधो प्रसाद मिश्र की कहानी 'मन की चंचलता'' सुदर्शन में प्रकाशित हुई थी ।

---

1. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 523.

भगवानदीन की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' सन् 1902 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई । सन् 1903 में रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई । बंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी सन् 1907 में प्रकाशित हुई । हिन्दी के प्रारम्भिक कहानीकारों में यह नाम ही उल्लेखनीय हैं, किन्तु आगे चल कर हिन्दी कथा साहित्य में नये हस्ताक्षर उभरे और हिन्दी कहानी को विकसित करने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त हुआ ।

ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा आरम्भ हुई, जिन्होंने सन् 1909 में 'राखी बन्धभाई' शीर्षक ऐतिहासिक कहानी लिखी । सन् 1909 में काशी से 'इन्दु' पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ होने के साथ ही जयशंकर प्रसाद की भावनापरक कहानियाँ उस पत्रिका में प्रकाशित होने लगीं । जयशंकर प्रसाद की सन् 1912 में प्रकाशित 'छाया' शीर्षक पुस्तक में 'इन्दु' में प्रकाशित भावनात्मक कहानियाँ संग्रहीत हैं । राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह की प्रसिद्ध भावनात्मक कहानी 'कानों में कंगना', 'इन्दु' पत्रिका में ही सन् 1913 में प्रकाशित हुई । इस समय तक प्रेमचन्द ने हिन्दी में कहानियाँ लिखना आरम्भ नहीं किया था । किन्तु 'जमाना' में उनकी उर्दू कहानियाँ इस समय तक प्रकाशित हो चुकी थीं । सम्भवतः उर्दू में अधिक सम्भावनायें न देख कर ही प्रेमचन्द ने हिन्दी में कहानी लेखन का शुभारम्भ किया । सन् 1915 में उनकी 'सौत' शीर्षक कहानी

'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, और इसके बाद तो सन् 1916 में उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पंच परमेश्वर' तथा 'सज्जनता का दण्ड' और सन् 1917 में 'ईश्वरीय न्याय' तथा 'दुर्गा का मंदिर' कहानी प्रकाशित हुई। सन् 1915 से सन् 1917 तक का काल ऐसा था जब 'सरस्वती' में ज्वाला दत्त शर्मा की 'मिलन' विशम्भर नाथ शर्मा कौशिक' की 'रक्षाबन्धन' और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'झलमला' जैसी कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। प्रथम विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि में रचित तथा गुलेरी जी को अमर बना देने वाली 'उसने कहा था' कहानी के सम्बन्ध में तो दावे के साथ यह कहा जा सकता है कि कथा-शिल्प की दृष्टि से अपने युग से बहुत आगे की रचना थी। गुलेरी जी की इस कहानी मेंउदान्त प्रेम तथा प्रेम में सब कुछ, यहाँ तक की जीवन भी लुटा देने का आदर्श भारतीय संस्कृति का महान परम्परा का परिचायक है। आधुनिक हिन्दी कहानी की समृद्ध परम्परा का आरम्भ यदि 'उसने कहा था' कहानी से माना जाये तो अनुचित न होगा। सन् 1918 में राजेश्वर प्रसाद सिंह की पहली कहानी 'स्त्रीदर्पण' में प्रकाशित हुई और उसके बाद से 'सरस्वती', 'माधुरी', 'हंस', 'विश्वमित्र' आदि प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में अपनी कहानियाँ देकर अगली पंक्ति के कहानी लेखकों में उन्होंने अपना नाम दर्ज करा लिया। स्वयं प्रेमचन्द ने बनारसी दास चतुर्वेदी को लिखे अपने एक पत्र में लिखा था — "कहानी लिखने वालों में सुदर्शन,

कौशिक, जैनेन्द्र कुमार, उग्र, प्रसाद, राजेश्वर यही नजर आते हैं। मुझे जैनेन्द्र और उग्र में मौलिकता और बहुलता के चिन्ह मिलते हैं। प्रसाद जी की कहानियाँ भावात्मक होती है, Realistic नहीं, राजेश्वर बहुत अच्छा लिखते हैं मगर बहुत कम। सुदर्शन की रचनाएँ सुन्दर होती हैं, पर गहराई नहीं होती . . . . । "

प्रेमचन्द की अध्यक्षता में सन् 1928 में आयोजित गल्प सम्मेलन में राजेश्वर प्रसाद सिंह को उनकी 'भ्रम' कहानी पर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ और 'सरस्वती' का काशी नाथ कहानी पुरस्कार भी उन्हें प्राप्त हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में अध्यक्ष पद से भाषण करते हुये रामचन्द्र शुक्ल ने कहा था —— इधर योरप में छोटी कहानियों का बहुत अधिक प्रचार हुआ। वे होती भी हैं अत्यन्त मार्मिक। . . . . प्रेम चन्द ने बड़ी सुन्दर छोटी कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों के क्षेत्र में पं० ज्वाला दत्त शर्मा, पं० जर्नादन झा द्विज, श्री राजेश्वर प्रसाद सिंह, श्री चतुर सेन शास्त्री, श्री गोविन्द बल्लभ पंत, बाबू शिव पूजन सहाय, पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी, श्री बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री जैनेन्द्र उल्लेखनीय हैं। . . . .

डॉ० राम कुमार वर्मा ने राजेश्वर प्रसाद के निधन के समय कहा था —— " वे कवि, कहानीकार, नाटककार और पत्रकार तो थे ही, लेकिन अंग्रेजी और उर्दू साहित्य में भी उनका समान अधिकार था।

प्रेमचन्द युग में उन्होंने कहानी कला को नया मोड़ दिया था, जिसमें जीवन की स्वाभाविकता और मानव मनोविज्ञान की राशि - राशि अभिव्यक्ति होती थी । . . . . . . जिस विधा को उन्होंने स्पर्श किया, उसी में उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी ।"

मात्र कहानी विधा को आधार बना कर एक मासिक पत्र 'हिन्दी गल्प माला' सन् 1918 में वाराणसी से प्रकाशित हुआ । इस पत्र में जयशंकर प्रसाद की कहानियाँ नियमित रूप से प्रकाशित हुआ करतीं थीं । हास्य लेखक गंगा प्रसाद श्रीवास्तव तथा मनोवैज्ञानिक कहानियों के एक प्रमुख हस्ताक्षर इलाचन्द्र जोशी की प्रारम्भिक कहानियाँ इसी मासिक पत्र में प्रकाशित होनी शुरु हुई थीं ।

हिन्दी कहानी का जन्म 'सरस्वती' के साथ ही सन् 1900 से मानना उचित है । सन् 1912 से सन् 1920 के मध्य हिन्दी कहानी शिल्पगत विशिष्टता के साथ साहित्य में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने में सफल हुई । साहित्य में उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो गयी और कहानी का अत्यन्त मौलिक रूप हिन्दी साहित्य में उभर कर आया और स्थापित हो गया । इतनी कम अवधि में किसी साहित्यिक विधा का इस प्रकार प्रतिष्ठित हो जाना एक अभूतपूर्व बात थी । इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी कहानी पाश्चात्य कहानी कला से प्रभावित थी । किन्तु पाश्चात्य कहानी कला के अतिरिक्त प्राचीन लघु कथाओं के सुदृढ संस्कार ने भी हिन्दी कहानी के विकास में

महत्वपूर्ण योगदान किया । यही कारण था कि थोड़ी-सी अवधि में ही हिन्दी में अत्यन्त कलात्मक कहानियों की रचना हुई ।

हिन्दी कहानी में द्विवेदी युग में ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्थापित हुई । एक प्रवृत्ति के अलम्बरदार प्रेमचन्द थे, तो दूसरी प्रवृत्ति का नेतृत्व जयशंकर प्रसाद कर रहे थे । जीवन के कटु यथार्थ के साथ आदर्श का कलात्मक सामंजस्य स्थापित करके प्रेमचन्द ने दुख-दारिद्र्य से पीड़ित जन-जन के जीवन की पीड़ा की कहानी अनेकानेक रूपों में कही । प्रसाद जी ने मानव मन की सूक्ष्म भावनाओं को अति विशिष्ट कलात्मक रूप में कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया । इसी कारण कारण प्रसाद जी की भाषा में भी काव्यात्मकता तथा अलंकारिकता थी । उसके विपरीत प्रेमचन्द उर्दू मिश्रित, मुहावरेदार और अत्यन्त सजीव भाषा में कथा सृष्टि कर रहे थे । इन दोनों ही श्रेष्ठ कथाकारों ने अपनी भिन्न कथा प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कहानीकारों की पंक्ति खड़ी की थी । किन्तु काव्य तथा नाट्य - विधा की ओर प्रसाद जी के विशेष झुकाव के कारण उनकी कथा प्रवृत्ति तथा शिल्प का अनुसरण करने वालों की पंक्ति कमजोर पड़ती गयी । वैसे भी प्रसाद जी के कथा शिल्प पर आधारित कहानियों को उतनी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो रही थी, जितनी प्रेमचन्द के कथा शिल्प को । प्रेमचन्द के अनुयायी कहानीकारों की रचनाओं का विश्लेषण यदि जनरुचि के आधार पर किया जाये, तो प्रेमचन्द की प्रवृत्ति वाले कहानीकारों का ही पलड़ा भारी पड़ेगा ।

द्विवेदी युग में चार प्रकार के कथा शिल्पों को आधार बना कर कहानियाँ लिखी गयी — घटना प्रधान, चरित्र प्रधान, भाव प्रधान और चित्र प्रधान । घटना - प्रधान कहानियाँ घटनाओं की एक श्रृंखला प्रस्तुत करती हैं । इस प्रकार की आरम्भिक कहानियों में अद्भुत तत्व की प्रधानता था, तो बाद में सामान्य मानव जीवन की रोचक घटनायें ही ऐसी कहानियों की कथा बिन्दु बन गयी ।

चरित्र प्रधान कहानियों में कहानी-विधा अपने पूरे निखार के साथ कलात्मक रूप में विकसित हुई । इन कहानियों में चरित्र की दृढ़ता, असामान्यता तथा प्रभावोत्पादकता पूरे सौंदर्य के साथ उद्घाटित हुई है । गुलेरी की ' उसने कहा था ', प्रेम चन्द की 'बूढ़ी काकी ' और प्रसाद की 'भिखारिन ' उत्कृष्ट चरित्र-प्रधान कहानियाँ हैं । ऐसी कहानियों में किसी एक पात्र के चरित्र के किसी एक पक्ष का उद्घाटन इतने स्वाभाविक रूप-विधान में होता रहा, कि सामान्य जन उनकी ओर सहज की आकर्षित होता रहा और उनसे प्रेरित भी होता रहा । सुदर्शन भी प्रेमचन्द के समकालीन थे और हिन्दी के कथाशिल्पियों में उनका नाम आदर से लिया जाता है ।

भाव प्रधान कहानियों का शिल्पकार, कहानीकार से अधिक कवि होता है । पात्रों के भावनात्मक पक्ष का उद्घाटन और उनकी अभिव्यंजना करने में ही वह अपनी रचनात्मक दृष्टि का उपयोग करता है । राधिकारमण प्रसाद सिंह की ' कानों में कंगना ', प्रसाद की

'आकाशदीप', चण्डी प्रसाद हृदयेश की 'उन्माद' तथा राजेश्वर प्रसाद सिंह की 'अन्तर्द्वन्द्व' इस कोटि की उत्कृष्ट और विशिष्ट कहानियाँ हैं । 'अन्तर्द्वन्द्व' वह बहुचर्चित कहानी थी, जिस पर प्रेमचन्द तथा राजेश्वर प्रसाद सिंह के बीच विवाद भी खुल कर सामने आया था तथा 'हंस' और 'भारत' दैनिक में उसकी खुली चर्चा हुई थी ।

चित्र प्रधान कहानियों में भी काव्यात्मक शैली की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है । इन कहानियों में कल्पना-मंडित, अतिरंजित बिम्बों की काव्यमय प्रस्तुति होती है । प्रसाद की 'प्रतिध्वनि', हृदयेश की 'योगिनी', गोविन्द बल्लभ पंत की 'मिलन मुहूर्त' तथा प्रेमचन्द की 'कामनामानस' तत्कालीन हिन्दी की प्रतिनिधि चित्रप्रधान कहानियाँ हैं । जीवन के वास्तविक चित्र-बिम्बों को आधार बना कर कथा - सृष्टि करने में बेचन शर्मा उग्र तथा चतुर सेन शास्त्री उत्कृष्ट कथाशिल्पी थे । उग्र सन् 1922 में कहानी-विधा के क्षेत्र में उतरे और राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं के चित्र-बिम्बों को लेकर सुन्दर कहानियों की रचना की ।

द्विवेदी युग के अवसान काल में हिन्दी कहानी में अवतरित जैनेन्द्र कुमार ने सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को आधार बनाया ।

सन् 1928 में उनकी 'जेल और फांसी' कहानी प्रकाशित हुई । भगवती प्रसाद बाजपेयी, विनोद शंकर व्यास, विश्वभर नाथ जिज्जा, भगवती प्रसाद बाजपेयी, वाचस्पति पाठक, भगवती चरण वर्मा आदि को भी युग के प्रतिनिधि कहानीकारों की श्रेणी में ही माना जायेगा ।

इस युग के अवसान काल में वर्णनात्मक, भावात्मक, सम्भाषणात्मक अथवा नाटकीय, पत्र तथा डायरी शैली में भी अनेक कहानीकारों ने अपनी लेखनी चलाई । किंतु पत्र-शैली तथा डायरी-शैली न तो लोकप्रिय हो सकी और न इन शैलियों को कहानी - विधा में ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सका ।

बंगला कहानियों का हिन्दी में अनुवाद भी खूब हुआ । ऐसे अनुवादकों में गिरजा कुमार घोष § पार्वती नन्दन § तथा बंगमहिला के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । अनुवादकों ने हिन्दी कहानी साहित्य की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान किया ।

आधुनिक हिन्दी कहानी-विधा के जन्म, विकास और उत्कृष्ट स्वरूप में उसके प्रतिष्ठापन के लिए द्विवेदी युग अत्यधिक अनुकूल वातावरण प्रस्तुत कर सका, इसमें कोई संदेह नहीं । इस युग के कथाकार ऐसे नींव के पत्थर थे, जिनके द्वारा स्थापित आधार-भूमि पर भविष्य की कहानी-विधा के अनेक उत्कृष्ट स्वरूप प्रस्फुटित और विकसित होते हुए अनेक आयामों के साथ उस बिन्दु तक पहुँचे कि हिन्दी कथा-साहित्य पश्चिम के प्रभाव में 'अकहानी' या 'एंटीस्टोरी' के स्तर तक पहुँच गया ।

निबन्ध विधा :-
==============

आधुनिक निबन्ध वस्तुतः हिन्दी में एक नई विधा के रूप में स्थापित है । प्राचीन भारतीय वाङ्मय में निबन्ध कहीं भी दिखाई नहीं देता । यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि आधुनिक निबन्ध पहली बार भारतेन्दु युग में साहित्याकाश में प्रकट हुये । सबसे बड़ा तथ्य तो यह है कि आधुनिक हिन्दी निबन्ध न्यूनाधिक मात्रा में पश्चिमी देशों की निबन्ध विधा से प्रभावित है । पश्चिमी साहित्य में आधुनिक निबन्धों के जन्मदाता फ्रांसीसी साहित्यकार माइकेल डी मॉन्टेन को माना जाता है, जिनका समय सन् 1533 से 1592 तक था । किन्तु हिन्दी साहित्य में आधुनिक निबन्ध-विधा अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से ही आयी । पश्चिम की निबन्ध विधा एक लम्बी यात्रा तय करने के बाद उत्कृष्टता के इस मुकाम पर पहुँची थी । इसके स्वरूप ने हिन्दी साहित्य सर्जकों को अपनी ओर पहली बार भारतेन्दु युग में आकर्षित किया । इस रूप में हिन्दी निबन्ध साहित्य बहुत-कुछ अंग्रेजी साहित्य का ऋणी है । भारतेन्दु युग में प्रथमतः ऐसे निबन्ध लिखे गये, जिन्हें उत्कृष्ट तथा आधुनिक निबन्ध कहा जा सकता है । भारतेन्दु युग में ही निबन्ध के स्वरूप, तत्व , उद्देश्य तथा आकर्षण ने इस विधा की ओर साहित्य-सर्जकों को आकर्षित किया । किन्तु यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है, कि आधुनिक हिन्दी निबन्धकारों ने अंग्रेजी निबन्ध का अन्धानुकरण नहीं

किया । उस पर अपनी संस्कृति का रूप-रंग चढ़ा कर निबन्धकारों ने उत्कृष्ट हिन्दी निबन्धों की रचना की और इस विधा पर भारतीयता की गहरी छाप अंकित कर दी ।

निबन्ध विधा के जन्मदाता माइकेल डी मॉन्टेन का पहला निबन्ध 'एसे' सन् 1850 ई0 में प्रकाशित हुआ था । उन्होंने मानव जीवन की सहज समस्याओं को लेकर सुन्दर निबन्धों की रचना की और सरल, सुबोध, वैयक्तिक तथा तरंगमयी भाषा - शैली में ऐसे निबन्ध लिखे, जिनमें उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिबिम्ब था । उनके निबन्धों से यह बात पुष्ट होती है, कि निबन्ध में स्मृति-चित्रों, उद्धरणों तथा कथात्मक इतिवृत्तों की प्रधानता रहती है ।"[1] और इन्हीं तत्वों से उसमें रस-रंजकता और रोचकता की सृष्टि होती है ।

---

1. An essay is a medley of reflections, quotations and anecdotes. " There is no method or plan in the Essay " — M. D. Montaigne. द्विवेदी युग की हिन्दी गद्य शैलियों का अध्ययन, शंकर दयाल चौऋषि, पृ0 173. पर उद्धृत ।

अंग्रेजी के 'एसे' शब्द की उत्पत्ति वास्तव में फ्रांसीसी भाषा के 'एसाई' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है प्रयत्न । 'एसे' को हिन्दी में निबन्ध नाम दिया गया, जिसका संकेतार्थ है संगठन अथवा तारतम्य ।
इस सन्दर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है, कि लेखक और पाठक के मध्य सबसे छोटा, सरल और सुगम सेतु निबन्ध है । निबन्ध एक उज्जवल दर्पण के समान है, जिसमें लेखक का स्वयं अपना यथार्थ बिम्ब बन कर उभरता है । नाटककार पात्रों के पीछे छुपा हुआ साहित्यसर्जक होता है । वह अपना कथ्य पात्रों के मुख से ही कहलाता है । नतीजतन इसकी भाषा - शैली भी पात्रों के अनुरूप होती है । उस भाषा-शैली के गुण-दोष स्वभावतः और सहज रूप में पात्रों के ही सर मढ़े जाते हैं । कहानी और उपन्यास में कथाकार गुप्त रूप से अपने विचारों तथा अपनी भावनाओं को कथा रूप के माध्यम से अभिव्यक्त करता है । किन्तु निबन्ध तो वह साहित्य विधा है, जिसमें निबन्धकार जो कुछ कहता है, स्वयं कहता है । उसका कथ्य, उसकी भाषा, उसकी शैली उसका विषय-निरूपण, सब कुछ उस निबन्धकार का ही होता है । निबन्ध तो ऐसे सीधे सपाट हरियाले मैदान की तरह है, जहाँ वह अपने अस्तित्व को छिपाना भी चाहे तो उसे हरी दूब के सिवा छिपने के लिये कुछ नहीं मिलेगा । अतः निबन्धकार सीधे अपने पाठक से मुखातिब होता है । इसका अपना निजीपन निबन्ध के माध्यम से पाठक के समक्ष अभिव्यक्ति पाता है । किन्तु इसके साथ ही निबन्धकार

अन्य साहित्य विधाओं की अपेक्षा अधिक स्वच्छन्द होता है । उसे विषय चयन तथा विवेचन की पूरी स्वतन्त्रता होती है, कहीं कोई बन्धन नहीं, कहीं कोई सीमा नहीं । किन्तु स्थान संकोच की सीमा होती है । निबन्ध में आत्मीयता, लाघवता, सामंजस्य, सौष्ठव, सजीवता, गम्भीरता तथा प्रभावोत्पादकता की अपेक्षा निःसंदेह की जाती है । निबन्धों में वाक्य विन्यास भी इतना संश्लिष्ट, सुगठित, संतुलित तथा संक्षिप्त होना आवश्यक है, कि पाठक को निबन्ध पढ़ना श्रमसाध्य न प्रतीत हो । कुछ निबन्धकार तो हास्य-व्यंग्य तथा विनोद की योजना भी निबन्ध के लिए आवश्यक मानते हैं । पं० बालकृष्ण भट्ट जैसे विद्वान ने तो हास्य को लेख का जीवन ही माना था ।"[1]

डॉ राम रतन भटनागर ने यहाँ तक कह डाला है, कि " श्रेष्ठ निबन्धकार, श्रेष्ठ अभिनता की तरह अनेक भावों और रसों के कुशल चित्र-कर्ता होते हैं ।"[2]

विद्वानों ने निबन्ध को गद्य साहित्य की सर्वाधिक सशक्त विधा माना है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस संदर्भ में लिखा है, कि " यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है ।"[3]

---

1. हिन्दी प्रदीप, सं० बालकृष्ण भट्ट, सन् 1900, जिल्द 23, सं01, 2, 3.
2. डॉ० राम रतन भटनागर, (हिन्दी साहित्य की कहानी,) पृ0 203
3. आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 505.

अंग्रेजी 'एसे' के अनुकरण के रूप में हिन्दी साहित्य में निबन्ध विधा का आरम्भ 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। यह वही समय था, जब सन् 1826 में हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' पं० जुगल किशोर सुकुल के सम्पादन में प्रकाशित हुआ, और उसके बाद अनेक पत्र-पत्रिकायें हिन्दी में प्रकाशित होने लगीं। यह हिन्दी निबन्ध का शैशव ही था, किन्तु था बहुत महत्वपूर्ण। जहाँ तक आधुनिक हिन्दी निबन्ध का प्रश्न है, उसका आरम्भ भारतेन्दु युग में हुआ, जब भारतेन्दु ने सामयिक विषयों तथा समस्याओं पर अपने विचारों को मुद्रित रूप देने के लिये 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसी पत्रिका में सर्वप्रथम हिन्दी निबन्ध का गुरु-गम्भीर विवेचन से सम्पन्न यथार्थ प्रकट हुआ। इस युग के प्रमुख निबन्धकार एक तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं ही थे। उनके अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेम धन', राधा चरण गोस्वामी, अम्बिका दत्त व्यास जैसे साहित्य-सर्जकों ने अपनी लेखनी से हिन्दी/निबन्ध साहित्य को सम्पन्न बनाया। भारतेन्दु युग के निबन्धकारों को अपने लेखन में काफी सफलता भी मिली। यह बात अलग है, कि खड़ी बोली निबन्ध का उत्कृष्टतम स्वरूप द्विवेदी युग में ही सामने आया।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार किया जाना हिन्दी साहित्य के लिए एक अति

विशिष्ट घटना थी । द्विवेदी जी के गुरु-गम्भीर निर्देशन तथा प्रभाव के कारण साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही निबन्ध में भी एक नये युग का सूत्रपात हुआ । भावों की स्वच्छन्द शब्द क्रीड़ा तथा व्यंग्य-परिहास का स्थान गुरु-गम्भीर चिंतन तथा आत्मव्यक्ति ने ग्रहण कर लिया । यह द्विवेदी जी की सूझ-बूझ का ही परिणाम था कि उत्कृष्ट साहित्य-सर्जकों की ही नहीं, शिक्षित पाठकों की संख्या में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई । प्रौढ़ भाषा- शैली तथा गम्भीर चिन्तन से ओत-प्रोत विविध विषयक निबन्ध लिखे गये और उन्हें समझदार शिक्षित पाठक भी मिले । द्विवेदी जी ने ज्ञान राशि के संचित कोश को ही वास्तविक साहित्य माना था । और निबन्धों के माध्यम से इस कोश की पूर्ति तथा अभिवृद्धि हुई । द्विवेदी जी ने हिन्दी में पहली बार निबन्ध को निबन्धता प्रदान की । उन्हीं के प्रभा मण्डल में अनेक उत्कृष्ट निबन्धकारों का प्रादुर्भाव हुआ । द्विवेदी जी स्वयं एक श्रेष्ठ निबन्धकार थे । बाल मुकुन्द गुप्त, पं० माधव प्रसाद, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, राम अवतार शर्मा, अध्यापक पूर्ण सिंह, पद्म सिंह शर्मा, मिश्र बन्धु, बाबू श्याम सुन्दर दास, आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, चण्डीप्रसाद हृदयेश, माखन लाल चतुर्वेदी, बाबू गुलाब राय, पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी जैसे अनेक विशिष्ट निबन्धकारों ने ऐसे निबन्ध साहित्य का सृजन किया, जिससे निबन्ध विधा गौरवान्वित हुई, उसका स्वरूप सजा-सँवरा ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विविध विषयों पर जो निबन्ध लिखे, उन्हें विषयानुसार पाँच वर्गों में रखा जा सकता है—— साहित्यिक निबन्ध, जीवनियाँ, अविष्कार तथा विज्ञान आधारित निबन्ध, पुरातत्व तथा इतिहासपरक निबन्ध तथा आश्चर्य और कुतूहलवर्द्धक निबन्ध । अधिकांशतः द्विवेदी जी ने परिचयात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की । उनमें आत्मव्यंजना का तत्व तो नगण्य है । किन्तु जब वे आक्रोश से भरकर अनुचित कार्यों अथवा लेखकों के प्रतिकार के लिए अपनी लेखनी चलाते हैं, तो प्रखर व्यंग्य के रूप में उनके मन- मस्तिष्क की आन्तरिक भावनायें पूरी तीव्रता साथ प्रकट होने लगतीं हैं तथा उनकी न्यायनिष्ठ भावना पूरे लेखन पर प्रतिबिम्बित हो उठती है । 'म्यूनिसपिल्टी के कारनामें' शीर्षक निबन्ध में उनकी व्यंग्य शैली का प्रखर रूप दृष्टिगोचर होता है । दूसरी ओर 'प्रभात', 'आत्मनिवेदन', 'सुतापराधे', 'जनकस्य दण्ड', जैसे निबन्धों में उत्कृष्ट व्यक्तित्व व्यंजना के दर्शन होते हैं ।

बालमुकुन्द गुप्त की लेखनी निर्भीक और व्यंग्यवाण छोड़ने में सिद्धहस्त थी । हिन्दी साहित्य में उनके 'शिव शम्भू के चिट्ठे' ने गुप्त जी को प्रसिद्धि भी खूब दी । 'भारत-मित्र' में सन् 1904-5 में प्रकाशित गुप्त जी के चिट्ठे तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लॉर्ड कर्जन को सम्बोधित करते हुए उन पर ज़हर बुझे बाण छोड़ते थे । लॉर्ड कर्जन की भारत-विरोधी नीतियों तथा कार्रवाइयों पर गुप्त जी अपने चिट्ठों

के माध्यम से तीखी, ओजपूर्ण, व्यंग्यात्मक शैली में चुभते हुए प्रहार करते थे। यह उनकी निर्भीक राष्ट्रीयता तथा तत्कालीन राजनैतिक धारा के प्रति उनकी निष्ठा का भी प्रतीक था। गुप्त जी ने चिट्ठों के अतिरिक्त तत्कालीन साहित्य तथा राजनैतिक और राष्ट्रीय महत्व के विषयों पर भी बड़ी निर्भीकता से अपनी लेखनी चलायी। संक्षेप में कह सकते हैं, कि गुप्त जी की गद्य शैली तीखी, चुटीली, चुस्त, व्यावहारिक, प्रवाहपूर्ण, सजीव और सर्वजन-ग्राह्य थी।

सन् 1900 में बाबू देवकी नंदन खत्री के सहयोग से माधो प्रसाद मिश्र ने 'सुदर्शन' शीर्षक मासिक पत्र का प्रकाशन किया था। यह पत्र चला तो केवल दो वर्ष चार माह, किन्तु इसमें प्रकाशित दुर्लभ निबन्ध हिन्दी निबन्ध विधा पर अपनी छाप छोड़ गये। प्रांजल, पुष्ठ, तथा परिमार्जित भाषा में मिश्र जी ने साठ से अधिक पांडित्यपूर्ण निबन्ध लिखे। इनमें अधिकांश तो जीवनियां हैं। किन्तु 'श्रीपंचमी', 'होली', 'रामलीला', 'व्यासपूजा', 'नवीनवर्षोत्सव', 'कुंभपर्व', 'श्रावण के त्यौहार' तथा 'विजयदशमी' जैसे पर्वों और त्यौहारों पर भी उन्होंनें ऐसे प्रौढ़ निबन्ध लिखे, जिनमें सुन्दर चित्रात्मकता है, पर्वों के रंजक रंग-रूप हैं। सात तीर्थ यात्राओं पर भी मिश्र जी ने सुन्दर निबन्ध लिखे। उनका 'सब मिट्टी हो गया' निबन्ध भावात्मक शैली में लिखित उत्कृष्ट रचना है। सात तीर्थ यात्राओं पर उनके भ्रमावृत्तान्तों वाले निबन्ध चित्रात्मक हैं,

सजीव हैं, रोचक और आत्म व्यंजक हैं । यद्यपि मिश्र जी ने समाज सुधार जैसे विषयों पर भी अपनी लेखनी चलायी, किन्तु खोजपूर्ण, सूचनापरक साहित्यिक निबन्धों ने ही उन्हें विशेष ख्याति और प्रतिष्ठा दिलाई । उनके इस कोटि के निबन्ध 'पुष्पांजलि' में संगृहीत हैं ।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी वैसे तो अपनी केवल एक कहानी 'उसने कहा था' के बल बूते हिन्दी साहित्य में अमर हैं, किन्तु निबन्ध विधा में भी उनका अन्यतम् स्थान है । गुलेरी जी के निबन्धों में उनके पांडित्व की छाप के साथ-साथ मार्मिक व्यंग्य तथा व्यक्तित्व का आकर्षण है । वे पुरातत्व के विद्वान थे और उनकी विद्वता उनके निबन्धों में भी दृष्टिगोचर होती है । उनकी निबन्धीय भाषा प्रौढ़, परिमार्जित तथा विषयानुकूल है । 'कछुआ धर्म' और 'मारेसि मोहिं कुठांउ' गुलेरी जी के बहुचर्चित तथा बहु प्रशंसित निबन्ध हैं ।

पं० गोविन्द नारायण मिश्र द्विवेदी युग के ऐसे निबन्धकार हैं, जिनकी गद्य शैली आचार्य द्विवेदी द्वारा पोषित आदर्श शैली के विपरीत है । मिश्र जी हिन्दी में संस्कृत की गौणी शैली के एक मात्र प्रतिनिधि हैं । अपने लेखन में वे ढूँढ- ढूँढ कर ठेठ संस्कृत शब्दों को जैसे आमंत्रित करते हैं । कादम्बरीकार बाणभट्ट जैसी दीर्घ सामासिक संस्कृत पद-रचना से उन्हें विशेष प्रेम प्रतीत होता है ।

बीच-बीच में जब वे अपभ्रंश शब्दों तथा ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं, तो उनकी भाषा में ऐसा अटकाव उत्पन्न हो जाता है जो बहुत अधिक खटकता है । इसके बावजूद उनके लेखन में काव्योचित प्रवाह, लय तथा मार्मिकता है । वे अर्थ की भूल-भुलैया अवश्य रचते हैं, किन्तु उसमें भटकता पाठक उनके भावार्थ को न समझ कर भी उनकी शैली की रसपूर्ण ध्वनि से मोहित होता रहता है ।

पं० गोविन्द नारायण मिश्र संस्कृत निष्ठ, तत्सम प्रधान, समास बहुला दीर्घ वाक्य विन्यासपूर्ण तथा पांडित्यपूर्ण गद्य शैली के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे । किन्तु द्रविड़ प्राणायाम कराने वाली उनकी भाषा शैली का अनुकरण द्विवेदी युग के किसी भी साहित्यसर्जक ने नहीं किया।इतने मात्र से ही मिश्र जी की गद्य शैली की ग्राह्यता पर एक विराट प्रश्न चिन्ह अंकित हो जाता है ।

द्विवेदी युग के एक अन्य निबन्धकार पं० रामावतार शर्मा का संस्कृत - प्रेम भी उल्लेखनीय है । वे संस्कृत के अक्षय कोश को ही हिन्दी के लिये सर्वोपयुक्त मानते थे । उन्होंने तो अँग्रेजी के विशुद्ध शब्दों का भी संस्कृत परिमार्जित शुद्धीकरण करने का प्रयास किया । और-तो-और उन्होंने प्रचलित नामों तथा शब्दों का भी संस्कृत-परिष्कार किया, जैसे गिलहरी के लिए 'चिक्कुरासुर' । देश तथा विदेश के प्रचलित नामों का संस्कृतकरण करके उन्होंने एक नई संस्कृतनिष्ठ शैली का सूत्रपात किया था । यह बात महत्वपूर्ण है कि शर्मा जी के निबन्धों में देशप्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है ।

पं० रामावतार शर्मा स्वभाव से सुधारवादी तथा देशप्रेम की भावना के पोषक थे । अतः ऐसे विषयों पर लिखते समय उन्होंने सिद्धहस्त व्यंग्यकार की तरह बड़ी कुशलता से अत्यन्त तीखे और गम्भीर व्यंग्य-वाण छोड़े । ऐसे लेखन में उन्होंने कटाक्ष प्रश्नोत्तर तथा व्यावहारिक शब्दों का भी प्रयोग किया । किन्तु गम्भीर तथा कठिन विषयों पर लिखते समय उनकी व्याख्यात्मक शैली अतिगम्भीर हो जाती है और संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत बढ़ जाता है ।

सरदार पूर्ण सिंह द्विवेदी युगीन निबन्ध शैली के एक श्रेष्ठ हस्ताक्षर हैं । यही कारण था कि केवल छः निबन्ध लिख कर उन्होंने आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था । नैतिक तथा सामाजिक विषयों पर लिखे उनके निबन्ध पश्चिम की निबन्धीय कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते हैं । उनके निबन्धों को किसी विशिष्ट निबन्ध शैली के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । किन्तु उनके लगभग सभी निबन्धों में भावात्मक विचारों का ताना-बाना है । उनके निबन्धों में गद्यकाव्य जैसी रसात्मकता है । उनकी सहृदयता प्रेरक शक्ति के रूप में उनके संपूर्ण लेखन में प्रवाहित होती है । वे अपने पाठक के समक्ष अपने हृदय की गहराइयों तक को उजागर कर देते हैं । इसमें न उन्हें कोई संकोच है और न कोई दुराव-छिपाव । पूर्ण जी के सर्वाधिक प्रसिद्ध निबन्ध हैं -'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', 'पवित्रता' तथा 'कन्यादान' ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस युग के युग प्रवर्तक निबन्धकार थे। उन्होंने हिन्दी में श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबन्धों की परम्परा आरम्भ की। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध सन् 1912 से 1919 के बीच 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए। व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों में प्राय: वर्ण्य विषय उपेक्षित हो जाता है। आचार्य शुक्ल ने अपनी लेखनी को इस कमजोरी से मुक्त रखा। उन्होंने 'भय और क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा' तथा 'लोभ और प्रीति' जैसे मनोवैज्ञानिक निबन्ध लिखे, जिन्हें लोकप्रियता और प्रसिद्धीभी प्राप्त हुई। यद्यपि आचार्य शुक्ल साहित्यालोचक के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हैं, किन्तु उनका निबन्धकार का रूप भी कम प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसी मिश्रबन्धुओं की त्रिमूर्ति ने संभाषण तथा नाटकीयता प्रधान शैली में निबन्ध रचे। अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावपूर्ण तथा कथन को सशक्त बनाने के लिए वे बीच-बीच में प्रश्न करते हैं। और एक ही तथ्य पर बल देने के लिए अनेक वाक्यों को जोड़-जोड़ कर प्रस्तुत करते समय वे भाषणकर्ता जैसे बन जाते हैं। उनके निबन्धों की शैली विवेचनात्मक है, जिसमें भावागत गाम्भीर्य तथा प्रौढ़ता है। भाषा की विशुद्धता पर भी उनका विशेष आग्रह है। शैली में प्रौढ़ता लाने के लिए वे समयोचित ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं, आख्यायिकाओं, उक्तियों, उद्धरणों तथा पदों का मिश्रण अपने निबन्ध में करते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वे उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में मिश्रबन्धुओं की भाषा सौम्य तथा शान्त हो जाती है तथा वाक्यसरल, सुबोध और लघु

हो जाते हैं । मिश्रबन्धुओं की इस त्रिमूर्ति में पं0 गणेश बिहारी मिश्र, पं0 श्याम बिहारी मिश्र तथा पं0 शुकदेव बिहारी मिश्र सम्मिलित थे । यद्यपि मिश्रबन्धु ने हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास 'मिश्रबन्धु विनोद' लिखकर हिन्दी को इतिहास विभाजन तथा उनके नामकरण का उपहार दिया था, किन्तु साहित्य के इतिहास लेखक तथा आलोचक के रूप में उन्हें बहुत अधिक प्रतिष्ठा नहीं मिली । उनकी प्रतिष्ठा विशेष रूप से समाज-सुधार विषयक तथा खोजपूर्ण और सूचनापरक साहित्यिक निबन्धों के कारण अधिक है ।

पं0 जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी हास्य तथा विनोदपूर्ण निबन्धों के लिए इतने विख्यात हैं, कि उन्हें हास्य मूर्ति तक कहा गया है । उनकी शैली में हृदय की पीड़ा का आन्दोलन है । उनकी हास्य शैली में सौम्यता भी है और वक्तृत्व कला की सजीवता भी । 'ब की बहार', 'पिक्वर पूजा' 'अनुप्रास का अन्वेषण', 'हिन्दी लिंग विचार' उनके कुछ विशिष्ट निबन्ध हैं । शब्द ग्रहण करने में उनमें हठधर्मी बिलकुल नहीं थी । वे स्वयं लिखते हैं - "... मुसकिराना छोड़ सदा ईस्त् हास्य ठीक नहीं । डकार लेने में जो मजा है वह उद्गार में नहीं । काली - कलूटी में जो आनन्द है वह कृष्ण कलेवरा में नहीं । यही हाल जम्हाई और जृमन का है । ... अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जो शब्द हिन्दी में घुल मिल गये हैं उन्हें निकाल देना हिन्दी का अंगच्छेदन करना है ।"[1]

1- अध्यक्षीय भाषण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 12वाँ अधिवेशन, निबन्ध निचय, पृ0 164-65 पर उद्धृत ।

बाबू श्याम सुन्दर दास मूलत: आलोचक थे । किंतु उन्होंने विविध विषयों पर उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की और हिन्दी साहित्य में एक श्रेष्ठ निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए । हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने एक जनवरी सन् 1900 को 'सरवती' के सम्पादन का भार संयुक्त रूप से ग्रहण करने के साथ पदार्पण किया था । किन्तु सम्पादक के रूप में भी उन्हें वह विशिष्ट स्थान नहीं प्राप्त हुआ जो निबन्धकार के रूप में । वे निर्भीक और स्पष्टवादी थे और साहित्य सर्जक के रूप में उनका व्यक्तित्व एक गंभीर निबन्धकार के रूप में प्रतिष्ठित है । उन्होंने सीधी - सादी, तथ्य प्रधान और प्रज्ञात्मक शैली को अपनाया । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "जिस सामान्य हिन्दी शैली का प्रवर्त्तन किया था, उसी शैली का प्रौढ़ एवं विकसित रूप बाबू साहब की इस विवेचनात्मक शैली में उपलब्ध होता है ।"[1] बाबू श्याम सुन्दर दास ने जन-व्यावहारिक भाषा को न अपनाकर विशुद्ध साहित्यिक हिन्दी को अपनाया । उन्होंने भारतीय साहित्य की विशेषतायें 'समाज और साहित्य', 'कर्त्तव्य और सभ्यता', 'रासो शब्द', 'हमारी भाषा', 'तुलसीदास', 'सूरदास-कला का विवेचन', 'नागरी अक्षर', तथा 'हिन्दी भाषा' जैसे गम्भीर विवेचनात्मक निबन्धों की रचना की । बाबू श्याम सुन्दर दास हिन्दी गद्य-निर्माता तथा यशस्वी शैलीकार के रूप में मान्य हैं ।

डॉ० राम रतन भटनागर, हिन्दी गद्य, पृ० 201.

द्विवेदी युग में गणेश शंकर विद्यार्थी, मन्नन द्विवेदी, यशोदा नंदन अखौरी, केशव प्रसाद सिंह आदि अन्य निबन्धकारों ने भी अपनी विशिष्ट रचना शैली तथा साहित्यिक प्रतिभा से आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया। जहाँ तक निबन्ध साहित्य का प्रश्न है, द्विवेदी युग की उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं। वर्णनात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, कथात्मक शोधपरक आदि अनेकानेक शैलियों में इस युग में निबन्ध लिखे गये। द्विवेदी युग का ही यह प्रभाव था, कि द्विवेदी युग के अन्तिम चरण में तथा उसके बाद भी श्रेष्ठ आत्म व्यंजक निबन्ध लिखे गये।

द्विवेदी युग में सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से अनेक निबन्ध लिखे गये, जिनका कम महत्व नहीं है। समाज की हीनावस्था, आर्थिक विषमता, धार्मिक पतन तथा राष्ट्रीय समस्याओं की पृष्ठभूमि में भी निबन्ध-विधा में महत्वपूर्ण कार्य हुआ, जिसका प्रभाव भविष्य के साहित्य तथा विभिन्न विधाओं पर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

आलोचना

आलोचना को साहित्य विधा के रूप में निरूपित करना तर्क संगत नहीं प्रतीत होता। विधायें तो वस्तुतः सर्जनात्मक साहित्य का ही वर्ग निर्धारण है। समालोचना चूँकि सर्जनात्मक साहित्य नहीं है, अतः उसे साहित्य विधा मानना उचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु स्वयं सर्जनात्मक साहित्य के लिए आलोचना अपरिहार्य है। आलोचना ही तो सर्जनात्मक

साहित्य का मूल्यांकन है । और वही साहित्य की विभिन्न विधाओं को नई दृष्टि देती है और दिशा निर्देश तथा मार्ग-दर्शन कराती है । इस दृष्टि से आलोचना का महत्व सर्जनात्मक साहित्य से कदापि कम नहीं है । इसके बावजूद यह मानना पड़ेगा, कि प्रथम स्थान सर्जनात्मक साहित्य का ही है क्योंकि वही नहीं होगा तो आलोचना होगी किसकी ?

वास्तविकता यह है कि हिन्दी आलोचना का गम्भीर तथा तात्विक रूप आचार्य द्विवेदी के युग में नहीं उभर सका था । किन्तु आलोचना ने इसी युग में साहित्य में अपनी अनिवार्य पहचान बना ली थी । लक्षण ग्रन्थों की परम्परा वाली शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक आलोचना, अनुसंधान परक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना जैसे आलोचना के पाँच रूप द्विवेदी युग में प्रति - फलित हुए । लक्षण ग्रन्थों की प्रमुख रीतिकालीन परम्परा द्विवेदी युग में भी देखने को मिल जाती है । जगन्नाथ प्रसाद भानु ने इसी परम्परा में सन् 1910 में 'काव्यप्रभाकर' तथा 1917 में 'छंद सारावली' ग्रन्थ का प्रणयन किया । सन् 1916 में लाला भगवानदीन द्वारा प्रस्तुत 'अलंकार मंजूषा' में भी इसी परम्परा का पालन किया गया । इन दोनों ही आलोचकों की इन कृतियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है, कि इनका ध्यान अंग्रेजी पढ़े लिखे पाठकों की ओर विशेष रूप से था । भानु जी ने तो भूमिका ही अंग्रेजी में लिखी तथा हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय भी प्रस्तुत किये भगवान दीन जी ने हिन्दी अलंकारों के समकक्ष फारसी, अरबी और अंग्रेजी अलंकारों को भी अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया ।

द्विवेदी युगीन आलोचना का एक प्रमुख आयाम तुलनात्मक मूल्यांकन के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है । इसका समारम्भ पद्मसिंह शर्मा ने सन् 1907 में बिहारी तथा सादी साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के साथ किया । यही नहीं, सन् 1908 से 1912 तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत तथा हिन्दी कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब का परीक्षण, अन्वेषण करते रहे । सन् 1910 में प्रकाशित मिश्रबन्धु के 'हिन्दी नवरत्न' ने तो तुलनात्मक आलोचना को ऐसा आयाम दिया, कि तुलनात्मक आलोचना हिन्दी में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय बन गयी । लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी मिश्र ने देव तथा बिहारी का तुलनात्मक अध्ययन करने के साथ ही एक को दूसरे से बड़ा करने का भी प्रयास किया । अनुसंधान परक आलोचना को हिन्दी में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' ने जन्म दिया । सन् 1913 में प्रकाशित 'मिश्रबन्धु विनोद' में भी अनुसंधापनरक आलोचना ही हावी है । नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से संबंधित श्याम सुन्दर दास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर तथा प्रभाकर द्विवेदी ने भी अनुसंधानपरकपरक आलोचना को ही सर्वाधिक महत्व दिया तथा इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया । हिन्दी कहानी के अमर कथा लेखक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तो सन् 1902 में जयपुर से 'समालोचक' पत्र ही निकाल दिया, जिसने गम्भीर आलोचना को अपने अल्प जीवन में नयी दिशायें दीं ।

हिन्दी आलोचना के एक अन्य प्रमुख स्वरूप परिचयात्मक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु युग में हो चुका था । किंतु उसे गम्भीर तथा आदर्श स्वरूप द्विवेदी युग में ही प्राप्त हो सका । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं 'सरस्वती' में अनेक परिचयात्मक आलोचनाएं लिखीं । यही नहीं,

उन्होंने समालोचक का कर्त्तव्य -निर्धारण भी किया । उन्होंने लिखा - "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, सभी विचारणीय विषय है । समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए ।" आचार्य द्विवेदी का हिन्दी आलोचना में कैसा अनिवार्य स्थान है, इसका प्रमाण तो सबसे बड़ा यही है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे महान हिन्दी समालोचक ने टिप्पणी की थी कि "यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते, तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती । " यह कहना अनुचित न होगा कि आचार्य द्विवेदी ने समालोचना के माध्यम से युगीन रचनाकारों को नई दिशा दी, उन्हें साहित्य के नये आयामों से परिचित कराया ।

व्याख्यात्मक आलोचना परिचयात्मक आलोचना का ही आगामी पड़ाव है । आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को ध्यान में रख कर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय तथा सौन्दर्यपरक दृष्टि से किया गया किसी साहित्यिक कृति का मूल्यांकन ही व्याख्यात्मक आलोचना है । लाला श्रीनिवास दास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना इसी दृष्टि से 'आनन्द कादम्बिनी' में प्रस्तुत करके व्याख्यात्मक आलोचना का आरम्भ हिन्दी में बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने कर दिया था । 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु' तथा 'संयोगिता स्वयंवर' की व्याख्यात्मक आलोचना

द्वारा इस प्रवृत्ति को सम्पुष्ट किया बालमुकुन्द गुप्त ने । 'हिन्दी बंगवासी' तथा 'अश्रुमती' बंगला नाटकों के हिन्दी अनुवादों की व्याख्यात्मक आलोचना करके आलोचना के इस स्वरूप को उन्होंने सम्पुष्ट किया और आगे बढ़ाया । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने व्याख्यात्मक आलोचना की शैली को वैज्ञानिक स्वरूप दिया तथा उसकी मान्यता को प्रतिष्ठित किया ।

इस संदर्भ में डॉ० नगेन्द्र का यह वक्तव्य विशेष उल्लेखनीय है, कि "चाहे द्विवेदीजी की कठोर नैतिक दृष्टि हो, चाहे पद्मसिंह शर्मा की उल्लसित भाव-तरल दृष्टि, चाहे मिश्रबन्धुओं की लचीली और अस्थिर सौंदर्य दृष्टि हो, चाहे लाला भगवानदीन और कृष्ण बिहारी की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि, प्राचीन रस-दृष्टि से किसी का कोई विरोध नहीं था । अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचक रसात्मक कविता को ही महत्व देते रहे ।"[1]

द्विवेदी युग के आरम्भ के कुछ वर्ष पूर्व ही सन् 1897 में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का पद्यात्मक अनुवाद 'समालोचनादर्श' शीर्षक से किया था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् 1905 में एडिसन के 'एस्से ऑन इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक से किया । आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी काव्य - सिद्धान्त - प्रतिपादक निबन्धों में अंग्रेज लेखकों के कथन को आधार बनाया । यही वह आधार-भूमि थी, जिस पर आचार्य शुक्ल तथा बाबू श्याम सुन्दर दास ने वैज्ञानिक आलोचना की अट्टालिका का सृजन किया ।

पूर्व कालीन आलोचना काव्य-सिद्धान्त - निरूपण पर आधारित रही है । आचार्य द्विवेदी ने काव्य - सिद्धान्त प्रतिपादक अपने निबन्धों में कई अंग्रेज लेखकों को आधार बनाया । यही वह पृष्ठभूमि थी, जिसका आधार लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्याम सुन्द दास ने हिन्दी में वैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात किया । इसके पूर्व काव्य - सिद्धान्त ही समालोचना का आदर्शस्वरूप था । काव्य-विशेषताओं को सूक्तियों तथा प्रशस्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था । यह पाश्चात्य साहित्य का ही प्रभाव था, कि आलोचना साहित्य एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्य हुआ । आचार्य शुक्ल का ही यह प्रभाव था कि कवि के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही काव्य की मूल प्रवृत्तियों की छान-बीन करके उसमें निहित देश-काल सम्बोधित शाश्वत जीवन-मूल्यों तथा मानवीय गुणों को दृष्टि में रख कर उसके महत्व को प्रतिपादित करने की नई दृष्टि सामने आई । आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं ने इस नई दृष्टि को संपोषित किया और अपने प्रभामण्डल में भावी आलोचना साहित्य एक को भीसमेटा तथा प्रभावित किया ।

बाबू गुलाब राय तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आलोचना की इस परम्परा को स्वस्थ रूप में आगे बढ़ाया । गुलाब राय जी का 'नव - रस' सन् 1921 में प्रकाशित हुआ। पदुमलाला पुन्नालाल बख्शी के 'हिन्दी साहित्य विमर्श' तथा 'विश्व साहित्य' सन् 1924 में प्रकाशित हुये ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी आलोचना ने हिन्दी साहित्य की शैलियों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । हिन्दी में प्रौढ़, प्रांजल, पुष्ठ, शास्त्रीय तथा तथ्य-विवेचक शैली को प्रतिष्ठित करने में आलोचक तथा उनकी आलोचनायें माध्यम बनीं ।

द्विवेदी युगीन व्यावहारिक आलोचना का ही यह प्रसाद था, कि आचार्य नन्द दुलारे बाजपेयी, डॉ0 पीताम्बर दास बड़्वाल, डॉ0 जगन्नाथ दास शर्मा तथा डॉ0 नगेन्द्र जैसे आलोचकों का भविष्य में प्रादुर्भाव हो सका तथा हिन्दी आलोचना सृजनात्मक साहित्य को उचित मार्गदर्शन कर सकी ।

अन्य विधाएं

काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा आलोचना जैसी प्रमुख विधाओं के विकास तथा संवर्द्धन के साथ ही द्विवेदी युग में कुछ गद्य विधाओं में भी उल्लेखनीय साहित्य सृजन हुआ । यात्रा वृत्त, संस्मरण तथा पत्र-साहित्य का प्रवर्त्तन द्विवेदी युग में ही हुआ था । जीवनी साहित्य में यद्यपि भारतेन्दु युग में भी कार्य हुआ था, किन्तु द्विवेदी युग में इसका विशेष विकास तथा परिष्कार हुआ । द्विवेदी युगीन साहित्यिक पत्रकारिता के उत्कर्ष के फलस्वरूप लगभग सभी साहित्य रूपों की प्रगति द्विवेदी युग में भारतेन्दु युग की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से हो सकी । इन सभी विधाओं की बहुमुखी प्रगति का श्रेय द्विवेदी युग की पत्रकारिता को ही विशेष रूप से है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं जीवनियां लिख कर अपने युग के लेखकों को जीवनी-लेखन की दिशा में प्रेरित किया था । उससे मिलती - जुलती ही स्थिति द्विवेदी युग में भी दृष्टिगोचर होती है । स्वयं आचार्य

द्विवेदी ने सन् 1918 में 'प्राचीन पण्डित और कवि', 1924 में 'सुकवि संकीर्तन' तथा सन् 1929 में 'चरित चर्चा' शीर्षक ग्रन्थों में अपनी स्वरचित जीवनियों को संकलित किया। इनमें से अधिकांश जीवनियाँ स्वयं उनकी 'सरस्वती' में समय - समय पर प्रकाशित हुई थीं। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में अन्य साहित्य सर्जकों को भी उन्होंने जीवनी-लेखन के प्रति आकृष्ट किया। इस युग में पाँच विशिष्ट प्रकार की जीवनियाँ लिखी गई -

(1) महापुरूषों की जीवनियाँ, जिनमें मुख्य रूप से आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानंद की अनेक जीवनियाँ लिखी गईं।

(2) राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ

(3) ऐतिहासिक महापुरूषों की जीवनियाँ

(4) महान महिलाओं की जीवनियाँ

(5) विदेशी महापुरूषों की जीवनियाँ

अकेले महर्षि दयानंद का जीवन-चरित राम विलास शारदा ने सन् 1901 में 'आर्य धर्मेन्द्र जीवन महर्षि' शीर्षक से दयाराम ने सन् 1904 में 'दयानंद चरितामृत' शीर्षक से, सन् 1907 में चिमनलाल वैश्य ने 'स्वामी दयानन्द' शीर्षक से तथा सन् 1910 में अखिलानंद शर्मा ने 'दयानंद दिग्विजय' शीर्षक से महर्षि दयानंद की जीवनी लिखी। इस युग में आर्य समाज द्वारा किये गये समाज सुधार के कार्य पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। यही कारण था कि स्वामी दयानंद पर इतनी जीवनियाँ लिखी गई।, जिनमें प्रचारात्मकता अधिक है। माधो प्रसाद मिश्र द्वारा रचित 'विशुद्धानंद चरितावली'

भी इसी वर्ग की कृति है, जिसमें महात्मा विशुद्धानंद का जीवन चरित उत्कृष्ट रूप में लिखा गया है ।

द्विवेदी युग समाज सुधार के साथही राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्रीय चेतना का भी युग था । ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाने की भावना पूरे राष्ट्र में जागृत हो रही थी और लाला लाजपरत राय, महात्मा गांधी, गोखले, मदन मोहन मालवीय तथा लोकमान्य तिलक जैसे अनेक नेता जन-जन में देश प्रेम की भावना जाग्रत करने के लिए कटिबद्ध थे । इस युगीन चेतना का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा । कई लेखकों ने राष्ट्रीय नेताओं के जीवन चरित लिख कर जनता में राष्ट्रप्रेम जाग्रत करने का प्रशंसनीय प्रयास किया । महादेव भट्ट ने सन् 1907 में 'लाजपत महिमा' की रचना की, पारस नाथ त्रिपाठी ने सन् 1909 में 'तपोनिष्ट महात्मा अरविन्द घोष' लिखा, मुकुन्दी लाल वर्मा ने सन् 1913 में 'कर्मवीर गांधी' शीर्षक रचना लिखी । संपूर्णानंद ने सन् 1914 में 'धर्मवीर गांधी' की रचना की । नंद कुमार देव शर्मा ने सन् 1914 में ही 'महात्मा गोखले लिखी । बद्री प्रसाद गुप्त ने सन् 1914 में 'दादा भाई नौरोजी' लिखी, ब्रज बिहारी शुक्ल ने 'मदन मोहन मालवीय' की रचना सन् 1916 में की, शीतला चरण बाजपेयी ने सन् 1917 में 'रमेश चन्द्र दत्त' लिखा तथा माता सेवक ने सन् 1918 में 'लोकमान्य तिलक का चरित्र शीर्ष रचना लिखी । इन सभी रचनाओंका उद्देश्य राष्ट्रीय नेताओं की प्रेरणापद जीवनी लिखकर देश प्रेम तथा राष्ट्र की अस्मिता के प्रति पूरे समाज को इस रूप मे जाग्रत कर देना

था कि वह विदेशी शासकों की जड़ें उखाड़ फेंकने के लिए संगठित होकर उठ खड़ा हो ।

ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियाँ लिखने के पीछे भी मूल उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करना ही था । सन् 1901 में 'छत्रपति शिवाजी' के जीवन चरित की रचना कार्तिक प्रसाद ने की, सन् 1902 में 'पृथ्वीराज चौहान' का लेखन बलदेव प्रसाद मिश्र ने किया । सन् 1903 में 'महाराणा प्रताप सिंह' की रचना देवी प्रसाद ने की, सिक्खों के दस गुरु' का लेखन ज्वालादत्त शर्मा ने सन् 1909 में किया, आनन्द किशोर मेहता ने सन् 1914 में 'गुरु गोविन्द जी' का लेखन किया, रघुनंदन प्रसाद मिश्र ने सन् 1916 में संपूर्णानंद ने 'महाराज छत्रसाल' लिखा और सन् 1917 में लक्ष्मी धर बाजपेयी ने 'छत्रपति शिवाजी' शीर्षक रचना का प्रणयन किया । इन सभी कृतियों को पढ़कर यही तथ्य उजागर होता है, कि उनका उद्देश्य राष्ट्रीयता तथा देश प्रेम की भावना को अत्यन्त गौरवमय तथा प्रेरक रूप में पाठक के समक्ष प्रस्तुत करना था । विदेशों की महान विभूतियों के जीवन चरित लिखने के प्रति भी द्विवेदी युग के कुछ लेखक इसी उद्देश्य से प्रवृत्त हुए । सिद्धेश्वर वर्मा ने सन् 1901 में 'गैरी बाल्डी' लिखा, उमापति दत्त शर्मा ने सन् 1905 में 'नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी' शीर्षक रचना लिखी, नाथूराम प्रेमी ने सन् 191।2 में 'जॉन स्टुअर्ट मिल' की रचना की, ब्रह्मानंद ने जर्मनी विधाता' शीर्षक रचना सन् 1914 में की, लक्ष्मीधर बाजपेयी ने सन् 1914 में 'गैशिफ मैजिनी' लिखी, सन् 1914 में ही 'नेल्सन' की रचना कृष्ण प्रसाद सिंह अघोरी ने की, इन्द्र वेदालंकार ने सन् 1915 में 'प्रिंस बिसमार्क' लिखा,

द्वारका प्रसाद शर्मा ने सन् 1915 में 'महात्मा सक्रिटीज लिखा तथा चन्द्र शेखर पाठक ने सन् 1916 में 'नेपोलियन बोनापार्ट' शीर्षक रचना लिखी। इन सभी महापुरुषों ने अपने-अपने राष्ट्र के उत्थान के लिए अथक प्रयास किये थे, जिन्हें पढ़कर पाठक का उद्वेलित होना और अपने देश के लिए सब कुछ बलिदान कर देने के लिए प्रेरित होना स्वाभाविक था। यही इन रचनाओं का अन्तर्निहित उद्देश्य भी था।

इस युग में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने के साथ ही पीड़ित तथा प्रताड़ित भारतीय नारी के उत्थान का भी अभिमान चल पड़ा था। इस अभियान से ही प्रेरित होकर द्विवेदी युग में कई लेखकों ने अपने देश ही नहीं वरन विदेशों की भी महान महिलाओं की जीवनियां लिखीं। गंगा प्रसाद गुप्त ने सन् 1904 में 'रानी भवानी' शीर्षक रचना लिखी, परमानंद ने सन् 1904 में ही 'पतिव्रता स्त्रियों के जीवन चरित' शीर्षक से रचना लिखी, 'रमणीय रत्नमाला' सन् 1907 में हनुमन्त सिंह द्वारा लिखी गई, यशोदा देवी ने 'वीर पत्नी संयोगिता' सन् 1912 में लिखी, द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी द्वारा सन् 1912 में 'आदर्श महिलायें' शीर्षक रचना लिखी गयी, 'ऐतिहासिक स्त्रियां' का प्रणयन सन् 1912 में देवेन्द्र प्रसाद जैन ने किया, सन् 1912 में ही ललिता प्रसाद शर्मा ने 'विदुषी स्त्रियां' शीर्षक रचना दो खण्डों में लिखी, रामजी लाल वर्मा ने 'भारतीय विदुषी' रचना सन् 1912 में लिखी, लालता प्रसाद वर्मा ने सन् 1913 में 'भारतवर्ष की वीर मातायें' शीर्षक रचना लिखी, सूर्य नारायण त्रिपाठी ने 'रानी दुर्गावती' का लेखन सन् 1914 में किया। रामानंद द्विवेदी ने सन् 1917 में 'नूरजहां' लिखी

और दत्तात्रय बलवन्त पारस ने सन् 1913 में 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' शीर्षक प्रेरक रचना लिखी । इन लेखकों ने महान भारतीय नारियों का जीवन चरित लिख कर भारतीय महिलाओं में नवचेतना जाग्रत करने का प्रशंसनीय कार्य किया ।

संक्षेप में यह टिप्पणी की जा सकती है, कि द्विवेदी युग का जीवनी साहित्य समृद्ध तो था ही, वैविध्यपूर्ण भी था, जिसकी गहराइयों में राष्ट्रीय चेतना की धारायें निर्बाध गति से प्रवाहित हो रही थीं ।

द्विवेदी जी ने यात्रा-वृतांत लेखन को भी प्रेरित किया था । स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को हिन्दी में लिखने के लिए आचार्य द्विवेदी ने ही उत्साहित किया था । स्वामी सत्यदेव द्विवेदी युग के प्रमुख यात्रा-वृतांत लेखक बन गये । उन्होंने अपनी 'अमरीका दिग्दर्शन' (सन् 1911) तथा 'अमरीका भ्रमण' (1916) रचनाओं में अमरीका की राजनीतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक स्थितियों के साथ वहाँ के दर्शनीय स्थलों का भी सजीव चित्र अंकित किया था । इन रचनाओं की शैली औपन्यासिक है, जिसके कारण उनमें रोचकता भी भरपूर है । उनकी तीसरी यात्रा-वृतांत रचना 'मेरी कैलाश यात्रा' सन् 1915 में लिखी गयी, जिसमें उन्होंने कैलाश, मानसरोवर तथा हिमालय के अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण प्रस्तुत किया है । स्वामी सत्यदेव के अतिरिक्त स्वामी मंगलानंद ने सन् 1912 में 'मारिशस यात्रा' लिखी, जो 'मर्यादा' में प्रकाशित हुई, श्रीधर पाठक की 'देहरादून शिमला यात्रा' रचना मर्यादा के जून-सितम्बर 1913 अंक

में प्रकाशित हुई । उमा नेहरू ने 'युद्ध क्षेत्र की सैर' लिखी, जो सन् 1914 में 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई, लोचन प्रसाद पाण्डेय की 'हमारी यात्रा', 'इंदु' पत्रिका में सितम्बर 1915 के अंक में प्रकाशित हुई । पुस्तक रूप में भी इस युग में यात्रा वृतांत लिखे गये । इनमें उल्लेखनीय कृतियाँ हैं - देवी प्रसाद खत्री रचित 'बद्रिकाश्रम यात्रा' [सन् 1902], गोपाल राम गहमरी की 'लंका यात्रा का विवरण' [सन् 1916], ठाकुर गजाधर सिंह की रचना 'चीन में तेरह मास' [सन् 1902] तथा उन्हीं की रचना 'हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा, [सन् 1903-04] । इसमें तनिक भी संदेह नहीं, कि इन रचनाओं ने यात्रा-वृतान्त साहित्य की पहले से ही चली आ रही परम्परा को आगे बढ़ाया तथा इस विधा के भावी विकास का मार्ग भी प्रशस्त किया

हिन्दी में संस्मरण साहित्य के आगमन की उद्घोषणा युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से ही हुई । 'सरस्वती' ने रोचक तथा प्रेरक संस्मरणों को नियमित रूप से प्रकाशित करने की एक स्वस्थ परम्परा कायम कर दी । आचार्य द्विवेदी ने स्वयं ही फरवरी 1905 में 'अनुमोदन का अंत', अप्रैल 1907 में 'सभा की सभ्यता' और जनवरी 1918 में 'विज्ञानाचार्य', 'बसु का 'विज्ञान मंदिर' जैसी रचनायें लिख कर संस्मरण-लेखन को एक नयी दिशा दी । 'सरस्वती' में ही राम कुमार खेम का 'जगत बिहारी सेठ' और पांडुरंग खानखोजे, प्यारे लाल मिश्र, काशी प्रसाद जयसवाल, जगन्नाथ खन्ना, भोलादत्त पाण्डेय की संस्मरणात्मक रचनायें समय-समय पर प्रकाशित हुई । अधिकांश संस्मरण प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखे गये, जिनमे पश्चिम के रीतरिवाजों तथा दर्शनीय स्थलों पर वर्णनात्मक

शैली में लेखन किया गया । फलस्वरूप यह रचनायें निबन्धात्मक अधिक हो गयीं । पुस्तक रूप में केवल एक संस्मरणात्मक रचना उल्लेखनीय है - 'हरिऔध जी के संस्मरण' । इस पुस्तक के 'निवेदन' से पता चलता है, कि इसके रचनाकार वास्तव में बालमुकुन्द गुप्त थे जबकि पुस्तक के ऊपर लेखक के रूप में न जाने क्यों वेणी माधो शर्मा का नाम अंकित है । यद्यपि इस विधा में रचित इस युग का साहित्य संस्मरण विधा के आगमन की सूचना मात्र देता है, किन्तु इस थोड़े से साहित्य ने ही आने वाले युगों में इस विधा के विकास तथा परिष्कार के शुभ संकेत दे दिये थे ।

हिन्दी साहित्य में पत्र साहित्य का पहला ग्रन्थ द्विवेदी युग में ही प्रकाशित हुआ था । सन् 1904 में महात्मा मुंशीराम ने स्वामी दयानंद सरस्वती से सम्बन्धित पत्रों का संकलन प्रस्तुत किया था । द्विवेदी युग का दूसरा पत्र-ग्रन्थ भी स्वामी दयानंद से ही सम्बन्धित था, जिसे पं0 भगवत दत्त ने सन् 1909 में 'ऋषि दयानंद का पत्रव्यवहार' शीर्षक से प्रस्तुत किया था । इस ग्रन्थ में स्वामी दयानंद के चिन्तन-मनन का ही परिचय नहीं मिलता, बल्कि तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य का भी प्रामाणिक चित्रण प्राप्त होता है ।

सप्तम अध्याय

द्विवेदी युग के कतिपय विशिष्ट रचनाकार- पत्रकार

- महावीर प्रसाद द्विवेदी
- बाबूराव विष्णु पराड़कर
- गणेश शंकर विद्यार्थी
- अम्बिका प्रसाद बाजपेयी
- लक्ष्मी नारायण गर्दे
- पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
- शिव पूजन सहाय
- मुंशी प्रेमचन्द
- रामचन्द्र शुक्ल
- मैथिलीशरण गुप्त

द्विवेदी युग के कतिपय विशिष्ट रचनाकार-पत्रकार

साहित्य की सृजन-प्रक्रिया में उसका सर्जक उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना इस सम्पूर्ण सृष्टि का अदृश्य सृजनकर्ता जगतनियन्ता। जब हम सृजन की चर्चा करते हैं तो सृजन की समस्त पीड़ाओं तथा संवेदनाओं के वाहक साहित्य सर्जक की भी चर्चा करना हमारा परम कर्त्तव्य बनता है, क्योंकि सृजन के मूल में तो वही है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी - साहित्य-सर्जकों की चर्चा करते समय उस महाप्राण की ही सर्वप्रथम चर्चा करना आवश्यक है, जो एक पूरे साहित्यिक युग का प्रतीक बन गया और अपने युग का नामधारी बना। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अपने साहित्यिक युग का प्रतीक बन जाना अनायास अथवा अकारण ही नहीं था। आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता में क्रान्ति उत्पन्न की थी, उसको एक नया अर्थ दिया था, जिसके फलस्वरूप पत्रकारिता ही नहीं साहित्य में भी अनेक नये आयाम जुड़ गये थे। आचार्य द्विवेदी के अथक प्रयास से ही 'सरस्वती' ऐसी पत्रिका बन सकी कि उसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य में एक युगान्तकारी घटना लगने लगा। 'सरस्वती' इस तथ्य का एक सशक्त प्रमाण है कि "पत्रकारिता साहित्य की मददगार ही नहीं उसका नेतृत्व भी कर सकती है।"[1] आचार्य द्विवेदी तथा उनकी सरस्वती ने ही बीसवीं शताब्दी

1- रामबक्ष - 'सरस्वती' में संस्कृति', आलोचना, जुलाई-सित0, 1977, पृ0 49.

के प्रथम दशक में आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव डाली । रीतिकालीन रुचियों और मूल्यों को पृष्ठभूमि में डाल देने के लिए 'सरस्वती' ने ही वैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत किये । कुतूहल, आश्चर्य तथा जिज्ञासा के विज्ञान सम्मत भाव पहली बार 'सरस्वती' में प्रकाशित सामग्रियों में ही उजागर हुई । इसी पत्रिका में प्रकाशित साहित्य में विदेशी शासन से स्वतन्त्रता का स्वर सुनायी दिया । समाजोद्धार तथा देशोद्धार का भाव भी 'सरस्वती' में ही प्रमुखता प्राप्त कर सका । हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं की समृद्धि की घोषणा भी 'सरस्वती' में प्रकाशित साहित्य के माध्यम से ही हुई पूर्वकालीन साहित्य के अन्तर विरोधों से ही नये साहित्य के विकास को दिशा मिली । द्विवेदी युग में अन्तर विरोधों के कारण पूर्वकालीन साहित्य को नकारा नहीं और न अन्तर विरोधों को ही नजरअन्दाज किया ।

आचार्य द्विवेदी के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं की भाषा में उच्छृंखलता थी । यही कारण था कि आचार्य द्विवेदी ने सम्पादक की हैसियत से अपने को रचना-शुद्धि का प्रबल पक्षधर बनाया । उन्होंने सम्पादन के इतिहास में रचना-शुद्धि का कीर्तिमान स्थापित किया । साहित्य सृजन की अव्यवस्थाओं का उनके नेतृत्व में नियमन हुआ ।

द्विवेदी जी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादन यदि व्यापक सन्दर्भ में देखा जाये तो सामान्य सम्पादन कार्य नहीं था । यह सम्पादन के माध्यम से हिन्दी नवजागरण का अत्यन्त दुष्कर कार्य था । हिन्दी प्रदेश के सोते

हुए लोगों को जगाना पत्थर की शिला से अपना सिर टकराने जैसा था । इस कार्य में द्विवेदी जी आरम्भ में बिल्कुल अकेले पड़ गये । बाबू श्याम सुन्दर दास का 'सरस्वती' से अलग होना कोई साधारण घटना नहीं थी । उनके हटने के बाद 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा 'सरस्वती' का अनुमोदन भी हट गया । हिन्दी साहित्य में जैसी गुटबन्दी थी उसके परिणाम स्वरूप लेखकों के एक बड़े गुट द्वारा 'सरस्वती' का बहिष्कार हुआ । परिणामतः द्विवेदी जी को 'सरस्वती' के कुछ अंक अकेले अपने बूते निकालने पड़े । लगभग सारी सामग्री वे स्वयं लिखते और साथ-ही-साथ नये लेखकों की पंक्ति तैयार करने का प्रयास करते । नये लेखकों की जमात इकट्ठी कर लेना आसान कार्य तो था नहीं इसमें समय लगना ही था । लेकिन यह बात ध्रुव सत्य है कि नये रचनाकारों को प्रोत्साहन देने वाला इतना सुधी और उदार सम्पादक हिन्दी ही नहीं किसी अन्य भारतीय भाषा में भी नहीं था । "जिस लेखक की पुश्त पर द्विवेदी जी का वरद-हस्त रहा, वह उन्नति के पथ पर आगे बढ़ता गया । द्विवेदी जी उसकी रचना को इतना संवार देते थे कि उसे देख कर लेखक सोचता रह जाता था कि मैंने इतना दिव्य रूप दिया ही न था ।"[1] इस संदर्भ में राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त की स्वीकारोक्ति भी उल्लेखनीय है - "मेरी उल्टी-सीधी प्रारम्भिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना

1- महाबीर प्रसाद द्विवेदी - भारत सरकार प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 1989, पृ0 9

द्विवेदी जी का ही काम था ।"[1]

यह भी एक विचित्र स्थिति थी कि 'सरस्वती' जब साहित्य की सर्वाधिक प्रतिष्ठित पत्रिका बन गयी उस समय भी कुछ ऐसे रचनाकार इनके विरोधी बन गये जो आत्म प्रशंसा के लिए 'सरस्वती' में अपनी रचनायें प्रकाशित करवाना चाहते थे किन्तु इसमें सफल नहीं हो पाते थे । द्विवेदी जी ऐसे विरोध भाव से दुखी भी होते थे । 'आत्मकथा' वाले अपने निबन्ध में द्विवेदी जी ने लिखा था "इस प्रान्त के कितने ही न्यायनिष्ठ सामाजिक सत्पुरूषों ने 'सरस्वती' का जो बायकाट कर दिया था वह मेरे किस अपराध का सूचक था इसका निर्णय सुधी जन ही कर सकते हैं ।"[2] उनका अपराध उनके अपने ही शब्दों में संभवत: यही था कि "जानबूझ कर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया ।"[3] और यह एक कटु सत्य है कि जो कोई भी अपनी आत्मा का हनन अस्वीकार करेगा उसके अनेक विरोधी अपने आप पैदा हो जायेंगे । यह बात अलग है कि ऐसे सत्पुरूष के स्वर्ग सिधार जाने के बाद लोग आचार्य अथवा ऋषि जैसे ऊँचे नामों से उसे विभूषित करके अपने आप को भी गौरवान्वित करने का प्रयास करें ।

1- हिन्दी साहित्य कोश {वाराणसी} भाग 2, पृ0 412 से उद्धृत

2- आत्म निवेदन, साहित्य-संदेश, अप्रैल, 1939 ई0, पृ0 304

3- वही

'सरस्वती' को द्विवेदी जी ने ऐसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका बना दिया था कि उसमें अपनी रचना प्रकाशित कराना गौरव-सूचक बन गया था। इसी कारण कुछ लोग द्विवेदी जी को प्रलोभन भी देते थे "कोई कहता - मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा। कोई लिखता - अमुक सभापति की स्पीच छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा। कोई आज्ञा देता मेरे प्रभु का सचित्र जीवन चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैर गाड़ी नजर की जावेगी।[1]

ऐसे प्रलोभनों के समक्ष द्विवेदी जी बहरे और गूंगे बन जाते थे। पाठकों का हित चिंतन ही उनके लिए सर्वोपरि था। इसके लिए अपने स्वार्थ का हनन कर देने में ही उन्हें सुख, शांति तथा गौरव की अनुभूति होती थी। शक्कर की थैलियां भेंट करने वाले ढीठ व्यक्ति को तो उन्होंने मुँह-तोड़ जवाब भी दिया था - "तुम्हारी थैलियां जैसी की तैसी रखी हैं। 'सरस्वती' इस तरह किसी के व्यापार का साधन नहीं बन सकती।[2] द्विवेदी जी की खरी और अप्रिय लगने वाली आलोचनाओं से असन्तुष्ट "अनेक सामाजिक सत्पुरुषों ने भी 'सरस्वती' का बहिष्कार कर दिया,"[3]

1- आत्म-निवेदन, साहित्य-संदेश, अप्रैल, 1939 ई0 पृ0 304.

2- द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ0 543

3- 'आत्म - निवेदन', 'साहित्य-संदेश', अप्रैल, 1939 ई0, पृ0 304

किन्तु द्विवेदी जी डिगे नहीं । स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने इसी संदर्भ में लिखा था "उनमें यही एक दोष था कि वे आवश्यकता से अधिक कोमल प्रकृति के थे । दूसरों के फेंके हुए पैने बाण उन्हें बुरी तरह चुभ जाते थे, इसी कारण उन्होंने अपने निद्रा खो दी थी और एक असाध्य बीमारी के शिकार हो गये । पब्लिक में काम करने वालों की चमड़ी बड़ी मोटी और कठोर होनी चाहिए - ऐसी जो किसी के शब्दबाण द्वारा बेधी न जा सके ऐसे ही व्यक्ति अपने विरोधियों के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर सकते हैं । और बराबर आगे बढ़ सकते हैं । प्रतिद्वन्दी ईमानदार तो होते नहीं, वे प्रत्येक बुरे-भले उपाय से प्रतिस्पर्धी को गिराने की कोशिश करते हैं । 'सरस्वती' थी बड़ी सफल पत्रिका और ग्राहकों की बड़ी प्यारी उसकी टिप्पणियाँ और लेख देश-देशान्तरों और द्वीप - द्वीपान्तरों में बड़े चाव से पढ़े जाते थे, जिसके कारण द्विवेदी जी की कीर्ति-कौमुदी का प्रकाश दूर-दूर तक फैल रहा था । विरोधियों से यह सब न देखा गया और वे लगे सरस्वती के विरुद्ध प्रोपेगंडा करने । इस झगड़े में 'सरस्वती' सम्पादक की तन्दुरुस्ती बहुत बिगड़ गई ।"[1] द्विवेदी जी के बिगड़ते स्वास्थ के कारण उन्हें जनवरी 1910 में एक वर्ष की छुट्टी लेनी पड़ी ।

द्विवेदी जी रूढ़ियों के कट्टर विरोधी थे । उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों की कड़ी आलोचना की थी । किन्तु जीवन के अन्तिम चरण में वे भागवत

1- आलोचना , अप्रैल - जून, 1977, पृ0 11

का पाठ करते समय तथा जगद्धर भट्ट की स्तुति 'कुसुमांजलि' के श्लोकों को उच्चारित करते समय जब वे भाव विह्वल हो जाते और उनकी आँखों से आँसू की धाराएँ बह निकलतीं तो इस दृश्य को देख कर उनके धार्मिक विचारों के संबंध में भ्रम होने लगता । लगता कि उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों का जो विरोध किया था वह शायद उनकी आन्तरिक भावना का प्रतीक नहीं था । वास्तव में द्विवेदी जी रूढ़ियों के विरोधी थे, धर्म में निहित उदात्त भावों के नहीं । द्विवेदी जी देव प्रतिमाओं की स्थापना के खिलाफ थे क्योंकि बाद में उनकी दुर्गति होती है, मंदिर में कोई झाडू तक नहीं लगाता । सम्भवत: इसी कारण द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ में हनुमानजी की मढ़िया का जो चित्र है उसके नीचे लिखा गया है उसे द्विवेदी जी की पत्नी ने अपने खर्च मे बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा ब्रजमोहन मिश्र की पत्नी के नाम से इसीलिए करायी थी क्योंकि द्विवेदी जी देव प्रतिमाओं विरोधी थे । बाद में द्विवेदी जी जब अपनी पत्नी की मूर्ति बनवायी तो उसे उन्होंने अपने ही नाम से मंदिर में स्थापित करवाया और सारा खर्च भी स्वयं वहन किया । एक विशेष बात यह थी कि इस मानव प्रतिमा के बायीं तरफ सरस्वती की मूर्ति स्थापित की गयी और दायीं ओर लक्ष्मी की मूर्ति, बीच में आचार्य द्विवेदी की पत्नी की मूर्ति स्थापित हुई । भारत के किसी कोने में कभी किसी ने ऐसा मंदिर नहीं निर्मित करवाया । वास्तव में "यह स्मृति मंदिर महावीर प्रसाद द्विवेदी की रूढ़ि विरोधी अक्षय कीर्ति का भी मंदिर है ।"[1]

---

1 राम विलास शर्मा - 'हिन्दी की जातीय पत्रिका 'सरस्वती', आलोचना, अप्रैल - जून 1977, पृ0 11

द्विवेदी जी का लक्ष्य 'सरस्वती' के माध्यम से ज्ञान का प्रसार जनसाधारण के बीच करना था। वह चाहते थे कि 'सरस्वती' गाँवों तक ज्ञान के प्रकाश को पहुँचाये और ग्रामवासियों को भी स्वाधीनता की पहचान कराये। 'सरस्वती' की इस क्रान्तिकारी विशिष्टता को भली-भाँति पहचान कर ही स्वामी सत्यदेव ने लिखा था - "जनता को आवश्यकता थी नवीन ज्ञान की, स्वाधीनता की पहचान की और आधुनिक ज्ञान स्नान की। सरस्वती द्वारा वे उस पुनीत कार्य को भली प्रकार कर सकते थे। वे थे कुशल सम्पादक और कर्त्तव्य-परायण। उन्हें पता था कि मासिक पत्रिका ज्ञान-प्रचार के लिए अत्यन्त उपयोगी अध्यापिका बन सकती है और वे उसके द्वारा दूर ग्रामों में बैठे हुए देहातियों तक ज्ञान का दीपक जला सकते हैं। उन्होंने 'सरस्वती' को ऊँचे दर्जे की ज्ञान पत्रिका बनाने का दृढ़ संकल्प किया और वे थे धुन के पूरे।"[1]

किसानों की ड्योढ़ी तक ज्ञान को पहुँचाने के लिए द्विवेदी जी कितने संकल्पित थे, इसके संबंध में द्विवेदी स्मृति अंक में डॉ० बेनी प्रसाद ने लिखा है - "1914 ईसवी में योरपीय लड़ाई छिड़ने पर उन्होंने मुझे इसके कारणों पर एक लम्बा लेख लिखने की आज्ञा दी। जब लेख दौलतपुर पहुँचा तब उन्होंने उसे कुछ साधारण पढ़े-लिखे किसानों को सुनाया। वे बहुत प्रसन्न हुए कि लेख का बहुत भाग उनकी समझ में आ गया।"[2]

1- आलोचना, अप्रैल-जून, 1977, पृ० 11।

2- वही

द्विवेदी जी इस विधि से भी भाषा का परिष्कार किया करते थे, जो वाक्य रचना अथवा शब्द साधारण पढ़े-लिखे लोगों को समझ में नहीं आती थी अथवा अटपटी लगती थी उन्हें वे निकाल दिया करते थे । यों तो 'सरस्वती' में लिखने वाले रचनाकारों की अलग-अलग गद्य शैलियाँ थीं किंतु आचार्य द्विवेदी के प्रभाव से उन सब में तीन सामान्य तत्व थे - तर्क, संगत विवेचन, स्पष्ट अभिव्यंजना, दुरूहता तथा शब्दाडम्बर से परहेज । इस रूप में द्विवेदी जी के प्रभा मण्डल की आभा अप्रत्यक्ष रूप से सरस्वती के प्रत्येक रचनाकार पर रहती थी ।

द्विवेदी जी ने जिन रचनाकारों और सम्पादकों का निर्माण किया उन पर उनकी राष्ट्रीय प्रगतिशील विचारधारा का पूरा प्रभाव था । 'आज' के संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा 'प्रताप' के संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, जिनके पत्र प्रगतिशील राष्ट्रीय विचारधारा के सशक्त संवाहक बने । यह बात उल्लेखनीय है कि इनकी इस विचारधारा का आदि स्रोत द्विवेदी जी की 'सरस्वती' ही थी । द्विवेदी जी राष्ट्रीयता तथा प्रगतिशीलता के प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते थे । शायद इसका कारण यह रहा हो कि वह ब्रिटिश दमन का जमाना था । 'सरस्वती' के प्रकाशकों की ऐसी सीमायें थीं कि उन्हें दमन चक्र के व्यूह में डाल देना उचित न रहा होगा । किन्तु 'सरस्वती' की इस सीमा को द्विवेदी जी के चिंतन की सीमा नहीं मानना चाहिए । वे संयम और दूरदर्शिता से काम लेकर राष्ट्रीयता तथा प्रगतिशीलता को अन्तर धारा के रूप में ही 'सरस्वती' में

प्रवाहित करते थे । ताकि उसका ताप स्वयं उनकी पत्रिका को ही न झुलसाने लगे । अपनी सीमा में रहते हुए भी उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें उनके क्रान्तिकारी विचार स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं । उनकी पुस्तक 'सम्पत्तिशास्त्र' में भारत के सन्दर्भ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जैसी आलोचना की गई वैसी उस समय तक किसी अन्य पुस्तक में नहीं मिलती । द्विवेदी जी ने देश की बहुसंख्यक किसान जनता को केन्द्र में रख कर समस्याओं पर अपने विचार प्रकट किये थे । साथ ही देश में नये सिरे से उभर रहे मजदूर वर्ग के संगठन तथा संघर्ष की शक्ति को भी पहचाना था । उन्होंने ही पहले पहल यह लिखा था कि भारत के किसान और मजदूर संगठित होकर अपना भाग्य बदल सकतें हैं । उन्होंने विश्वव्यापी साम्राज्यवादी व्यवस्था तथा उसके कारण होने वाले विश्व युद्धों की ध्वंस लीला का भी विश्लेषण किया था । द्विवेदी जी ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश पर नया चिन्तन किया था । उन्होंने जहाँ देश के दर्शन साहित्य तथा संस्कृति के गौरव को पहचानने की प्रेरणा दी वहीं सामाजिक कुरीतियों तथा धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध तीखे ढंग से कलम चलायी । द्विवेदीजी ने उस विवेक - परम्परा का भी उल्लेख किया जिसका संबंध चार्वाक तथा बृहस्पति से जोड़ा जाता है । उन्होंने अध्यात्म तथा धर्म की स्थापनाओं को नई विवेक दृष्टि से परखा पहचाना । उनकी नई दृष्टि तथा नव चिंतन के प्रभामण्डल के अन्तर्गत ही तत्कालीन तथा भावी साहित्य का सृजन हुआ । इसी संदर्भ में यह मानना पड़ेगा कि उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द द्विवेदी युग की श्रेष्ठ

कलात्मक उपलब्धि हैं। भारत का जो चित्र प्रेमचन्द्र ने अपनी कहानियों, उपन्यासों में अंकित किया है वह द्विवेदी जी के ग्रन्थ 'सम्पत्तिशास्त्र' में निहित ज्ञान काण्ड का ही कलात्मक प्रतिफलन था। इसी प्रकार अन्य रचनाकारों के साहित्य सृजन पर भी द्विवेदी जी के चिन्तन का प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वास्तविकता तो यह है कि द्विवेदी जी ने 'सम्पत्तिशास्त्र' में गाँवों की जिस बदहाली का चित्रण किया था वही प्रेमचन्द के कथा साहित्य की पृष्ठभूमि बना और अन्य रचनाकारों के साहित्य का भी मूल स्रोत बना।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना में जो सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं उनका बीजारोपण भी आचार्य द्विवेदी के लेखन में हो चुका था। हिन्दी समीक्षा साहित्य में आधुनिक विचारधारा के द्विवेदीजी उतने ही बड़े अग्रदूत थे जितने बालकृष्ण भट्ट। इसके अतिरिक्त उनकी यह सबसे बड़ी सम्पादकीय उपलब्धि थी कि उन्होंने काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा की जगह हिन्दी खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया। और-तो-और छायावादी साहित्य में भी जो कुछ प्रगतिशील है उसका बीजारोपण द्विवेदी युग में ही हो चुका था।

द्विवेदी जी की प्रगतिशीलता की यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी कि पराड़कर तथा गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे प्रखर सम्पादकों ने उनसे संपादन कला सीखी तथा पराड़कर जी ने 'आज' में तथा विद्यार्थी जी ने 'प्रताप' में उसे ऐसा मुखर रूप दिया जिसका ताप दूर-दूर तक अनुभव किया जा सके। बाबू राव विष्णु पराड़कर ने लिखा है -"मेरे लिए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

का महत्व उनके सम्पादन-कौशल में है । वैसे तो स्कूल-कालेज में रहते भी सरस्वती पढ़ा करता था, पर सन् 1906 ईसवी से, जब मैंने स्वयं पत्रकार के क्षेत्र में प्रवेश किया, प्रतिमास 'सरस्वती' का अध्ययन करना मेरा एक कर्त्तव्य हो गया और यह सन् 1915 के अन्त तक ज्यों-का-त्यों बना रहा । मै 'सरस्वी' देखा करता था सम्पादन सीखने के लिए । कभी-कभी स्वर्गीय श्री सखाराम गणेश देउस्कर जी को भी, जो सम्पादन कला में मेरे गुरू थे, पढ़कर सुनाया करता था और वे ही मुझे उसकी विशेषताएँ बताया करते थे । वह विशेषता यह थी कि सरस्वती का प्रत्येक अंग (अंक) एक सर्वांगपूर्ण चित्र मालूम होता था । सारे अंगों में सामंजस्य हुआ करता था । यह नहीं कि जैसे - जैसे लेख आये, वैसे-वैसे छाप दिये गये । आदि से अन्त तक उसके चतुर चित्रकार का परिचय मिला करता था ।"[1] पराड़कर जी ने ही अन्य पत्रिकाओं से सरस्वती की तुलना करते हुए लिखा है -

" यह बात मैंने अब तक किसी मासिक पत्रिका में नहीं पायी । ... बंगला और मराठी सामयिक पत्र मुझे प्राय: पढ़ने पड़ते हैं पर उनमें भी स्वर्गीय श्री सुरेशचन्द्र समाजपति द्वारा संपादित 'बंगला साहित्य' के सिवा मैंने कोई ऐसा मासिक पत्र नहीं देखा जिसका प्रत्येक अंक अपने संपादक के व्यक्तित्व की घोषणा करता हो । यह 'सरस्वती' की ही विशेषता थी और वह स्वर्गीय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का निजत्व था ।"[2]

गणेश शंकर विद्यार्थी उनको अपना गुरू मानते थे । ..... स्वर्गीय गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपना साहित्यिक जीवन सरस्वती के सहायक संपादक

1- द्विवेदी स्मृति अंक, सरस्वती , 1939.

2- वही

की हैसियत से प्रारम्भ किया था । ••• इनका आशीर्वाद लेकर गणेश शंकर विद्यार्थी ने सरस्वती का काम छोड़ कर 'अभ्युदय' का भार अपने ऊपर लिया, फिर कुछ दिनों के बाद कानपुर में ही 'प्रताप' की स्थापना की तब द्विवेदी जी से ही वह मूल मंत्र लिया जो आज तक 'प्रताप' पर छपता है ।

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है ।"[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को ग्रामीण संस्कार के साथ ही पिता से विद्रोह का जो संस्कार प्राप्त हुआ था उसे ही उन्होंने हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास की ओर मोड़ दिया था । गदर की साम्राज्य वाद विरोधी जो चेतना उन्हें पिता से विरासत में मिली थी उसी का विकास उनकी राजनीतिक चेतना के रूप में हुआ था ।

द्विवेदी जी के पितहम: ब्रिटिश सेना के भारतीय सिपाहियों को पुराण वाच कर सुनाया करते थे । उन्होंने जो बहुत सारी हस्तलिखित पुस्तकें एकत्र की थीं उन्हीं को बेचकर उनकी पत्नी ने बच्चों को पाला - पोसा था । द्विवेदी जी के पिता रामसहाय ब्रिटिश सेना में साधारण सिपाही थे । 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के समय उनकी पलटन ने भी होशियारपुर में विद्रोह किया था । अंग्रेजी सेना ने विद्रोही पलटन को चारों तरफ से तोपें लगा कर घेर लिया । स्वयं द्विवेदी जी ने अपनी आत्म-

---

1- द्विवेदी स्मृति अंक, सरस्वती 1939, नारायण प्रसाद अरोड़ा का संस्मरणात्मक लेख ।

कथा में लिखा है - "गदर में पिता की पलटन बागी हो गयी । जो बच निकले वे बच गये बाकी जवान तोपों से उड़ा दिये गये ।"[1] द्विवेदी जी के पिता राम सहाय किसी तरह बचकर भागे और जान बचाने के लिए सतलज नदी में कूद पड़े । कई दिन तक तैरते हुए जब वे किनारे लगे तो उनकी बेहोशी की हालत थी । मोटी घास के तिनके चूस कर उन्होंने अपनी भूख मिटायी तथा जीवन रक्षा की । साधु बन कर माँगते खाते कई महीने बाद किसी तरह घर वापस लौटे । उनके हृदय में बसी विद्रोह की भावना ही वह बीज थी जो द्विवेदी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व में पल्लवित हुई ।

संस्कृत साहित्य के प्रति लगाव द्विवेदी जी को अपने पितामह: तथा नाना और मामा की ओर से मिला । पितामह: पुराणों के ज्ञाता थे और हिन्दुस्तानी सिपाहियों को पुराण सुनाया करते थे । नाना और मामा भी संस्कृत के विद्वान थे । स्वयं द्विवेदी जी ने बचपन से ही तुलसीदास की रामायण पढ़ी थी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की "कविवचन सुधा " तथा राधाचरण गोस्वामी का पत्र 'भारतेन्दु' पढ़ कर उनमें हिन्दी सेवा का भाव जाग्रत हुआ था । शिक्षा द्विवेदी जी ने बड़ी कठिनाई से साधारण स्तर तक ही प्राप्त की थी । असाधारण शिक्षा उन्होंने अपने प्रयास तथा परिश्रम से स्वाध्याय द्वारा प्राप्त की थी । किसी तरह रेलवे में नौकरी प्राप्त हो गई थी किन्तु अंग्रेज अफसरों का अपमान जनक व्यवहार उन्हें इतना अखरता था कि रेलवे की दो सौ रूपये प्रतिमाह की नौकरी छोड़कर वे बीस

1- आलोचना, अप्रैल-जून 1977, पृ0 12 पर उद्धृत ।

रूपये प्रतिमाह पर 'सरस्वती' के सम्पादन का भार स्वीकार करने को तत्पर हो गये। इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने 4-9-1932 को श्रीरामशर्मा को एक पत्र में लिखा था "मैं रेलवे में 150/- तनख्वाह 50/- अलौंस = 200/- पाता था। एक मेरे साहब ने मुझसे अपने मातहत क्लर्कों पर जुल्म कराना चाहा। मैने इन्कार कर दिया। वह बोला - तुम्हारी जगह पर दूसरा आदमी रखूंगा। मैने तत्क्षण ही इस्तीफा लिखकर उसकी मेज पर फेंक दिया और घर चला आया। फिर मनाने-पथाने पर भी इस्तीफा वापस न लिया।"[1]

द्विवेदी जी की पत्नी भी कम राष्ट्रवादी तथा सिद्धान्तवादी नहीं थीं। इस्तीफा वापस लेने के संबंध में द्विवेदी जी ने जब अपनी पत्नी से पूछा तो उन्होंने उलटकर उनसे ही प्रश्न कर दिया क्या थूक कर भी कोई चाटता है ?

द्विवेदी जी को अपनी पत्नी से प्रेम भी अगाध था। उनकी पत्नी हिस्टीरिया से पीड़ित थीं। गंगा में डूब जाने से जब उनकी अकाल मृत्यु हुई उस समय द्विवेदी जी की आयु चालिस - ब्यालिस से अधिक नहीं थी। संतान भी कोई नहीं थी फिर भी उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया और पत्नी के प्रति अपने प्रेम तथा आस्था को आजीवन सजोये रखा।

दो सौ रूपये की सरकारी नौकरी से अलग होकर 'सरस्वती' के संपादक के पद पर बीस रूपये प्रति माह की नौकरी करना भी साधारण

1- द्विवेदी युग के साहित्यकारों के कुछ पत्र, पृ0 64.

त्याग नहीं था । इस त्याग के लिए हिन्दी सेवा की भावना ने ही उन्हें प्रेरित किया । जिस समय वह 'सरस्वती' से अलग हुए उस समय उनका वेतन मात्र एक सौ पचास रुपया प्रति माह था । बाद में उन्हें पचास रुपये प्रति माह पेंशन भी मिला करती थी । द्विवेदी जी का अपना सगा कोई नहीं था जो परिवार उन्होंने अपने इर्द - गिर्द जोड़ा था उससे उन्हें संतोष नहीं था । मैथिलीशरण गुप्त को 25-5-1915 को एक पत्र में उन्होंने लिखा था - " मेरे शरीर की रक्षा करने वाला कोई नहीं । जिनको मैने अपना कुटुम्बी बनाया है वे मुझे फलवान वृक्ष समझकर डंडों और ईंटों की मार से कच्चे, पक्के फल गिरा कर हड़प कर जाना चाहते हैं ।"[1]

सम्भवत: इन्हीं सब प्रसंगों के कारण किशोरी दास वाजपेयी द्विवेदी जी को कलयुगी भवभूति मानते हैं । इसमें संदेह नहीं कि भवभूति जैसे विद्रोही साहित्यकार सत्युग में नहीं, कलयुग में ही पैदा होते हैं । इसीलिए वे उपेक्षित भी रहते हैं और उनका जीवन अकेलेपन में बीतता है ।

शिव प्रसाद गुप्त ने बड़े दर्द से द्विवेदी स्मृति अंक में लिखा था - "मुझे इधर पच्चीस-तीस वर्षों से आचार्य द्विवेदी से थोड़ा परिचय था, एकाध बार उनकी चरण-सेवा का मुझे अवसर भी मिला था, मैं भली भांति इसका अनुभव कर सकता हूँ कि हिन्दी के ऐसे उत्कट युग-प्रवर्त्तक विद्वान सेवक का हिन्दी-जनता ने कुछ भी ख्याल नहीं किया व न उनसे अन्तिम समय को सुखी बनाने में कोई हाथ ही बंटाया । उनका इधर का दस-बारह वर्षों

1- द्विवेदी पत्रावली, पृ० 135.

का समय शारीरिक रुग्णावस्था और अर्थ-संकट में ही बीता । अब वे इस दु:खमय असार संसार को छोड़कर वहाँ चले गये हैं, जहाँ का पूरा ज्ञान इस संसार में रहने वाले व्यक्तियों को न है, न हो सकता है और मेरी प्रार्थना उस जगन्नियन्ता के चरणों में यही है कि जहाँ कहीं भी वह आत्मा हो, उसे शान्ति और सन्तोष प्रदान करे । इति ।"[1]

द्विवेदी जी के पत्रों में भी उनके कष्ट और पीड़ा की बात बहुत साफ लिखी हुई है । यह भी एक बहुत बड़ा विद्रूप था कि जिन लोगों ने उन्हें सम्मानित किया वे भी उनकी इस साहित्य साधना का उचित मूल्यांकन नहीं कर सके । द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ निकाला तो गया वृहद रूप में, किन्तु द्विवेदीजी की कृतियों की चर्चा करते समय सम्पादक को उनके मौलिक ग्रन्थों के बजाय उनके अनुवाद ही याद अधिक आयी । अनुवादों में भी 'कुमार सम्भव सार', 'बेकन विचार रत्नावली' आदि के साथ द्विवेदी जी के मौलिक और श्रमसाध्य ग्रन्थ 'सम्पत्ति शास्त्र' को भी सम्मिलित कर लिया गया । 'सम्पत्तिशास्त्र' के सम्बन्ध में तो द्विवेदी जी ने स्वयं लिखा था "समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका । इसी से 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई पुस्तक न लिख सका ।"[2] उनकी ऐसी महत्वपूर्ण कृति को अनुवाद बता कर 'अभिनंदन ग्रन्थ' के सम्पादक ने कितना बड़ा अपराध किया । और

1- द्विवेदी स्मृति अंक , सरस्वती , 1939

2- आलोचना, अप्रैल-जून, 1977, पृ0 14.

द्विवेदी जी के मन को भी कितनी पीड़ा पहुँचायी । इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है । द्विवेदी जी के आलोचनात्मक लेखों के सम्बन्ध में 'अभिनंदन ग्रंथ' के सम्पादक ने यह तो स्वीकार किया कि वे लेख द्विवेदी जी की जागृति प्रतिभा के प्रतीक हैं और उन लेखों के द्वारा ही हिन्दी में आलोचना साहित्य की नींव पड़ी । किन्तु साथ ही यह प्रश्न उठ जाता है कि क्या यह स्थायी साहित्य है ? आलोचना को सर्जनात्मक साहित्य से नीचा स्थान वैसे भी मिलता है इसलिए द्विवेदो जी के आलोचनात्क लेखों को भी उचित महत्व नहीं दिया गया । बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति उनकी दार्शनिक तथा आध्यात्मिक रचनाओं की भी हुई । परिणाम यह हुआ कि स्थायी कला भवन में 'सरस्वती' के सभी अंक रखे गये साथ ही दूसरों की वह रचनायें रखी गई जिनमें द्विवेदी जी ने काट-छाँट की थी । 'सरस्वती' की सारी पाण्डुलिपियाँ भी कला भवन में रखी जानी चाहिए थी किन्तु उन्हें नागरी प्रचारिणी सभा में रखा गया ।

डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है कि " चाहे छायावादी हो चाहे प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, अस्तित्ववादी अथवा अन्य कोई वादी, सभी ने द्विवेदी जी के नवजागरण कार्य की उपेक्षा की है, उसे पहचानने का प्रयत्न ही नहीं किया । किसी में श्रद्धा अधिक है किसी में कम, महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम क्वीन विक्टोरिया की तरह एक युग से जुड़ गया । ...... द्विवेदी जी के साहित्यिक कार्यों की उपेक्षा एक तरह का अवसरवाद है । उनका स्रोत है समकालीन साहित्य सम्बन्धी क्रान्तिकारी कार्यों की

उपेक्षा । ••• तमाम श्रद्धा और सम्मान के बावजूद द्विवेदी जी की उपेक्षा की जाती रही है ।"[1]

राम विलास शर्मा जी ने उचित ही माँग की है कि इस उपेक्षा का अन्त होना चाहिए । द्विवेदी जी के समस्त कार्य - कलापों का अध्ययन हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में होना चाहिए । ऐसा अध्ययन हमारा साहित्यिक कर्त्तव्य ही नहीं, राजनीतिक कर्त्तव्य भी है ।•••• जितना ही उस युग की विविध प्रवृत्तियों को समझेंगे उतना ही सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम अपने युग को भी देख सकेंगे ।[2]

बाबूराव विष्णु पराड़कर

बाबूराव विष्णु पराड़कर का हिन्दी पत्रकारिता और विशेष रूप से साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में जो बहुमुखी योगदान है वह अविस्मरणीय है । भाषा के संस्कार तथा साहित्यिक विषयों के अधिकाधिक समावेश के लिए उन्होंने जिस अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया तथा स्वयं भी जिस प्रकार साहित्य सृजन किया वह प्रशंसनीय है । भाषा और साहित्य के निर्माण तथा अभ्युदय के निमित्त जो महत्वपूर्ण कार्य आचार्य द्विवेदी की 'सरस्वती' ने किया था वही काम राष्ट्र और समाज की मुक्ति तथा उन्नति के लिए पराड़कर जी के 'आज' ने किया । "पराड़कर जी हिन्दी पत्रकारों

1- डॉ0 रामविलास शर्मा - हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती आलोचना, अप्रैल-जून 1977, पृ0 15-16•

2- वही

में बहुत अच्छे चिन्तक, अनुभवी विचारक, संयमी लेखक, दूरदर्शी सम्पादक और वयोवृद्ध साहित्य महारथी हैं । 'आज' उनके पत्रकार जीवन का दर्पण है, इतिहास है ।"[1]

पराड़कर जी ने स्वयं स्वीकारा है कि "मैं सरस्वती देखा करता था, सम्पादन सीखने के लिए ।"[2] पराड़कर जी ने वस्तुत: द्विवेदी जी से ही सम्पादन कला सीखी और उनके 'आज' में प्रतिबिम्बित राष्ट्रीय प्रगति - शील विचारधारा का आदि स्रोत भी सरस्वती ही थी । अनन्तर केवल यह था कि इन विचारधाराओं को पराड़कर जी ने अपने पत्र 'आज' में ऐसा तीखापन प्रदान कर दिया था कि उनके पत्र को बार-बार विदेशी शासन के दमन चक्र की कटु आलोचना के कारण पराड़कर जी पर राजद्रोह का मुकदमा भी चला था । उनके संपादन काल में 'आज' ने राष्ट्रीय आंदोलन में जो योगदान किया वह अदभुत और चिर स्मरणीय है । जून सन् 1920 में 'आज' के नीति-निर्धारण के संबंध में विचार विमर्श करने के लिए पत्र के संस्थापक शिव प्रसाद गुप्त ने पराड़कर जी को लोक मान्य तिलक के पास पूना भेजा था । इस कारण 'आज' की सम्पादकीय नीति में राष्ट्रीयता तथा देश प्रेम की उत्कट भावना होना स्वाभाविक ही था । भागलपुर में पराड़कर जी एक बार नजरबंद भी किये गये थे । परन्तु क्रान्तिकारी विचारों के होते हुए भी पराड़कर जी अहिंसा के ही पक्षधर थे । एक

1- बाबू श्याम सुन्दर दास - हिन्दी के निर्माता, भाग - 2, पृ0 49.

2- सरस्वती, द्विवेदी स्मृति अंक

सम्पादकीय में उन्होंने लिखा था - " शस्त्र से लड़ना हो तो भारत में आज भी इतने योग्य आदमी हैं, जो शस्त्र मिले तो देश को स्वाधीन कर दें और उसकी रक्षा करते रहें । पर वह जनता की स्वतन्त्रता न होगी । वह या तो सैनिक साम्राज्य होगा या पूँजीपतियों का शासन होगा । यदि जनता को स्वराज्य योग्य बनाना है, यदि पूर्ण स्वराज्य का अर्थ जनता के हित के लिए 'जनता द्वारा जनता का राज्य' हो तो हम अहिंसा मार्ग का त्याग नहीं कर सकते । यही एक ऐसा उपाय है, जिससे सच्चा लोकतन्त्र स्थापित हो सकता है । अन्य उपायों से यह संभव नहीं है । यूरोप के किसी देश में अभी तक सच्चा लोकतन्त्र स्थापित नहीं हुआ है क्योंकि वहाँ शस्त्रों का राज्य है, शस्त्र तंत्र है ।"[1]

पराड़कर जी हिन्दी के साहित्य मर्मज्ञ निर्माता थे । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जैसी समीक्षा उन्होंने अपने सम्पादकीय में भारतेन्दु अर्द्ध शताब्दी के अवसर पर प्रस्तुत की थी वह साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग की समीक्षा का आधार बन गयी । इसी प्रकार 'हंस' के 'प्रेमचन्द्र स्मृति अंक' में उन्होंने प्रेमचन्द्र साहित्य का जो आकलन किया वह सम्पूर्ण कथा साहित्य की समीक्षा का मानदण्ड बन गया । आलोचक तथा निबन्धकार के रूप में वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समकक्ष प्रतीत होते हैं ।

साहित्य की भाषा कैसी हो इस संबंध में पराड़कर जी के स्पष्ट और निर्भीक विचार थे । सन् 1938 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के शिमला

1- डॉ० राममोहन पाठक - साहित्यिक पत्रकारिता, पृ० 86.

अधिवेशन में उन्होंने इस संबंध में एक ऐतिहासिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था - " इस सम्मेलन के विचार में हिन्दी के आधुनिक साहित्य के निर्माण के लिए ऐसी भाषा उपयुक्त है जिसका परम्परा-गत सम्बन्ध संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं से है, जिसकी शक्ति कबीर तुलसी, सूर, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, रसखान और हरिश्चन्द्र कृतियों से आयी है, जिसका मूलाधार देशी और तद्भव शब्दों का भण्डार है और जिसके पारिभाषिक शब्द प्राकृत अथवा संस्कृत के क्रम पर ढाले गये हैं, किन्तु जिनमें विदेशी रूढ़ सुलभ और प्रचलित शब्दों का भी स्थान है ।"[1]

प्रेमचन्द्र के कृतित्व के संबंध में पराड़कर जी ने जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है वह अकाट्य है । उन्होंने लिखा है - "..... हमारा साहित्य प्रेमचन्द का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अन्धकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदरपूर्ति कर रहा था । रसना विकृत हो रही थी । प्रेमचन्द्र ने उसे अपना घर दिखाया - जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया । हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी । वह अपने बच्चों के मुँह से निकलने लगी । हिन्दी हिन्द की हुई । यह प्रेमचन्द की हिन्दी की देन है । उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया । .... जीवन में जनवर्ग के प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगे हैं । प्रेमचन्द के पात्र जनवर्ग के प्रतिबिम्ब हैं,

---

1- डॉ० राम मोहन पाठक, साहित्यिक पत्रकारिता, पृ० 89.

प्रेमचन्द के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भागीरथ प्रयत्नों के द्योतक हैं । स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं । उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है पर उनका यह उज्जवल प्रतीक तब तक रहेगा जब तक हिन्दी रहेगी और उसके पढ़ने वाले रहेंगे ।"[1]

किसी भी रचना में रचनाकार अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं उपस्थित रहता है । कह सकते हैं कि रचना, रचनाकार के व्यक्तित्व की अनुकृति होती है । पाश्चात्य निबन्धकार बेकमन ने लिखा है'स्टाइल इस द मैन हिमसेल्फ' यह उक्ति पराड़कर जी के लेखन पर पूरी तरह लागू होती है । उनके लेखन में उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्पष्ट अभिव्यक्ति पाता है । छोटे - छोटे,वाक्य, बोधगम्य शब्दावली, उपमा, दृष्टान्त द्वारा मार्मिक अभि - व्यक्ति उनकी शैली की विशेषतायें हैं । जब वह आलोचना करने पर आते हैं तो उनकी भाषा अत्यधिक चुटीली हो जाती है । किसी- किसी स्थल पर उनकी भाषा में काव्यात्मकता का सुन्दर रूप भी दिखता है । नये शब्दों को स्वीकार करने में पराड़कर जी अति उदार थे । उनके द्वारा बनाये गये कई सौ शब्द आज भी हिन्दी में प्रचलित हैं ।'मिस्टर' के लिए 'श्री' , मेसर्स' के लिए'सर्वश्री' तथा'राष्ट्रपति' जैसे शब्द हिन्दी में पराड़ - कर जी की ही देन है । 'अर्थशास्त्र' का प्रचलित शब्द मुद्रास्फीत तथा लोकतंत्र, स्वराज्य, सुराज्य, वातावरण, वायुमण्डल, वाग्यंत्र, अन्तर्राष्ट्रीय आदि शब्दों के प्रचलन का श्रेय भी पराड़कर जी को ही है । उन्होंने नये शब्दों के संबंध में लिखा था - "शब्द मूलत: चाहे जिस भाषा के हों पर

1- बाबूराव विष्णु पराड़कर, प्रेमचन्द की कृति, हंस ,'प्रेमचन्द स्मृति अंक'

जब हम लें, उन्हें अपना-सा बनाकर लें। अर्थात उनकी ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलती-जुलती हो। मूलध्वनि की रक्षा का यत्न केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है। यह बात केवल अरबी, फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है। .... इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में दूसरी शर्त यह है कि ये हमारे व्याकरण के शासन में आ जायें। हम शब्द अन्य भाषाओं से ले सकते हैं पर उनके लिंग और वचन सम्बन्धी रूपान्तर हमें उस भाषा के व्याकरण के नियमानुसार नहीं बनाने चाहिए, जिससे वे आये हों। शब्दों के भाषान्तरित होने के साथ-साथ व्याकरणान्तरित भी होना चाहिए। अंग्रेजी में हिन्दी से अनेक शब्द गये हैं, जैसे जंगल, पण्डित आदि। इनके बहु-वचन अंग्रेजी भाषा के नियमों के अनुसार जंगल्स, पण्डित्स होते हैं, हिन्दी - संस्कृत के नियम नहीं लागू होते। हिन्दी में भी हम संस्कृत से शब्द लेते हैं पर उनके रूपान्तर अपने ढंग से बना लेते हैं। 'पुस्तक हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'पुस्तकें' होता है, पुस्तकानि नहीं।"[1] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की ही भांति पराड़कर जी भी साहित्य-सृजन की प्रेरणा देने में अग्रणी थे। उन्होंने साहित्य का ही नहीं, साहित्यकारों का भी निर्माण किया। कथाकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' को प्रेरणा देने वाले पराड़कर जी ही थे। स्वयं उग्र जी ने स्वीकार किया है - "श्रद्धेय पराड़कर जी ने मुझे संभाला, सुधारा, रास्ते से लगा दिया। और कितनी दिक्कतें उठाकर बरसों - नित्य -

---

1- पराड़कर जी , अध्यक्षीय भाषण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन-शिमला अधिवेशन, 1938.

अमूल्य समय लगाकर, अग्रलेख और टिप्पणियाँ लिखना रोक कर वे मेरी कहानियाँ, कविताएँ, चुटकुले, एकांकी आदि शुरू करते, बढ़ावा देते, साथ ही ज्ञान मण्डल से दक्षिणाएँ दिलाते थे।"[1]

आचार्य शिवपूजन सहाय भी अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक दौर में पराड़कर जी से ही प्रोत्साहित हुए थे। पराड़कर जी के अग्रलेखों टिप्पणियों तथा उनकी लेखन शैली से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी प्रभावित थे। आचार्य द्विवेदी ने लिखा है - "उन्होंने अत्याचार का विरोध किया। अन्याय और दमन का डटकर सामना किया, जो उचित जान पड़ा उसका संयत भाषा में सुविचारित युक्तियों द्वारा प्रेरणादायक शैली में समर्थन किया। .... उन दिनों आज के सम्पादकीय लेख मुझे बहुत प्रेरणा देते थे, मेरे जैसे सैकड़ों युवक होंगे जो उनसे प्रेरणा पा रहे थे।"[2]

कथाकार जैनेन्द्र कुमार तथा आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी भी पराड़कर जी से अत्यधिक प्रभावित थे। पराड़कर जी ने साहित्य-सृजन भी किया था। उन्होंने श्रीमत्भागवत गीता का इतना प्रभावपूर्ण भाषानुवाद किया था जिसमें गीता के गूढ़ अर्थों को सरल तथा बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया गया है। पराड़कर जी की एक अन्य प्रसिद्ध पुस्तक 'देश की बात' है जो सखाराम गणेश देउस्कर की बंगला रचना 'देशेरकथा' का हिन्दी अनुवाद है। पराड़कर जी ने इसमें मौलिक कृति जैसा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। इस पुस्तक को ब्रिटिश शासन ने जब्त भी कर लिया था।

1- आज, पराड़कर स्मृति अंक, पृ0 5.

2- वही, डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 9

पराड़करजी का पत्रकार-साहित्यकार जीवन सन् 1906 से 1955 के एक दीर्घ काल खण्ड में फैला हुआ है, जिसमें 'हिन्दी बंगवासी' का संयुक्त संपादन, 'हितवार्ता' का संपादन, 'भारतमित्र' में अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के साथ संयुक्त संपादन और 'संसार' 'कमला' तथा 'रणभेरी' का संपादन भी सम्मिलित है। किन्तु द्विवेदी युग के अंतिम चरण में 1920 से उन्होंने 'आज' के आरम्भ से ही जब उसके वरिष्ठ संपादक का भार ग्रहण किया तभी से उनके संपादन कौशल तथा साहित्यिक पत्रकारिता में निखार आया और उन्होंने नये कीर्तिमान स्थापित किये। पराड़कर जी भविष्य दृष्टा भी थे। पत्रकारिता के संबंध में उन्होंने जो भविष्यवाणी की थी उसे आज हम स्पष्टरूप से प्रतिफलित होते देख रहे हैं।. उन्होंने कहा था - " हम सब सम्पादक पत्रों की उन्नति चाहते हैं। पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस उन्नति के साथ-साथ हमारी स्वातंत्र्य हानि अवश्यम्भावी है। उन्नति व्यापारी ढंग से ही हो सकती है। इसके लिए पूंजीपति और संचालन व्यवस्था की आवश्यकता है - एडिटर की अपेक्षा मैनेजिंग एडिटर का प्रभाव और गौरव अधिकाधिक दृढ़ हो गया है। भावी हिन्दी समाचार पत्रों में भी ऐसा होगा - पत्र सर्वांग सुन्दर होंगे। आकार बड़े होंगे। छपाई अच्छी होगी, मनोहारिणी शक्ति भी होगी, कल्पना होगी और गम्भीर गवेषणा की झलक होगी। ग्राहकों की संख्या लाखों में गिनी जाएगी।"[1]

1- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वृन्दावन अधिवेशन, सन् 1925 में सम्पादक सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण।

गणेश शंकर विद्यार्थी
=============

शहीद संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपना साहित्यिक तथा पत्रकार जीवन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'सरस्वती' के सहायक संपादक के रूप में किया । विद्यार्थी जी आचार्य द्विवेदी को ही अपना गुरू मानते थे ।

इलाहाबाद के अतरसुइया मोहल्ले में 25 अक्टूबर, 1890 को जन्मे विद्यार्थी जी अधिक शिक्षा, परिवार की आर्थिक कठिनाइयों के कारण नहीं प्राप्त कर सके । सन् 1907 में मैट्रिक पास करने के बाद, वे कायस्थ पाठशाला में भर्ती हुए किन्तु आर्थिक समस्याओं के कारण सात-आठ महीने बाद ही उन्हें पढ़ाई छोड़कर कानपुर जाना पड़ा । वहाँ वे पहले करेन्सी आफिस में कार्यरत हुए बाद में पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में अध्यापक हो गये । यहीं पत्रकार पं० सुन्दरलाल से उनका सम्पर्क हुआ जो इलाहाबाद से साप्ताहिक पत्र 'कर्मयोगी' प्रकाशित किया करते थे । उन्होंने 'कर्मयोगी' में लिखना शुरू किया बाद में उनके लेख 'सरस्वती' में भी प्रकाशित होने लगे । उन दिनों आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कानपुर में ही रह कर 'सरस्वती' का सम्पादन कर रहे थे । महाशय काशीनाथ के आग्रह पर विद्यार्थी जी को उन्होंने सन् 1910 में 25 रूपया मासिक वेतन पर 'सरस्वती' में अपना सहायक नियुक्त कर लिया । बाद में द्विवेदी जी के ही आशीर्वाद से वे 'अभ्युदय' साप्ताहिक पत्र के संपादक हो गये । विद्यार्थी जी के विचार घोर राष्ट्रवादी तथा राजनैतिक थे । 'सरस्वती' मूलतः साहित्यिक पत्रिका थी । 'अभ्युदय'

राजनैतिक पत्र था । अतः विद्यार्थी जी को 'अभ्युदय' अधिक मनोनुकूल लगा । कुछ समय बाद ही जब वे बीमार पड़े तो कानपुर लौट गये । ठीक हुए तो 9 नवम्बर सन् 1913 को उन्होंने कानपुर से ही साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन पं० शिवनाथ मिश्र के सहयोग से आरम्भ किया । 'प्रताप' के जन्म पर द्विवेदी जी ने आर्शीवाद स्वरूप दो पंक्तियाँ लिख भेजी । -

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं है, पशु निरा है, और मृतक समान है ।"

द्विवेदी जी की यह आर्शीवाद पंक्तियाँ ही साप्ताहिक 'प्रताप' की मुख वाणी बनी और पत्र के शीर्षक के साथ प्रकाशित होने लगीं । राय - बरेली के किसान संघर्ष, कानपुर के मिल मजदूरों के समर्थन, चम्पारन सत्याग्रह की क्रान्तिकारी घटनाओं के खुले समर्थन के कारण 'प्रताप' की लोकप्रियता तेजी से बढ़ने लगी । सन् 1915 में लखनऊ कांग्रेस के समय उन्हें गांधी जी का भी आर्शीवाद प्राप्त हुआ । सन् 1917-18 में उन्होंने होमरूल आन्दोलन का खुल कर समर्थन किया । उन्हें अपने सहयोगी के रूप में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा, नवीन, श्रीकृष्ण दत्त पालीवाल, श्रीराम शर्मा, देवव्रत शास्त्री सुरेश चन्द्र भट्टाचार्य तथा युगल किशोर सिंह शास्त्री जैसे सहयोगी पत्रकार भी मिल गये । माखन लाल चतुर्वेदी के सहयोग से विद्यार्थी जी ने 'प्रभा' जैसी राजनीतिक पत्रिका भी प्रकाशित की, तथा नवीन जी के सहयोग से 'प्रताप' को नया रूप भी दिया । 'प्रताप' का कार्य क्षेत्र इतना बढ़ा कि सन् 1920 में उसे साप्ताहिक से दैनिक पत्र करना पड़ा । सन् 1929 में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन के गोरखपुर अधिवेशन में अध्यक्ष पद से

उन्होंने कहा था - " हिन्दी राष्ट्रभाषा बने, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दू हिन्दू होने के नाते हिन्दी सीखें। मेरे लिए तो हिन्दी एक संस्कृति की प्रतीक है और केवल हिन्दी के द्वारा ही बिखरे हुए भारत में एकत्व की भावना भरी जा सकती है, और सब को एक सूत्र में आबद्ध करने का हिन्दी एकमेव साधन है।"[1]

पत्रकारिता को विद्यार्थी जी ने राष्ट्रसेवा का साधन माना था। उन्होंने 'प्रताप' के माध्यम से देश की जो सेवा की तथा साम्प्रदायिक सौहार्द के लिए अपने प्राणों तक का जिस तरह बलिदान कर दिया वह सदैव श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा। देश सेवा की भावना के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। जेल में ही उन्होंने एलेक्जेंडर ड्यूमा के उपन्यास 'लामिजरेबल' का अनुवाद किया था। किन्तु साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि उनके परिवार की उदासीनता के कारण वह अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। उनके परिवार के लोगों से केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रयास के फलस्वरूप आठ हजार रुपये देकर वह पाण्डुलिपि प्रकाशनार्थ देने का भी अनुरोध किया, किन्तु विद्यार्थी जी के परिवार वालों ने इस अनुरोध पर भी ध्यान नहीं दिया। इस कृति के प्रकाशित न हो पाने के कारण विद्यार्थी जी की साहित्यिक प्रतिभा का मूल्यांकन करने का अवसर हिन्दी साहित्य जगत को नहीं प्राप्त हो सका। विद्यार्थी जी ने विक्टर ह्यूगो की उपन्यासिका 'नाइन टोथी' का अनुवाद किया था।

1- हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गोरखपुर अधिवेशन, सन् 1929 अध्यक्षीय भाषण

19 मार्च 1931 को जब अन्तिम बार विद्यार्थी जी जेल से रिहा हुए उस समय देश के अनेक संवेदनशील क्षेत्रों में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे। कानपुर में वे फिर से साम्प्रदायिक सौहार्द बनाने के काम में जुट गये। स्वयं सेवकों के साथ वे हिन्दू बाहुल क्षेत्रों से मुसलमानों को सुरक्षित ले जाते और मुस्लिम क्षेत्रों से हिन्दुओं को सुरक्षित बाहर निकालते। उनका यह शान्तिप्रयास कतिपय कट्टर धर्मान्धों को तनिक भी अच्छा नहीं लग रहा था। ऐसे ही एक धर्मान्ध के हाथों 25 मार्च 1931 को विद्यार्थी जी शहीद हो गये। सारा देश उनकी शहादत से स्तब्ध रह गया। विद्यार्थी जी साम्प्रदायिक सौहार्द जैसे उच्च आदर्श के लिए शहीद हुए थे। इसी कारण उनकी शहादत पर गांधी जी ने कहा था - "गणेश शंकर विद्यार्थी को ऐसी मृत्यु मिली है जिस पर हम सब को स्पर्धा है।"[1] राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू ने कहा था - "गणेश जी जैसे जिये, वैसे ही मरे। अगर हममें से कोई आरजू करे और अपने मन की सबसे प्यारी इच्छा पूरी करना चाहे तो इससे अधिक क्या माँग सकता है कि उसमें इतनी हिम्मत हो कि मौत का सामना अपने भाइयों की और देश की सेवा में कर सके, और इतना खुशकिस्मत हो कि गणेश जी की तरह मरे। शान से वे जिये और शान से वे मरे, और मर कर भी उन्होंने जो सबक सिखाया हम बरसों जिन्दा रह कर भी क्या सिखा पायेंगे।"[2] स्वयं गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने हत्यारों के समक्ष जो अन्तिम

1- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 175
2- वही

शब्द कहे थे वे कम प्रेरक नहीं हैं - " यदि मेरे खून से ही सींचे जाने से हिन्दू-मुस्लिम एका का पौधा बढ़ सके और तुम्हारी खून की प्यास बुझ सके तो मेरा खून कर डालो ।"[1]

विद्यार्थी जी के सहयोगी पं0 बालकृष्ण शर्मा नवीन का कथन है कि -" नव युवकों को परखना उन्हें आश्रय देना, उन्हें अनुप्राणित करना और उनके जीवन को बनाना गणेश शंकर जी की विशेष बात थी ।"[2] प्रताप कार्यालय में ही अमर शहीद भगत सिंह को क्रान्तिकारी राष्ट्रीयता की प्रेरणा मिली थी । ऐसे ही जाने कितने युवकों को विद्यार्थी जी से प्रेरणा मिलती रहती थी ।

माखनलाल चतुर्वेदी ने 'प्रताप' के संबंध में भावुक शब्दों में कहा था - "प्रताप एक दिन उनकी (विद्यार्थी जी की) शक्ति था, दूसरे दिन हिन्दी जगत की श्रद्धा और वह उनकी शुभ स्मृति है ।"[3]

स्वयं विद्यार्थी जी के शब्दों में प्रताप का उद्देश्य स्पष्ट था कि " ... हम अपनी प्राचीन सभ्यता और जातीय गौरव की प्रशंसा करने में किसी से पीछे न रहेंगे । और अपने पूजनीय पुरुषों के साहित्य, दर्शन और धर्म भाव का यश सदैव गावेंगे । किन्तु अपनी जातीय निर्बलताओं और सामाजिक कुसंस्कारों और दोषों को प्रकट करने में हम कभी बनावटी जोश

1- डॉ0 लक्ष्मी शंकर व्यास - हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता, पृ0 84-85

2- वही, पृ0 83

3- वही, पृ0 85

या मसलहत से काम न लेंगे, क्योंकि हमारा विश्वास है कि मिथ्या अभिमान जातियों के सर्वनाश का कारण होता है । किसी की प्रशंसा या अप्रशंसा, किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, किसी की घुड़की या धमकी हमें अपने सुमार्ग से विचलित न कर सकेगी । सत्य और न्याय हमारे भीतरी पथ - प्रदर्शक होंगे .... ।"[1] और इन उदात्त नीतियों का अक्षरश: पालन विद्यार्थी जी ने अपने बलिदान के अन्तिम क्षणों तक किया ।

अम्बिका प्रसाद बाजपेयी

सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद बाजपेयी का जीवन हिन्दी पत्र कारिता के प्रति तो समर्पित था ही, हिन्दी भाषा तथा साहित्य की उन्नति में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान था । बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी भाषा तथा साहित्य की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये उन्होंने त्याग और तपस्या की भावना से कार्य किया था । उन्होंने हिन्दी के प्रथम आधुनिक दैनिक पत्र 'भारत मित्र' का संपादन किया तथा 'हिन्दी बंगवासी', 'स्वतंत्र' तथा मासिक पत्रिका 'नृसिंह' का भी संपादन किया जिसमें विविध विषयों के अतिरिक्त राजनैतिक लेखों की प्रधानता रहती थी । 'भारत मित्र' के संपादक के रूप में उन्होंने दैनिक पत्र की पत्र - कारिता को एक नई दिशा दी या यों कहें कि दैनिक पत्रकारिता की नींव डाली । 'भारत मित्र' का संपादन उनके पत्रकार जीवन का स्वर्णकाल था ।

1- डॉ0 लक्ष्मी शंकर व्यास - हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता, पृ0 88

जनवरी सन् 1911 में उन्होंने 'भारत मित्र' का संपादकत्व ग्रहण किया था। और सन् 1919 में पं0 लक्ष्मण नारायण गर्दे को 'भारत मित्र' का सम्पादन भार सौंप कर बाजपेयी जी अलग हुए थे। 4 अगस्त 1920 को दैनिक 'स्वतंत्र' के संपादन का कार्य उन्होंने शुरू किया। वे पत्रकार के रूप में तिलक युगीन राष्ट्रीय चेतना तथा गांधी युगीन स्वतन्त्रता आंदोलन के कट्टर समर्थक थे।

हिन्दी भाषा के गौरव के प्रति वाजपेयी जी इतने सजग थे कि उन्होंने हिन्दी के लिए सर्वप्रथम राष्ट्र भाषा शब्द का प्रयोग किया और उसे राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। उस समय आधुनिक हिन्दी पत्रकारिता की जो वृहत्त्रयी बन गयी थी उसमें पं0 अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के अतिरिक्त बाबूराव विष्णु पराड़कर तथा लक्ष्मण नारायण गर्दे जैसे पत्रकार सम्मिलित थे।

वाजपेयी जी ने समाचार पत्रों का इतिहास तथा समाचार पत्र कला जैसे ग्रन्थ लिख कर पत्रकारिता के इतिहास लेखन की ऐसी नींव डाली जिसकी सहायता के बिना पत्रकारिता का इतिहास लिखना असम्भव है। अपनी दूसरी पुस्तक में उन्होंने पत्रकारिता को कला के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सन् 1919 में व्याकरण ग्रन्थ का भी प्रणयन किया। उनके अन्य ग्रन्थ 'हिन्दी पर फारसी का प्रभाव', 'अभिनव हिन्दी व्याकरण', 'शिक्षा', 'हिन्दुओं की राज-कल्पना' तथा 'भारतीय शासन पद्धति' भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे भारती पत्रकारिता ही नहीं हिन्दी साहित्य के भी गौरव माने जाते हैं। उनकी साहित्य सेवाओं के लिए कलकत्ता के साहित्य प्रेमियों

ने सन् 1945 में ग्यारह हजार एक सौ एक रुपये की थैली भेंट करके उनका सम्मान किया था । हिन्दी साहित्य सम्मेलन के काशी अधिवेशन के वे सन् 1939 में अध्यक्ष मनोनीत हुए थे । हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने ही उनकी महत्वपूर्ण साहित्यिक सेवाओं की प्रतिष्ठा में उन्हें 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से विभूषित किया था । क्षेमचन्द्र सुमन ने तो वाजपेयी जी को हिन्दी पत्रकारिता का 'भीष्म पितामहा' तक कहा है ।

लक्ष्मण नारायण गर्दे

द्विवेदी युगीन पत्रकारिता मुख्य रूप से देश सेवा का माध्यम थी । चूंकि तत्कालीन अधिकांश पत्रकार रचनाकार भी थे अत: उस समय सृजित साहित्य में भी राष्ट्रीयता तथा देश भक्ति की अन्तर भावनायें प्रवाहित हो रही थीं । गर्दे जी ऐसे ही पत्रकारी लेखन तथा साहित्य सृजन के सशक्त हस्ताक्षर थे । गर्दे जी ने अपने पत्रकारी लेखन के द्वारा स्वाधीनता के पक्ष में विचारों की क्रांति उत्पन्न करने का स्तुत्य प्रयास किया था ।

गर्दे जी का पत्रकारी जीवन बम्बई के 'वेंकटेश्वर' समाचार से आरम्भ हुआ था । किन्तु उनकी यह प्रारम्भिक पत्रकारिता केवल सात दिन की थी । गर्दे जी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की उग्र राजनीति से प्रभावित होकर उनके मराठी पत्र 'केसरी' में काम करने गये थे । किन्तु तिलक के अचानक माण्डले के जेल में बंद हो जाने के कारण गर्दे जी को लोकमान्य के साथ ही

1- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 111.

माधव राजा राम बोडस के आग्रह पर 'वेंकटेश्वर' समाचार में काम करना पड़ा चूंकि गर्दे जी तिलक के ही साथ कार्य करने के इच्छुक थे अत:उनका मन 'वेंकटेश्वर' समाचारा में नहीं रम सका । वे सात ही दिन बाद काशी लौट पड़े । बम्बई से लौटने पर अपने ससुर सखाराम गणेश देउसकर तथा पराड़कर जी की प्रेरणा से कलकत्ता से प्रकाशित 'बंगवासी' में सहकारी सम्पादक हो गये । 'बंगवासी' के सम्पादक उस समय हरि कृष्ण जौहर थे । कुछ ही दिन बाद वे 'भारत मित्र' में कार्य करने लगे वहीं उन्होंने 'महाराष्ट्र रहस्य' शीर्षक लेखमाला लिखी जिसमें शिवाजी के शासन की दार्शनिक मीमांसा की गई थी और मराठा साम्राज्य के अभ्युदय की कथा लिखी गयी थी । यह लेख माला इतनी लोकप्रिय हुई कि वह ग्रन्थ के रूप में भी प्रकाशित हुई । कलकत्ता में ही 'भारत मित्र' से हटकर वे विशुद्धानंद विद्यालय में शिक्षक हो गये । उसी समय उनकी भेंट एक कनफटे साधु से हुई । वे आध्यात्म की ओर इतने आकृष्ट हुए कि अट्ठारह दिनों में गीता के अट्ठारह अध्यायों का पारायण कर डाला और गीता के अध्यात्म दर्शन के आधार पर 'सरल गीता' लिख डाली । यह पुस्तक इतनी प्रभावशाली थी कि भारत भक्त सी0 एफ0 एण्ड्रूज ने भारतीय संस्कृति का प्रवासी भारतियों में प्रचार करने के लिए उसकी बहुत सारी कृतियां दक्षिण अफ्रीका भेजी थी । गर्दे जी ने शेक्सपियर के हेमलेट तथा टालस्टॉय के कुछ लेखों का अनुवाद भी किया । गणपति कृष्ण गुर्जर के सहयोग से उन्होंने काशी से मासिक पत्र 'नवनीत' का प्रकाशन भी किया किन्तु यह पत्र आर्थिक संकटों के कारण दो ही वर्ष चल कर बंद हो गया । प्रकाशन संस्था ज्ञान मण्डल की स्थापना में भी उनका सक्रिय सहयोग था ।

साप्ताहिक 'श्रीकृष्ण संदेश' तथा 'विजय' का भी उन्होंने संपादन किया। 'नवजीवन' दैनिक का जब लखनऊ से प्रकाशन आरम्भ किया तो गर्दे जी को ही उसके संपादन का भार सौंपा गया। गर्दे जी ने महात्मा अरविन्द से प्रभावित होकर उनकी अंग्रेजी पुस्तक 'द मदर' का अनुवाद किया। अरविन्द के ही 'योग प्रदीप' तथा 'गीता प्रबन्ध' का भी उन्होंने इतना प्रभावपूर्ण अनुवाद किया कि वे अरविन्द दर्शन के अधिकारी विद्वान माने जाने लगे। उनके ज्ञानेश्वर, एकनाथ तथा तुकाराम की अनूदित चरित्र भी गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित हुई। उन्होंने 'श्रीकृष्ण चरित्र' 'एशिया का जागरण', 'गांधी सिद्धान्त', 'आरोग्य और उसके साधन', श्री अरविन्द योग' तथा 'जेल में चार मास' जैसी पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने 'नकली प्रोफेसर' और 'मिया की करतूत' शीर्षक दो उपन्यास भी लिखे जो काफी लोकप्रिय हुए।

गर्दे जी ने राष्ट्रीय चेतना का संदेश फैलाने के साथ ही हिन्दी को सरस, सहज लेखन शैली भी दी तथा साहित्य के विविध रूपों में साहित्य सृजन भी किया। उन्होंने 'मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट' का हिन्दी में अनुवाद आज के आदि संपादक तथा राज्यपाल श्री प्रकाश जी के साथ किया था। स्वयं गर्दे जी के अनुसार 'सरल गीता' तथा 'कृष्ण चरित्र' उनकी अत्यन्त प्रिय रचनायें थीं। हिन्दी पत्रों में इन्टरव्यू अर्थात भेंटवार्ता की आधुनिक शैली का प्रवर्त्तन गर्दे जी ने ही किया था। जिन दैनिक पत्रों के लिए उन्होंने कार्य किया उनमें 'वेंकटेश्वर समाचार', 'हिन्दी बंगवासी', 'भारतमित्र', 'संसार', 'सन्मार्ग' तथा नवजीवन महत्वपूर्ण हैं। किन्तु इन सब में भी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'भारत मित्र' है। महात्मा गांधी की गुजराती पुस्तक

'हिन्दी स्वराज्य' को गर्दे जी ने 'गांधी सिद्धान्त' शीर्षक से अनूदित करके जन-जन के बीच गांधी जी के सिद्धान्तों को प्रसारित करने में उल्लेखनीय सहयोग दिया ।

16 अगस्त 1948 को दिल्ली से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा 'भारतवर्ष' हिन्दी दैनिक के प्रकाशन का प्रयास किया गया । गर्दे जी को उसके संपादन का कार्य दिया गया । प्रथम अग्रलेख में ही उन्होंने लिखा - "जिन तत्वों के कारण महात्मा गांधी जी की हत्या हुई है, मैं उनको चेतावनी देना चाहता हूं कि वे हिंसक कार्य से पृथक रहें ।"[1] गर्दे जी से यह वाक्य बदलने को कहा गया किन्तु उन्होंने यह मांग यह कर कर अस्वीकार कर दी कि - " अब हमारी सीखने की उम्र नहीं रही । हमें वापस काशी भेज दो ।"[2]

गर्दे जी बिहार पत्रकार सम्मेलन तथा काशी पत्रकार संघ के अध्यक्ष पद पर भी रहे और राष्ट्रकवि परिषद काशी के प्रधान भी रहे । उनका अंतिम पत्रकारी जीवन स्वतंत्र लेखन को आधार बना कर ही व्यतीत हुआ । उन्होंने त्याग तथा सेवा की भावना से साहित्य साधना की तथा सैद्धान्तिक पत्रकारी के माध्यम से पत्रकारिता पर अपनी ऐसी छाप छोड़ी कि आचार्य द्विवेदी जैसे सम्पादक साहित्यकार को भी अपना प्रशंसक बना लिया ।

1- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 156.

2- वही

<u>पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी</u>

बख्शी जी द्विवेदी युगीन साहित्यिक पत्रकारिता की उत्कृष्ट परम्परा के संवाहक थे तथा आचार्य द्विवेदी के उत्तराधिकारी । उन्होंने जब 'सरस्वती' का संपादन सम्हाला तो उनकी कम आयु के कारण उन्हें साहित्य के महारथियों के असहयोग का सामना करना पड़ा । किन्तु उनकी अद्‌भुत प्रतिभा ने सारे विरोधों को शान्त कर दिया । उन्होंने 'सरस्वती' के पूर्व निर्धारित स्वरूप की निपुणता से रक्षा की । यही नहीं 'हिन्दी साहित्य समीक्षा' में नये मानदण्ड स्थापित किये । आचार्य द्विवेदी के संपादकत्व में समीक्षा का जो स्वरूप निर्धारण हुआ था उसे बख्शी जी ने और विकसित करके नया कीर्तिमान स्थापित किया । साहित्य समीक्षा के सिद्धान्तों का उन्होंने पुर्निर्धारण किया । 'विश्व साहित्य' तथा 'हिन्दी साहित्य विमर्श' ग्रन्थों में उनके यह कीर्तिमान प्रतिष्ठित हैं । उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि द्विवेदी युग के अवसान काल में हिन्दी काव्य में जो नई भाव धारा प्रवाहित हुई थी उसे छायावाद का अविधान देकर उन्होंने मुकुटधर पाण्डेय को छायावाद का प्रवर्त्तक कवि प्रतिष्ठित किया । इसके बाद तो काव्य में छायावाद की ऐसी धारा प्रवाहित हुई कि वह युग ही छायावादी युग के नाम से प्रतिष्ठित हुआ । बख्शी जी ने मुकुटधर पाण्डेय की 'कुरवि के प्रति' शीर्षक रचना को हिन्दी की प्रथम छायावादी रचना घोषित किया । सन् 1921 से सन् 1925 तक के अपने संपादन काल में उन्होंने 'सरस्वती' में अनेक छायावदी रचनाओं को प्रकाशित करके काव्य की

इस नई भावधारा को प्रोत्साहित और प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया ।

साहित्य के प्रति बख्शी जी के समर्पित हो जाने का श्रेय बाबू देवकी नंदन खत्री की 'चन्द्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' को है । 'चन्द्रकांता संतति' के मायाजाल में वे ऐसे आबद्ध हुए कि मैट्रिक की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गये । बाद में उन्होंने मैट्रिक किया और बी0 ए0 परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए । उनकी पहली कहानी 'भाग्य' जबलपुर से प्रकाशित 'हितकारिणी' पत्रिका में प्रकाशित हो जाने पर साहित्य सेवा के प्रति उनका अनुराग और भी तीव्र हो उठा । और हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'सरस्वती' में जब उनका 'सोना निकालने वाली चीटिंया' लेख प्रकाशित हुआ तब तो वे साहित्य के प्रति पूरी तरह समर्पित हो गये । सन् 1920 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में उन्हें सहकारी सम्पादक बना लिया और सन् 1921 में वे 'सरस्वती' के सम्पादक के पद पर प्रतिष्ठित हो गये । बख्शी जी ने संपादन के साथ-साथ साहित्य सृजन भी किया । उनकी कविताओं का प्रथम संकलन 'शतदल' के नाम से प्रकाशित हुआ । कविता के अतिरिक्त उन्होंने कहानी तथा समीक्षा की विधाओं में भी अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ी । बख्शी जी के सहकारी सम्पादक पं0 देवीदत्त शुक्ल के अनुसार - "सन् 1921 की जनवरी का अंक विशेषांक था और मासिक पत्रों में कदाचित वही पहले पहल विशेषांक निकला था । उसकी योजना बख्शी जी ने बनायी थी और बंगला के मासिक पत्रों के अनुकरण पर उसमें नये स्तम्भ लिये गये थे ।"[1]

1- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 233.

सन् 1925 में 'सरस्वती' से त्यागपत्र देकर बख्शी जी मध्य प्रदेश लौट गये और बस्तर क्षेत्र के कांकेर नामक स्थान में शिक्षक हो गये। सन् 1927 में वे पुनः 'सरस्वती' का संपादन करने लौटे तथा सन् 1929 में फिर से त्याग पत्र दे दिया। पं0 देवीदत्त शुक्ल ने लिखा है - " उस समय 'माधुरी' और 'चाँद' दोनों ही पत्रिकायें बड़ी धूम-धाम से निकलती थीं। परन्तु 'सरस्वती' अपनी अलग विशेषता रखती थी। उसका सारा श्रेय उसके विद्वान संपादक श्री बख्शी जी को था।"[1]

सन् 1952 से 1956 तक 'खैरागढ़' मध्यप्रदेश से ही बख्शी जी 'सरस्वती' का संपादन करते रहे। बख्शी जी ने बड़े समर्पण भाव से साहित्य सृजन भी किया। उनकी 'शतदल', 'अंजलि' तथा 'क्र', 'झलमला' और 'कुछ पंच पात्र', 'पदम वन', 'प्रदीप', 'अंतिम अध्याय', 'प्रबन्ध परिजात', 'मकरंद बिन्दु', 'यात्री', 'मेरे प्रिय निबन्ध', 'देश की सैर', 'संसार की सैर', 'मेरी अपनी कथा', 'विश्व साहित्य', 'समस्या और समाधान', 'साहित्य चर्चा', 'बिखरे पन्ने', 'हिन्दी कथा साहित्य', 'तुम्हारे लिए', 'तीर्थ केन्द्र', 'जिन्हें नहीं भूलूंगा' तथा 'नव कथा परिचय' रचनायें हिन्दी साहित्य की निधि हैं। उन्होंने 'साहित्य शिक्षा' तथा 'मंजरी' शीर्षक ग्रन्थों का सम्पादन भी किया था। जिनमें नर्मदा प्रसाद खरे तथा क्षेमचन्द्र जोशी उनके सहयोगी थे।

सन् 1949 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बख्शी जी की साहित्य सेवाओं के लिए 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित किया था।

1- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 233.

सागर विश्वविद्यालय ने 1960 में उन्हें डी0 लिट् की मानक उपाधि से विभूषित किया। मध्य प्रदेश शासन ने उनके प्रति सम्मान की दृष्टि से उन्हें 300 रुपये प्रति माह की आजीवन आर्थिक सहायता भी प्रदान की थी।

शिव पूजन सहाय

आचार्य शिवपूजन सहाय की गणना उन सम्पादक साहित्यकारों में की जाती है जिन्होंने हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता को नई दिशा देने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। शिवपूजन सहाय की साहित्य साधना को देखकर आश्चर्य होता है कि एक अकेला रचनाकार कितनी भिन्न-भिन्न शैलियों तथा रूप-विधानों में कितना बहुविध साहित्य-सृजन कर सकता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य को बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने 'शिव पूजन रचनावली' के नाम से चार भागों में प्रकाशित भी किया है। उनका साहित्यिक जीवन कर्ममय था। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया और बहुतेरी पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी। भाषा-परिष्कार, वर्तनी तथा शैली के उन्होंने नये मानदण्ड स्थापित किये। सन् 1912 से ही 'शिक्षा', 'लक्ष्मी', 'मनोरंजन' और 'पाटलिपुत्र' आदि बिहार के अनेक पत्रों में सहाय जी की रचनायें प्रकाशित होने लगीं थीं। सन् 1920 में महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन के समय सहाय जी ने सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और राष्ट्रीय स्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे। उनका पत्रकार जीवन सन् 1921 में आरम्भ हुआ जब उन्होंने आरा से प्रकाशित मारवाड़ी सुधार पत्र का सम्पादन किया। सन् 1923 में वे मतवाला मण्डल में महादेव

प्रसाद सेठ, नवजादिक लाल श्रीवास्तव, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के साथ सम्मलित हो गये। उनकी सम्पादन प्रतिभा का विकास 'मतवाला' के सम्पादन काल में ही हुआ। मतवाला के सम्पादन के सिलसिले में कलकत्ता प्रवास के दौरान सहाय जी ने 'मौजी', 'आदर्श', 'गोलमाल', 'उपन्यास तरंग' तथा 'समन्वय' जैसे कई पत्रों के सम्पादन में सक्रिय योगदान किया। सन् 1925 में उन्होंने लखनऊ आकर 'माधुरी' के सम्पादन में हिस्सा लिया, किन्तु 1926 में ही वे 'मतवाला' के सम्पादन के लिए कलकत्ता वापस पहुँच गये। 'माधुरी' में प्रेमचन्द जी भी उनके साथ थे और उनके उपन्यास 'रंगभूमि' का प्रकाशन उन्हीं दिनों हुआ था। भागलपुर में सुल्तानगंज से प्रकाशित 'गंगा' जैसी 'साहित्यिक' पत्रिका का उन्होंने सम्पादन भी किया। बाद में वे पुस्तक भण्डार से प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के सम्पादन हेतु दरभंगा में लोहरिया सराय चले गये। उन्होंने काशी से एक पाक्षिक पत्र 'जागरण' का सम्पादन प्रकाशन भी किया, जिसमें उन्हें प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद तथा विनोद शंकर व्यास जैसे रचनाकारों का पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। लहरिया सराय के पुस्तक भण्डार से एक बच्चों का मासिक पत्र 'बालक' निकलता था जिसका सहाय जी ने कई वर्षों तक सम्पादन किया। सन् 1946 में पुस्तक भण्डार पटना से एक साहित्यिक मासिक पत्र 'हिमालय' का प्रकाशन हुआ जिसके सम्पादक शिवपूजन सहाय ही थे। इस पत्र में सहाय जी जो साहित्यिक टिप्पणियाँ लिखा करते थे, उनकी अच्छी खासी चर्चा हुआ करती थी। सन् 1950 में बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जब शोध प्रधान पत्र साहित्य का प्रकाशन आरम्भ किया तब शिवपूजन सहाय

को ही उसके संपादन का कार्य सौंपा गया । बिहार राष्ट्र भाषा परिषद के वे प्रथम निदेशक बनाये गये थे । शिव पूजन सहाय की विविध रूपा साहित्यिक सेवाओं के कारण ही भारत सरकार ने उन्हें सन् 1960 में 'पद्मभूषण' से विभूषित किया, सन् 1961 में पटना नगर निगम ने उनका नागरिक सम्मान किया और भागलपुर विश्वविद्यालय ने सन् 1962 में उन्हें डी0 लिट की मानक उपाधि से विभूषित किया ।

सहाय जी के संबंध में यह सर्वाधिक उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी में पहला आंचलिक उपन्यास उन्होंने ही 'देहाती दुनिया' शीर्षक से लिखा था । बिहार का 'विहार', 'विभूति', 'अर्जुन', 'भीष्म', 'ग्राम सुधार', 'दो घड़ी', 'माँ के सपूत', 'अन्नपूर्णा के मंदिर में', 'महिला महत्व', 'बालोद्यान तथा 'आदर्श परिचय' उनकी अन्य महत्वपूर्ण रचनायें हैं । बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने चार खण्डों में 'शिव पूजन रचनावली' का प्रकाशन भी किया था । शिवपूजन सहाय ने 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थ' का संपादन भी किया था । उनके द्वारा संपादित अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं - 'राजेन्द्र अभिनंदन ग्रन्थ', 'श्री राज - राजेश्वरी ग्रन्थावली', 'रजत जयंती, स्मारक ग्रन्थ आदि । शिवपूजन सहाय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक पत्रकारिता की परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी थे, जिसके कारण उन्हें 'हिन्दी का दधीचि' तक कहा गया ।

मुंशी प्रेमचन्द

मुंशी प्रेमचन्द को हिन्दी जगत में उपन्यास-सम्राट की उपाधि से विभूषित किया गया है । डॉ0 राम विलास शर्मा ने उन्हें हिन्दी का

सबसे बड़ा कथाकार मानने के साथ ही द्विवेदी युग की श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धि भी माना है । द्विवेदी जी ने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'सम्पत्तिशास्त्र' में गाँवों की जिस बदहाली का चित्रण किया था उसे ही प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य की आधारभूमि के रूप में स्वीकारा था । आचार्य द्विवेदी ने भारतीय किसान की दलितावस्था के प्रति जो आत्मीय चिन्ता अपने ग्रन्थ में जतायी थी वही आत्मीय चिन्तन प्रेमचन्द के कथा साहित्य की पृष्ठभूमि बना ।

प्रेमचन्द के संबंध में कुछ आलोचनायें निःसंदेह अतिवादी हैं और पूर्वाग्रह का संकेत देती हैं । प्रेमचन्द जैसे श्रेष्ठ उपन्यासकार को सामान्य प्रतिभा का उपन्यासकार कह कर पं0 नंद दुलारे बाजपेयी जैसे श्रेष्ठ आलोचक निश्चय ही अतिवादिता की सीमा लांघ गये हैं । प्रेमचन्द ने भारतीय ग्रामीण समाज के यथार्थ की जैसी पहचान अपने साहित्य में दी थी वैसी और कहीं नहीं दृष्टिगोचर होती । उन्होंने मानव स्वभाव की सच्ची परख का परिचय दिया था और ऐसे पात्रों का सृजन किया था जो पाठक को अपने सुपरिचित जान पड़ते हैं । प्रेमचन्द साहित्य को जीवन की आलोचना मानते थे । इसी कारण उन्होंने कहा था कि "मेरे विचार से इसकी {साहित्य की} सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है ।"[1] प्रेमचन्द का मानना था कि कहानी और उपन्यास ही नहीं साहित्य की अन्य विधाओं में भी मूलतः जीवन की व्याख्या ही प्रस्तुत करने का प्रयास

1- प्रेमचन्द - कुछ विचार

होना चाहिए । जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना से उनका तात्पर्य यही होता था कि साहित्य में जीवन के यथार्थ को कुछ ऐसे रूप विधान में पेश किया जाना चाहिए कि पाठक के मन में मनुष्य की सद्वृत्तियों के प्रति आस्था जागे । उनकी मान्यता के अनुसार साहित्य को पाठक का केवल मनोरंजन ही नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें स्फूर्ति और प्रेरणा भी प्रदान करना चाहिए ।

जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' के अनुसार "प्रेमचन्द व्यावहारिक आदर्श - वादी हैं अतः उनके साहित्य में उच्चादर्श तथा नीति शिक्षा का भी एक कलात्मक मूल्य है ।"[1] स्वयं प्रेमचन्द ने अपनी मान्यताओं को कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया था - "मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुलना पर तोलता हूँ । निःसन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्य वृत्ति की पुष्टि करना है, और वह हमारे आध्यात्मिक आनन्द का आधार नहीं जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो । कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के लिए उपयोगी बनाता है ।"[2]

प्रेमचन्द के कुछ आलोचक उनके साहित्य को विचारवादी भी कह देते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि स्वयं प्रेमचन्द साहित्य को प्रचार का माध्यम बनाने के कट्टर विरोधी थे । " जब साहित्य की रचना किसी

1- जनार्दन प्रसाद झा - प्रेमचन्द की उपन्यास कला , पृ० 168.

2- प्रेमचन्द - कुछ विचार, प्रथम संस्करण, पृ० 6.

सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिए की जाती है तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।"[1] सत्य तो यह है कि प्रेमचन्द साहित्य का अन्तिम लक्ष्य रसात्मक आनन्द को मानते हैं, ऐसा रसात्मक आनन्द जो लोक हितकारी हो । प्रेमचन्द को विशुद्ध आदर्शवादी मानना भी भूल है । वे न तो विशुद्ध आदर्शवादी थे न विशुद्ध यथार्थवादी । उनके साहित्य को इन दोनों के बीच का मध्य - मार्गी अर्थात आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानना अधिक उपयुक्त लगता है । यही कारण है कि उपन्यासों में आदर्श और यथार्थ के बीच उत्तकोटि का सामंजस्य मिलता है ।

प्रेमचन्द की कथा यात्रा का आरम्भ सन् 1900 में उर्दू कथा लेखन से हुआ था । उर्दू में उनका पहला उपन्यास "हमखुर्मा हम सबाब' उनके मूल नाम धनपत राय के नाम से प्रकाशित हुये थे । सबसे पहली उर्दू कहानी कानपुर के 'जमाना रिसाले' में 'संसार का अनमोल रतन' नाम से प्रकाशित हुई थी । 'जमाना' के संपादक मुंशी दया नारायण निगम जैसे श्रेष्ठ पत्रकार थे और उसमें प्रकाशित होना गौरव की बात थी । प्रेमचन्द की कुछ उर्दू कहानियाँ इण्डियन प्रेस से प्रकाशित 'अदीब' में भी प्रकाशित हुई थी । और उनका उर्दू कहानियों का पहला संकलन 'सोजे वतन' सन् 1908 में प्रकाशित हुआ था जब वे महोबा में डिप्टी इंस्पेक्टर आफ स्कूल के पद पर कार्यरत थे । यद्यपि इस संकलन पर नवाब राय का नाम छपा था किन्तु

1- प्रेमचन्द - कुछ विचार, प्रथम संस्करण, पृ078.

ब्रिटिश जासूसों ने पता कर लिया कि असली लेखक धनपत राय ही हैं, जो प्रेमचन्द का असली नाम था। कलेक्टर ने उन्हें बुलाया और उनकी कहानियों के बारे में पूछताछ करने के बाद उन्हें राजद्रोही घोषित कर दिया। यह आदेश भी हुआ कि भविष्य में ये बिना आज्ञा प्राप्त किये कुछ न लिखें। अब वे नवाब राय से प्रेमचन्द बन गये तथा इसी नाम से साहित्य सृजन करने लगे। प्रेमचन्द के नाम से उनकी पहली कहानी सरस्वती में सन् 1915 में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द का पहला हिन्दी उपन्यास 'सेवासदन' सन् 1916 में प्रकाशित हुआ जो वस्तुत: उनके उर्दू उपन्यास 'हुस्न' का हिन्दी रूपान्तर था। उनके कहानी संग्रह 'सप्त सरोज', 'नवनिधि' तथा 'प्रेम पूर्णिमा' क्रमश: सन् 1917, 1918 तथा सन् 1920 में प्रकाशित हुए।

सन् 1921 में गांधी जी का असहयोग आंदोलन आरम्भ होने पर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'नमक का दरोगा' लिखी। सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया, और सन् 1922 में काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो गये। उनका उपन्यास 'प्रेमाश्रय' उसी वर्ष प्रकाशित हुआ। सन् 1924 में उनका उपन्यास 'रंगभूमि', प्रकाशित हुआ। प्रेमचन्द ने यों तो 'कफन', 'कायाकल्प', निर्मला', 'गबन', 'मंगलसूत्र', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रय', 'सेवा सदन' जैसे अनेक उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य को दिये किन्तु विशुद्ध ग्रामीण जीवन पर आधारित 'गोदान' उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास बन गया जिसका प्रमुख पात्र 'होरी' भारतीय किसान के प्रतिनिधि के रूप में एक अमर चरित्र बन गया। उन्होंने 'दुर्गादास' और 'महात्मा शेखसादी' जैसी जीवनियाँ भी लिखीं। उनके कहानी संग्रह 'सप्त सरोज', 'नवनिधि',

'प्रेम चतुर्थी', 'प्रेमतीर्थ', 'प्रेमदवादशी', 'प्रेमपियूष', 'प्रेमपचीसी', 'प्रेम प्रसून', 'सप्तसुमन', 'समरयात्रा' आदि हैं। उनके अन्य ग्रन्थ साहित्य का उद्देश्य अहंकार, दो भाग में 'आजाद कथा', सुखदास', 'चाँदी की डिबिया', 'न्याय' 'हड़ताल' तथा 'पिता- के पत्र पुत्री के नाम' [अनुवाद] भी उल्लेखनीय हैं। 'मंगल सूत्र' प्रेमचन्द जी का अंतिम उपन्यास था जो 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो जाने के कारण अधूरा रह गया।

प्रेमचन्द जी की कथा यात्रा का आरम्भ उनके दूसरे विवाह से भी जोड़ा जाता है। उनकी पत्नी शिव रानी देवी बाल-विधवा थीं। उस समय हिन्दू समाज में विधवा विवाह वर्जित था। शिवरानी देवी के जीजा मुंशी नंद किशोर ने साहस करके एक पर्चा छपवाया और उसे कायस्थ समाज में बंटवाया। इसमें तेरह वर्षीय बाल-विधवा शिवरानी देवी से विवाह की अपील थी और किसी साहसी युवक को आमन्त्रण था। प्रेमचन्द ने इस पर्चे का तुरन्त उत्साहवर्द्धक उत्तर दिया। सन् 1906 में शिवरानी देवी से उनका विवाह हो गया। शिवरानी देवी से विवाह के उपरान्त ही प्रेमचन्द की साहित्यिक प्रतिभा उजागर होने लगी और सन् 1907 में उनकी पहली उर्दू कहानी 'जमाना' में प्रकाशित हुई। इसके बाद उनकी कथा यात्रा ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। पेमचन्द मूलरूप से कथाकार थे किन्तु सजग और समर्थ पत्रकार भी उनकी साहित्य साधना का एक प्रखर और अभिन्न अंग था। साहित्यिक पत्रकारिता को उन्होंने नया दिशा निर्देश दिया था। उनकी साहित्य साधना ही नहीं सम्पादकीय साधना का भी केन्द्रबिन्दु जन-जीवन का यथार्थ चित्रण तथा समाज में राष्ट्रीय जागरण तथा नवचेतना का संचार

करना था । उनके साहित्य तथा पत्रकारिता ने इसी कारण सांस्कृतिक पुनरुत्थान का संकेत दिया था ।

प्रेमचन्द का पत्रकारी जीवन भी उर्दू के 'जमाना' मासिक पत्र से शुरू हुआ था जिसमें विश्व की सामयिक घटनाओं पर वे नियमित रूप से 'रफ्तारे जमाना' स्तम्भ के अन्तर्गत टिप्पणियाँ लिखा करते थे । शिव प्रसाद गुप्त के दैनिक पत्र 'आज' के साथ उनका सक्रिय सहयोग था । काशी से ही प्रकाशित 'मर्यादा' मासिक पत्र का भी उन्होंने संपादन किया । किन्तु 'माधुरी' का संपादन उनकी उल्लेखनीय उपलब्धि थी । द्विवेदी जी की 'सरस्वती' के बाद 'माधुरी' ही अपने समय की श्रेष्ठ साहित्यिक मासिक पत्रिका थी । प्रेमचन्द ने सन् 1928 में इसके संपादन का भार ग्रहण करने के बाद 'माधुरी' को नया रूप-रंग दिया और तत्कालीन श्रेष्ठ कवि, कहानीकार तथा अन्य सभी साहित्यकार उसके नियमित लेखक बने ।

प्रेमचन्द ने द्विवेदी युग के अवसान के बाद के चंद वर्षों में ही 'हंस' का प्रकाशन करके साहित्यिक पत्रकारिता को नई दिशा दी थी । यद्यपि यह द्विवेदी युग के बाद की घटना थी किन्तु प्रेमचंद की चर्चा करते समय 'हंस' की चर्चा न करना अनुचित होगा । प्रेमचन्द ने सन् 1930 में अपने साढू मुंशी नंद किशोर के पुत्र तथा तत्कालीन हिन्दी कहानी के सशक्त हस्ताक्षर राजेश्वर प्रसाद सिंह की सक्रिय भागीदारी (यद्यपि लिखित नहीं) में 'हंस' का प्रकाशन आरम्भ किया था । प्रेमचन्द राजेश्वर प्रसाद सिंह के मौसा थे अतः साझेदारी के लिखित मसविदे का प्रश्न ही नहीं उठा । राजेश्वर प्रसाद सिंह ने अपनी आत्मकथा में लिखा है - " उन्हीं दिनों मेरे मन में विचार उठा कि

मैं हिन्दी में मासिक पत्रिका निकालूँ, विचार निश्चय में परिणित हो गया। इस बात की खबर .... प्रेमचन्द जी को मिली मेरे पास प्रेमचन्द जी का एक पत्र आया उसमें लिखा था कि उनका भी एक मासिक पत्रिका निकालने का विचार है। अच्छा होगा कि हम दोनों मिलकर पत्रिका निकालें .... उन्होंने मुझे लखनऊ बुलाया उस समय वे ... माधुरी का संपादन कर रहे थे। ... प्रेमचन्द जी का प्रस्ताव हम लोगों को पसंद आया। ... हिन्दुस्तानी एकेडमी की एक मीटिंग उसी समय होने वाली थी। प्रेमचन्द जी मेरे साथ उस मीटिंग में शरीक होने के लिए इलाहाबाद आये। इलाहाबाद में मेरे घर पर पत्रिका के संबंध में पिता जी से उनकी बातचीत हुई, तो वे साझेदारी के लिये राजी हो गये। तय पाया कि हम दोनों के नाम संपादक के रूप में पत्रिका पर जायेंगे। प्रेमचन्द जी ने मुझसे कहा कि मैं हर महीने एक मौलिक कहानी, एक अनूदित कहानी और कुछ नोट्स दिया करूँ। मैं तैयार हो गया। पत्रिका निकालने के लिए हमने उन्हें आवश्यक रकम दी, और वे खुश - खुश बनारस चले गये। ... 'हंस' प्रकाशित हुआ लेकिन उस पर संपादके के रूप में केवल मुंशी प्रेमचन्द का नाम था। .... पिताजी को बहुत बुरा लगा और उन्होंने प्रेमचन्द जी को इस संबंध में पत्र लिखा। प्रेमचन्द जी का सफाई का पत्र आया, जिसमें अजीब-अजीब बातें लिखी थीं।[1]

1- राजेश्वर प्रसाद सिंह - सफर जिन्दगी का, पृ0 71-72.

उपरोक्त पुस्तक में ही इस संबंध में 'हंस कार्यालय' के पैड पर अंग्रेजी में धनपत राय के नाम से लिखित प्रेमचन्द जी का सफाई का पत्र प्रकाशित है ।[1]

कान्हजी (राजेश्वर प्रसाद सिंह का घर का नाम) को धनपतराय (प्रेमचन्द का वास्तविक नाम) द्वारा लिखित पत्र -

19.4.1930

My Dear Kanhji,

So the 2nd number (of Hans) goes without your contribution. I waited upto 16th, can't wait any longer. It appears either you have exhausted your intellect or are not satisfied with the manner I am conducting. If the former, then you shall agree with me that I was thoroughly justified in not giving your name. If the later, you are over sentimental. How can two men be joint Editors when they happen to be so far away. You can not know what is going to appear. If I leave everything to you, the same will be the case with me. I shall not know what is going to appear in my name. If both of us were together this duality would have worked tolerabely. As the things stand it cannot. And what is there in name ? I was not less known when I was not Editor of Madhuri or Hans. You are not less well-known if you are not Editor of Hans. It is the literary talent that talls, not that you are Editor of such and such. Vijay Verma and Mustafi are not recognised as the pillars of Hindi literature by Editing Maya.

Now that the ball has been set rolling, both of us have got to put our heart in it, if we are not determined to make a mess of the money already invested. If you are indifferent in this way, well the money will go for nothing. Does it look nice that two men should edit a magazine of 64 pages ? You will find that about half the matter in the 2nd number is my own. I shall continue even if I have to do the whole show single handed. I have got this much energy. But I would not have taken this burden if I was not sure of your cooperation. One original story, 2translations, 4 articles and editorial matter have been contributed by me. .... Sudar - shan too failed to keep his promise while I did not mind Kaushik Jaishankar is not keeping well. When you are delinquent, I have nothing to complain against others. I hope you are quite well. Give my salams to Bhai Sahib.

Yours affly

D. Rai

'हंस' हिन्दी कथा साहित्य का निःसन्देह प्रतिनिधि पत्र था। किंतु उसमें कविता, निबन्ध, एकांकी और आलोचना जैसी विधाओं की प्रतिनिधि रचनायें भी प्रकाशित होती थीं। प्रेमचन्द ने 'हंस' के माध्यम से अनेक कहानी लेखकों को साहित्य के क्षेत्र में प्रस्तुत किया तथा कथा साहित्य को ऊँचे धरातल तक ले जाने का प्रशंसनीय प्रयास किया। 'हंस' का प्रथम अंक मार्च 1930 में प्रकाशित हुआ था।

'माधुरी', 'हंस' तथा 'मर्यादा' के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने 'जागरण' का भी संपादन किया था तथा इन पत्रों के माध्यम से साहित्यिक पत्रकारिता के नये मूल्य स्थापित किये थे। उन्होंने अपने संपादन में प्रकाशित होने वाले पत्रों को साहित्य, कला और सांस्कृतिक चेतना के साथ ही राष्ट्रीय चेतना का भी प्रतीक बनाया था। यही नहीं उन्होंने साहित्य में प्रगति-शीलता का संदेश भी दिया था।

'हंस' के 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' में पराड़कर जी ने प्रेमचन्द की कृति शीर्षक लेख में लिखा था "... हमारा साहित्य प्रेमचन्द का सदैव कृतज्ञ रहेगा। हरिश्चन्द्र के बाद वह अन्धकार में टटोल रहा था, अपने पड़ोसियों से अपच खाद्य लेकर उदरपूर्ति कर रहा था। रसना विकृत हो रही थी। प्रेमचन्द ने उसे अपना घर दिखाया - जीवन से उसका सम्बन्ध कर दिया।

हमारी भाषा को स्वाभाविकता प्राप्त करा दी । वह अपने बच्चे के मुँह से निकलने लगी । हिन्दी हिन्द की हुई । यह प्रेमचन्द की हिन्दी की देन है । उसका भावी विकास भावी लेखकों पर निर्भर है पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया । ••• जीवन में जन वर्ग के प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगे हैं । प्रेमचन्द के पात्र जब वर्ग के प्रतिबिम्ब हैं, प्रेमचन्द के विचार वर्गों को उठाने और मिटाने के भागीरथ प्रयत्नों के द्योतक हैं । स्वयं प्रेमचन्द जनता के प्रतीक हैं । उनका स्थूल देह अदृश्य हो गया है पर उनका यह उज्ज्वल प्रतीक तब तक रहेगा जब तक हिन्दी रहेगी और उसके पढ़ने वाले रहेंगे ।"[1]

रामचन्द्र शुक्ल

प्रेमचन्द द्विवेदी युग की श्रेष्ठ रचनात्मक उपलब्धि थे तो, हिन्दी के सबसे बड़े समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी द्विवेदी युग की ही देन थे । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन सिद्धान्तों को अपनी समालोचना का आधार बनाया उनके बीज आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के गद्य लेखन में ही पड़ चुके थे । द्विवेदी जी का आलोचनात्मक लेखन हिन्दी साहित्य के ज्ञानकाण्ड की गौरव पूर्ण उपलब्धि है । किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी आलोचना के प्रसंग में द्विवेदी जी का नाम लेना लोग अब आवश्यक ही नहीं समझते ।[2]

1- हंस , प्रेमचन्द स्मृति अंक

2- रामविलास शर्मा, हिन्दी की जातीय पत्रिका सरस्वती, आलोचना, अप्रैल-जून 1977, पृ0 17•

द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना के पाँच रूप स्पष्ट रूप से लक्षित हुए थे - लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में काव्यांग विवेचन अर्थात शास्त्रीय आलोचना, तुलनात्मक मूल्यांकन, अनुसन्धानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने कुछ आलोचनात्मक निबन्धों में काव्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय अंग्रेजी साहित्य के आलोचनात्मक निबन्धों को आधार बनाया था। सन् 1905 में आचार्य शुक्ल ने भी एडिसन के 'एसे आन इमेजीनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक से किया था। वैसे देखा जाये तो भारतेन्दु युग में ही जनवादी आलोचना की परम्परा के बीज पड़ चुके थे जिसका विकास आचार्य द्विवेदी की लेखनी से ही हुआ। इन सभी प्रयासों से हिन्दी आलोचना में एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसकी नींव पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना की निर्मिति हुई। यदि हम कहें कि आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में वैज्ञानिक आलोचना का विकास किया तो अनुचित न होगा। यही नहीं साहित्य में आलोचना एक स्वतंत्र विषय के रूप में या कहें कि विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अब रचनाकार के सामान्य गुण दोष का विवेचन करने के साथ ही उसके सर्जनात्मक साहित्य की मूल प्रवृत्तियों की खोज-बीन करने तथा उसकी परत-दर-परत के अन्दर निहित देशकाल सापेक्ष तथा शाश्वत् तत्वों को उद्घाटित करने तथा उनके महत्व को व्यापक मानवीय मूल्यों की दृष्टि से प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति आलोचना साहित्य में स्थापित हुई। इसे ही हम वैज्ञानिक जनवादी आलोचना का नाम दे सकते हैं।

शुक्ल जी निश्चय ही द्विवेदीयुग के आलोचक थे। किन्तु द्विवेदी युग के अवसान के कुछ पूर्व से ही आरम्भ स्वच्छन्दतावादी युग के अनुकूल उन्होंने अपनी आलोचनात्मक धारा को थोड़ा सा परिवर्तित करके उसे युगानुकूल बनाया था। इससे यह भ्रम भी होने लगता है कि आचार्य शुक्ल स्वच्छन्दतावादी युग के ही समालोचक थे। अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक युग के तृतीय उत्थान के स्वच्छन्दतावादी कवियों की सामाजिक, राजनीतिक पृष्ठभूमि के संबंध में आचार्य शुक्ल ने जो कुछ लिखा है वही शुक्ल जी की आलोचना की पृष्ठभूमि है। इस पृष्ठभूमि में सामन्तवाद विरोधी चेतना तथा उपनिवेशवाद विरोधी चेतना का अत्यन्त प्रखर रूप दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसके बीज तो द्विवेदी युग में ही रोपे जा चुके थे जब द्विवेदी जी ने अपने ग्रन्थ 'सम्पत्तिशास्त्र' में भारतीय ग्रामीण समाज के दुख-दैन्य का चित्रण करते हुए साम्राज्यवाद के शोषक रूप पर प्रहार किया था।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्य द्विवेदी के उस प्रगतिशील स्वर को और आगे बढ़ाते हुए तीखे शब्दों में लिखा था कि साम्राज्यवाद का " यह व्यापारोन्माद जब तक दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख शान्ति न होगी।"[1] अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था' में काव्य पर विचार करते समय आचार्य शुक्ल ने टालस्टाय के निष्क्रिय प्रतिरोध को अस्वीकृत किया था तथा संघर्ष के दूसरे रूपों को स्वीकार करने पर बल दिया था। उन्होंने लिखा था - " ......मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० 74.

वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौन्दर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।"[1] उनकी यही प्रखर चेतना उनकी आलोचना में प्रतिफलित हुई। वास्तव में द्विवेदी युग से आरम्भ हुई तथा निरन्तर प्रखर होती गयी इस चेतना ने ही कथा साहित्य में प्रेमचन्द को, काव्य में निराला को और आलोचना में आचार्य शुक्ल को अवतरित किया। वास्तव में पुर्नजागरण तथा राष्ट्रवादी सामाजिक चेतना का भी यही प्रतिफलन था। शुक्ल जी अपने यहाँ की शब्द शक्ति, रस, रीति और अलंकार के विरोधी नहीं थे। किन्तु उन्होंने कहा था - "अपने की ये बातें काव्य की स्वच्छ और स्पष्ट मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं अब समझता हूँ, इसके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। देशी - विदेशी, नई - पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा। आवश्यकता इस बात की है कि उत्तरोत्तर नवीन विचार-परम्परा द्वारा इन पद्धतियों की परिष्कृति, उन्नति और समृद्धि होती रहे।"[2] आचार्य शुक्ल रीति काव्य के घोर विरोधी थे। वास्तव में यह उस सामन्तीकाव्य धारा का विरोध था जिसने काव्य को सामन्तों के मनोरंजन का साधन बना दिया था उनका विरोध इसलिए भी था कि इस काव्य धारा का जीवन और समाज

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ0 221.

2- चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ0 256.

के यथार्थ से कोई लेना-देना नहीं था ।

उपन्यास-विधा पर विचार करते समय आचार्य शुक्ल ने बड़े स्पष्ट रूप से कहा था - " हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य में उपन्यास का नाम भी बंगला से आया, और उपन्यास का अँग्रेजी ढाँचा भी । कथात्मक गद्य प्रबन्ध के लिए वास्तव में यह ढाँचा बहुत ही उत्कृष्ट है "।

स्त्रियों को भोग-विलास का साधन समझने वाली काव्य परिपाटी के वे घोर विरोधी थे । उन्होंने 'जायसी ग्रन्थावली' के संबंध में लिखा था - " पुरुषों ने अपनी जबरदस्ती से स्त्रियों के कुछ दुखात्मक भावों को भी अपने विलास और मनोरंजन की सामग्री बना रखा है . . . नवोढ़ा का भय और कष्ट भी नायिका भेद के रसिकों के आनन्द के प्रसंग हैं । इस परिपाटी के अनुसार स्त्रियों की प्रेम-सम्बन्धनी ईर्ष्या का भी शृंगार रस में एक विशेष स्थान है । यदि स्त्रियाँ भी इसी प्रकार पुरुष की प्रेम-संबधनी ईर्ष्या को अपने खिलवाड़ की चीज बनावे तो कैसा ?"[2]

आचार्य शुक्ल साम्प्रदायिक सद्भाव के भी प्रबल समर्थक थे । इसी कारण उन्होंने नाथपंथी योगियों, नामदेव और संत कवियों द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए एक सामान्य भक्ति मार्ग निकालने की चेष्टा की प्रशंसा की है । कबीर के काव्य के संदर्भ में उन्होंने कहा है - "देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य-मनुष्य में जो भेद-भाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही ।"[3]

1- चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ0 256.

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - रस मीमांसा, पृ0 120-121. 23वाँ संस्करण

3- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 44

आचार्य शुक्ल ने 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में सूफी कवियों को साम्प्र - दायिक भावनाओं से ऊपर मनुष्यत्व का कवि कहा है । उन्होंने लिखा है - " इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इनके (सूफी काव्य) द्वारा मानों हिन्दू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की ।"[1] आचार्य शुक्ल ने वर्ण और आश्रम की सीमाओं को तोड़कर मनुष्य मात्र की समानता प्रति - पादित करने वाले भक्ति आन्दोलन द्वारा प्रदत्त भक्ति काव्य को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ काव्य घोषित किया था । इन समस्त प्रसंगों से यह सिद्ध है कि शुक्लजी द्विवेदी युग से आरम्भ हुई उस विचार धारा के आलोचक थे जिसने मनुष्यत्व तथा मानव धर्म की श्रेष्ठता को स्वीकार किया था और इनके विरोधी सभी मतों तथा वादों को प्रखर स्वर में अस्वीकार किया था ।

आचार्य शुक्ल ने आलोचना के आधार के रूप में ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धान्त को स्वीकारा था, जिसकी मान्यता थी कि ज्ञान और भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है । वे इन्द्रीय बोध को ही भाव और विचार का आधार मानते हैं, और भाव को उन्होंने विशेष महत्व दिया था क्योंकि भाव के बिना कविता या कोई भी साहित्य-सृजन संभव ही नहीं है । शुक्ल जी काव्य अथवा साहित्य में असाधारण तथा विचित्र वस्तुओं के चित्रण के विरोधी थे । उन्होंने लिखा था - "काव्य-क्षेत्र, अजायबखाना या नुमाइश - गाह नहीं है ।"[2] शुक्लजी भी द्विवेदी जी की ही तरह साहित्य को ज्ञान का भण्डार मानते थे । ज्ञान से उनका तात्पर्य आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से था,

---

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ0 4.

2- चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ0 10.

अध्यात्म विद्या से नहीं । उनका कथन था - " जगत के इतिहास, विज्ञान आदि द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है, वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का एक काम होना चाहिए ।"[1]

अपने समन्वित साहित्यिक सिद्धान्तों के आधार पर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास का मूल्यांकन किया और हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना के साथ ही व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक आलोचना को विकसित किया । आलोचना संबंधी अपने आशय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है - "समालोचना के लिए विद्वता और प्रशान्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं । न रुचि के स्थान पर विद्वता काम कर सकती है और न विद्वता के स्थान पर रुचि । अतः विद्वता से संबंध रखने वाला निर्णयात्मक आलोचन और रुचि से संबंध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक हैं ।"[2] उनके अनुसार "हृदय और बुद्धि दोनों के साथ-साथ चलने से ही इन दोनों का सामंजस्य हो सकता है ।"[3]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' साहित्य के इतिहास का ग्रन्थ होने के साथ ही आलोचना का भी ग्रन्थ है । हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास का मूल्यांकन करते समय उनका इतिहास आलोचनात्मक बोध कराता है । उसी प्रकार उनकी आलोचना भी इतिहास बोध कराती है । साहित्य के इतिहास के आरम्भ

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 578

2- रामचन्द्र शुक्ल - चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ0 102.

3- वही, पृ0 123.

में ही उन्होंने स्पष्ट किया है - "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[1] उनकी पहली मान्यता आलोचना से सम्बन्धित है और दूसरी इतिहास से। दोनों ही मान्यतायें एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। ठीक उसी तरह आचार्य शुक्ल की आलोचना और इतिहास भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ का प्रकाशन पहली बार सन् 1929 में नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में हुआ था। उसका संशोधित परिवर्द्धित रूप भी उसी वर्ष अलग से पुस्तक रूप में निकला। बाद में भी आचार्य शुक्ल ने इसमें दो बार संशोधन परिवर्द्धन किये। अन्तिम परिवर्द्धन के समय वे आधुनिक काल के कवियों की विस्तृत विवेचना करना चाहते थे किन्तु प्रसाद तथा पंत पर लिखते-लिखते ही उनका निधन हो गया।

आचार्य शुक्ल ने आलोचना का वैज्ञानिक दृष्टिकोण निर्धारित करने के साथ ही आलोचना की भाषा भी तैयार की थी। आलोचना के पाश्चात्य शब्दों के पर्याय भी गढ़े थे। उन्होंने अपनी भाषा को जितना शास्त्रीय रूप दिया उतना ही व्यावहारिक रूप भी। उनकी भाषा में

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, 23वाँ संस्करण, पृ० 1.

उनके विचारों तथा अनुभवों की अभिव्यक्ति करने वाला पाण्डित्य है तो हास्य-व्यंग्य का भी अभाव नहीं है । आलोचना की भाषा के लिए उन्होंने कोई सिद्धान्त नहीं बनाया था । उनकी आलोचना की भाषा निरन्तर प्रयोगों से तैयार हुई थी ।

द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में ही निबन्ध लेखन भी आरम्भ किया था । प्रारम्भिक चरण में उन्होंने अँग्रेजी के अनेक विचारपूर्ण निबन्धों का हिन्दी अनुवाद किया था । उनके निबन्धों के विषय मनोवैज्ञानिक अधिक थे, उदाहरणार्थ 'भय और क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', 'श्रद्धा भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ और प्रीति' । यह सभी निबन्ध द्विवेदी युग में ही सन् 1912 से 1919 के बीच 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे ।

आलोचना तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की तरह ही निबन्ध लेखन में भी आचार्य शुक्ल नवीन युग के प्रवर्त्तक थे । उनके निबन्धों में गम्भीर विचारसूत्रों के साथ ही व्यक्तित्व व्यंजना भी है । व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों में अक्सर मुख्य विषय उपेक्षित हो जाता है । किन्तु आचार्य शुक्ल ने अपने निबन्धों में ऐसा कदापि नहीं होने दिया । निबन्ध के संबंध में शुक्ल जी की मान्यता थी कि - " आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात व्यक्तिगत् विशेषता हो । . . . व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रृंखला रखी ही न जाये या जानबूझ कर जगह -

जगह से तोड़ दी जाये ।"[1] आगे वे कहते हैं कि -"तत्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबन्ध लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबन्ध लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुए ।"[2]

शुक्ल जी के ये साहित्यिक सिद्धान्त मूलत: भारतीय हैं और इनकी सत्ता उनके सम्पूर्ण निबन्ध लेखन में भी प्रतिष्ठित है । शुक्ल जी शास्त्रज्ञ थे, किन्तु शास्त्रीयतावादी नहीं थे । उनके अनुसार साहित्य का शास्त्र पक्ष रचना के प्रतिबन्ध के लिए नहीं था ।[3]

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी द्विवेदी युग के उन लोकप्रिय कवियों में थे, जिन्हें आचार्य द्विवेदी ने ही प्रेरित करके ब्रजभाषा काव्य रचना से विमुख करके खड़ी बोली काव्य की ओर उन्मुख किया था । यही नहीं, उनके काव्य-निर्माण में आचार्य द्विवेदी तथा उनकी 'सरस्वती' का सर्वाधिक योगदान था । गुप्त जी की प्रारम्भिक कवितायें कलकत्ता से प्रकाशित पत्र 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं । किंतु युग की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका 'सरस्वती' में प्रकाशित होने की ललक ने उन्हें अपनी रचनायें 'सरस्वती' में भेजने को प्रेरित किया । द्विवेदी जी की प्रारम्भिक उपेक्षा से मैथलीशरण गुप्त पहले तो निराश भी हुये और रुष्ट भी । किंतु बाद में वे द्विवेदी जी के ऐसे कृपा-

---

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, 23वाँ संस्करण, पृ0 276
2- वही
3- चिन्तामणि, द्वितीय भाग, पृ0 103.

पात्र कवि बने कि उनकी कविताओं को काट-छाँट और सजा-सँवार कर उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित करना शुरू कर दिया। उनके निर्देशन में गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा का ऐसा निखार हुआ कि उन्होंने 'भारत-भारती' जैसी श्रेष्ठ काव्य - रचना हिन्दी साहित्य को दी और राष्ट्रकवि के गौरव से भी विभूषित हुये।

सन् 1912 में प्रकाशित गुप्त जी की 'भारत-भारती' की लाला भगवान-दीन ने इतनी कटु आलोचना की थी कि उसकी खड़ी बोली को 'खरी बोली' तक कह डाला था। इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काव्य - रचना की भाषा की सार्थकता को स्वीकार किया और लिखा - " यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच-बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी - सादी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेशी की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिन्दी कविता के लिए खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी।"[1]

द्विवेदी जी की प्रथम काव्य रचना 'रंग में भंग' सन् 1909 में प्रकाशित हुई थी किन्तु 'भारत-भारती' में जाति और देश के प्रति गर्व तथा गौरव की जो उदात्त भावनायें प्रस्तुत कीं, उन्हें हिन्दी-भाषी पाठकों ने बड़ी रुचि से सम्मान दिया और वे राष्ट्र कवि के रूप में विख्यात हो गये। गुप्त जी ने मातृभूमि को केवल एक भूमि-खण्ड न मान कर 'सगुण मूर्ति सर्वेश'

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, 23 वाँ संस्करण, पृ0 332

के रूप में प्रतिष्ठित किया - हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ।"

मैथलीशरण गुप्त ने भारत तथा भारतीय जीवन को उसकी पूरी समगता के साथ समझने का प्रयास अपने काव्य में किया । उनके दूसरे काव्य प्रबन्ध 'साकेत' (सन् 1931) ने उन्हें रामभक्त कवि बना दिया । यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को 'साकेत' ही नहीं 'यशोधरा' में भी प्रबन्ध तत्व की कमी अखरी है, किंतु उन्होंने स्वयं ही इसका कारण भी बताया है - "इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति गीत काव्य या नये ढंग के प्रगति मुक्तकों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी ।"[1] इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि प्रबन्ध काव्य की परम्परा उस समय विलुप्त हो रही थी । और इस संदर्भ में गुप्तजी को ही यह श्रेय जाता है कि उन्होंने ऐसे समय प्रबन्ध काव्य की रचना कर के इस परम्परा के संरक्षक बन गये । गुप्त जी ने दो महाकाव्य तथा उन्नीस खंडकाव्यों की रचना को और उत्कृष्ट चरित्र - चित्रण द्वारा इन प्रबन्धों को श्रेष्ठ आधारभूमि दी । 'साकेत' की रचना ने काव्य में उर्मिला के चरित्र की उपेक्षा की प्रतिष्ठित रूप में भरपायी की थी । उन्होने ने पूरे दो सर्गों में उर्मिला के वियोग का उत्कृष्ट चित्रण किया । इस प्रबन्ध में राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम भरत मिलाप तक की घटनाओं का आठ सर्गों में चित्रण है । अंतिम दो आठवें तथा नवें सर्गों को उर्मिला के वियोग वर्णन के लिए समर्पित किया

1-रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, 23वाँ संस्करण, पृ0 333.

गया है । इस वियोग - वर्णन में सूरदास की गोपियों की वियोग-व्यथा की स्पष्ट झलक है और उसमें पूरी रसात्मकता भी परिलक्षित होती है ।

गुप्त जी की 'यशोधरा' यद्यपि द्विवेदी युग के बाद की रचना है और उसका प्रकाशन सन् 1932 में हुआ था किन्तु द्विवेदी युग का स्पष्ट प्रभाव इस प्रबन्ध काव्य में भी दृष्टिगोचर होता है । नाटकीय रूप से परिपूर्ण इस प्रबन्ध में भगवान बुद्ध से सम्बद्ध चरित्रों के मनोभावों का सुन्दर चित्रण है । इसमें कथोपकथन भी है और कहीं-कहीं गद्य भी किन्तु भाव व्यंजना के लिए गीतों का ही प्रयोग हुआ है ।

गुप्त जी के प्रमुख काव्य प्रबन्धों का प्रकाशन सन् 1910 से आरम्भ हुआ था 'जयद्रथ वध' सन् 1910 में, 'भारत भारती' 1912 में, 'पंचवटी' 1925 में, 'झंकार' 1929 में, 'साकेत' 1931 में, 'यशोधरा' 1932 में, 'द्वापर' 1936 में, 'जयभारत' 1952 में और 'विष्णुप्रिया' 1957 में । उनके अनूदित काव्य ग्रन्थ हैं - 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाथ वध' तथा 'वृत्रसंहार' । उन्होंने 'तिलोत्मा', 'चन्द्रहास', नाटक भी लिखे तथा प्रगीतों और मुक्तकों की भी रचना की । किन्तु वे प्रबन्ध काव्यों जैसी भाव सृष्टि नाटकों, प्रगीतों तथा मुक्तकों में नहीं कर सके । इससे स्वतः सिद्ध है कि वे मूल रूप से प्रबन्धकार थे ।

मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संस्कृत के अनन्य भक्त थे । किन्तु उनमें अन्धानुकरण की प्रवृत्ति नहीं थी । उन्होंने युग धर्म की भी उपेक्षा नहीं की उनके काव्य संसार की आधार भूमि राष्ट्रीयता थी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

के अनुसार गुप्त जी की 'भारत-भारती' तथा 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं में भाषा की सफाई दृष्टिगोचर होती है । 'भारत-भारती' तथा 'वैतालिक' के बीच की रचनाओं में सरस और कोमलकान्त पदावली दृष्टि - गोचर होती है । प्रगीति , मुक्तकों तथा लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर गुप्त जी का स्पष्ट झुकाव 'साकेत' तथा 'यशोधरा' में परिलक्षित होने लगता है, जो छायावाद के प्रभाव का परिणाम कहा जा सकता था । रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "गुप्त जी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है । काला - नुसरण की क्षमता' अर्थात उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति ।"[1] शुक्ल जी के ही अनुसार वे "हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि निःसन्देह कहे जा सकते हैं । भारतेन्दु के समय में स्वदेश प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास द्विवेदी युगीन महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'भारत - भारती' में मिलता है, इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में प्राप्त होता है । सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्व - प्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सबकी झलक हम पाते हैं ।"[2]

गुप्त जी सामंजस्यवादी कवि थे । उनके पास उच्च मान्यताओं और भावधाराओं से प्रभावित होने वाला हृदय था । साथ ही प्राचीन के प्रति उनमें अगाध्य आदर था, तो नवीन मान्यताओं के प्रति गहरा उत्साह।

1- रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, 23वाँ सं0 , पृ0 334
2- वही

ते नवीन राजनीतिक - राष्ट्रीयतावादी भावधारा के श्रेष्ठ प्रतिनिधि कवि थे, जिन्होंने काव्य में खड़ी बोली के प्रयोग की द्विवेदी युगीन मान्यता को स्वीकारा और आगे बढ़ाया ।

द्विवेदी युगीन उपर्युक्त अति विशिष्ट रचनाकारों, पत्रकारों के अतिरिक्त भी अनेक कवियों, कथाकारों, निबन्धकारों आदि ने भी पूरी आस्था से द्विवेदी युग में रचनाधर्मिता को स्वीकार किया था तथा अपने महत्वपूर्ण लेखन से युग निर्माण में रचनात्मक सहयोग प्रदान किया था । यह वह युग था जब रचनाधर्म ने व्यावसायिकता का रूप नहीं लिया था । अधिकांश साहित्यकार पत्रकार भी थे, इसी तरह अधिकांश पत्रकार साहित्य - कार भी थे । उन्होंने पत्रकारिता अथवा साहित्य सृजन को अपनी आन्तरिक प्रेरणा से स्वीकार किया था । युगीन राष्ट्रीय चेतना उनकी प्रेरणा थी और उसका प्रसार ही उनका परम लक्ष्य । एक मिशन था जिसकी पूर्ति के लिए ही पत्रकारी लेखन तथा साहित्य सृजन समर्पित था । इस समर्पण भाव से लेखन धर्म स्वीकार करने वाले सभी साहित्य-सर्जक अपनी-अपनी दिशा में महत्वपूर्ण थे ।

यह ऐसा युग था जब भारतेन्दु युग की परम्परा में लेखन कार्य करने वाले बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र जैसे मूर्धन्य लेखक भी विद्यमान थे और द्विवेदी युग के प्रारम्भिक युग में साहित्य में उदय हो रही नवीन मान्यताओं और मूल्यों का उन्होंने घोर विरोध भी किया था । यह स्वाभाविक भी था । प्राचीनता के गर्भ से जब नवीनता प्रस्फुटित

होती है तो पुरानी परम्परा उसका विरोध करती ही है । द्विवेदी युग के अवसान काल में साहित्याकाश में जयशंकर प्रसाद और निराला जैसे उत्कृष्ट रचनाकारों का उदय हुआ था । उस समय छायावादी युग प्रारम्भ ही हो रहा था । इन रचनाकारों को भी छायावादी युग में ही गणना की जाती है, किन्तु यह भी एक ध्रुव सत्य है कि इनकी रचनाधर्मिता के बीच द्विवेदी युग में ही रोपे जा चुके थे और उनकी रचनायें छायावादी होते हुए भी द्विवेदी युग की साहित्य चेतना से अछूती नहीं है ।

युग के उदय तथा अवसान काल के मध्य नाथू राम शंकर, श्रीधर पाठक, हरिऔध, राय देवी प्रसाद पूर्ण, रामचरित उपाध्याय, गया प्रसाद शुक्ल सनेही, राम नरेश त्रिपाठी, कामता प्रसाद गुरु, गिरधर शर्मा नवरत्न, रूप नारायण पाण्डेय, गोपाल शरण सिंह, लोचन प्रसाद पाण्डेय, अमीर अली मीर और मुकुटधर पाण्डेय जैसे कवियों ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता को व्यापक आधार देने में अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिकाओं का निर्वाह किया है । इसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में किशोरी लाल गोस्वामी, ब्रजनंदन सहाय, राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, राधा चरण गोस्वामी , राम नारायण मिश्र, बद्री नाथ भट्ट, माखन लाल चतुर्वेदी, वृन्दावनलाल वर्मा, विश्म्भर नाथ शर्मा कौशिक, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्ण सिंह, श्याम सुन्दर दास, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, सुकदेव बिहारी मिश्र, राजेश्वर प्रसाद सिंह, जी० पी० श्रीवास्तव आदि अनेकानेक रचनाकारों ने अपनी - अपनी शैलीगत् विशिष्टताओं के साथ साहित्य सृजन करके

जातीय जीवन की मार्मिक रचनात्मक आलोचना प्रस्तुत की । इन सभी रचनाकारों के साहित्य का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त सबल है और नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उनके साहित्य में सामान्य मानव के गौरव की प्रतिष्ठा महिमा मण्डित है । खड़ी बोली के स्वरूप-निर्माण तथा संस्कार की अद्भुत सामर्थ्य भी युग के इन रचनाकारों के साहित्य सृजन में वैविध्य तथा व्यापकत्व के साथ प्रतिष्ठित है ।

अष्टम अध्याय

द्विवेदी युगीन पत्र - पत्रिकायें

द्विवेदीयुगीन पत्र – पत्रिकायें

पराधीन भारत के जिस युग में हिन्दी पत्रकारिता का जन्म हुआ उस समय युगीन परिस्थितियों के कारण राष्ट्र को सही उद्बोधन की आवश्यकता थी। राष्ट्र को नवजागरण तथा नवचेतना का संदेश देने की सामर्थ्य केवल लेखनी में है, इस तथ्य को समाज के जागरूक विद्वानों, चिन्तकों तथा पथ-प्रदर्शकों ने भी भली भांति समझा था। उन्होंने पाश्चात्य प्रभाव के संदर्भ में यह भी समझ लिया था, कि नवजागरण का संदेश देने वाले लेखनों के व्यापक प्रचार-प्रसार का एक मात्र साधन पत्र-पत्रिका-प्रकाशन है। मुद्रण - कला के भारत आगमन ने उनकी इस समझ को और सुदृढ़ किया और प्रखर लेखक, रचयिता पत्र-प्रकाशन की ओर उन्मुख हुये। शायर अकबर की इन पंक्तियों से यह बोध भी होता है, कि लोग अखबार की अद्भुत शक्ति की भी पहचान करने लगे थे -

खींचो न कमानों को, न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो।।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि पाश्चात्य ज्ञान का प्रवेश भारत में बंग-क्षेत्र से हुआ, क्योंकि पाश्चात्य शासकों के कार्यकलाप का प्रमुख केन्द्र बंगाल ही था। यही कारण था, कि भारतीय पत्रकारिता की जन्मभूमि बंगाल ही बना, जब देश का पहला पत्र 'हिक्कीज गजेट' सन् 1780 ई0 में अंग्रेजी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। सन् 1793 में दूसरा पत्र 'इण्डियन वर्ल्ड' भी अंग्रेजी में बंगाल से ही प्रकाशित हुआ। देश का पहला स्वदेशी भाषा का पत्र सन् 1816 ई. में बंगला भाषा में 'बंगाल गजेट' के नाम से निकला। यह भी एक आश्चर्यजनक तथ्य है, कि हिन्दी का प्रथम पत्र

'उदंत मार्तण्ड' 30 मई 1826 ई0 को अहिन्दी प्रदेश बंगाल से प्रकाशित हुआ। यह अवश्य था, कि इस प्रथम हिन्दी साप्ताहिक को संपादित, प्रकाशित और मुद्रित करने का गौरव कानपुर के मूल निवासी युगल किशोर सुकुल को प्राप्त हुआ, जो उस समय कलकत्ते में रह रहे थे। साधनों के अभाव तथा प्रतिकूल राजनीतिक परिस्थितियों में युगल किशोर जी ने 'उदंत मार्तण्ड' को जो स्वरूप प्रदान किया, उससे स्पष्ट है कि उन्हें हिन्दी के भावी समाचार पत्रों के स्वरूप तथा संभावनाओं का पूर्वाभास हो चुका था। उन्होंने 'उदंत मार्तण्ड' का प्रकाशन 'हिन्दुस्तानियों' के हित के हेतु किया था। उनकी इस मूल नीतिगत् प्रतिज्ञा से स्पष्ट है, कि वे भारत-वासियों को परावलम्बन से मुक्ति दिला कर उन्हें स्वतंत्र दृष्टि प्रदान करना चाहते थे। वेद प्रताप वैदिक के अनुसार इसे "हिन्दी पत्रकारिता की आदि आज्ञा माननी चाहिए।..... उदंत मार्तण्ड का प्रकाशन हिन्दी के नये ज्ञान मार्तण्ड के उदय की विज्ञप्ति थी।"[1]

युगल किशोर सुकुल संस्कृत, फारसी, बंगला, अंग्रेजी और हिन्दी के विद्वान थे। उन्होंने 'उदंत मार्तण्ड' के प्रथम अंक के अंत में अपना परिचय संस्कृत में इन पंक्तियों द्वारा दिया था -

"युगल किशोरः कथयति धीरः
सविनयमेतत् सुकुलजवंशः
उदिते दिनकृत सति मार्त्तण्डे
तद्वत् विलसति लोक उदन्ते ।।

1- वेद प्रताप वैदिक - हिन्दी पत्रकारिता-विविध आयाम, पृ0 101

सुकुल जी में यह दूरदर्शिता भी थी, कि समाचारपत्र को सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाशित करने के लिए अपना प्रेस भी आवश्यक है। इसीकारण उन्होंने कलकत्ता में सन् 1826 में मार्तण्ड प्रेस की भी स्थापना की थी। उन्होंने जिस उदात्त भावना से पत्र-प्रकाशन आरम्भ किया था, उसे उन्होंने 'उदंत मार्तण्ड' के प्रथम संपादकीय में ही स्पष्ट कर दिया था - "यह उदंत मार्त्तण्ड पहले - पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेतु जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजों और पारसी और बंगला में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जानने व पढ़ने वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ और समझ लेंय औ पराई उपेक्षा न करें जो अपने भाषा की उपज न छोड़ें इसलिए बड़े दयावान करूणा और गुणनि के निधान सबके कल्याण के विषय गवर्नर जेनेरेल बहादुर की आयस से जैसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट-ठाटा ....।"[1] सत्य ही है कि प्रथम हिन्दी समाचार पत्र का नया ठाट ठाटने वाले युगल किशोर सुकुल ही थे। हिन्दी पत्र - कारिता के इस जन्मदाता की यह हार्दिक इच्छा थी कि हिन्दी भाषी अपनी निज भाषा में ही समाचार पढ़ कर उसका आनन्द लें और उसका महत्व समझें। युगल किशोर सुकुल जी ने 'उदंत मार्तण्ड' के आदर्श को पद्य में इस प्रकार लिखा था -

---

1- डॉ0 लक्ष्मी शंकर व्यास - हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता, पृ0 18 पर उद्धृत।

"दिनकर कर प्रगटत दिनहिं, यह प्रकाश अठ्याम,
ऐसी रवि अब उग्यो नहिं जेहि-जेहि सुख को धाम ।
उत कमलनि विकसित करत बढ़त चाव चित वाम ।
केत नाम या पत्र को होत हर्ष अरु काम ।"[1]

'उदंत मार्तण्ड' का अर्थ लोग उगता हुआ सूर्य समझते हैं । किन्तु वास्तव में उदंत का अर्थ समाचार है और मार्तण्ड का अर्थ है सूर्य । इस रूप में उदंत मार्तण्ड का अर्थ है - समाचार सूर्य ।

हिन्दी के इस आदि संपादक को डेढ़ वर्ष तक अपना पत्र प्रकाशित करने के बाद आर्थिक संकट के कारण 4 दिसम्बर 1827 को उसे बंद कर देना पड़ा, जिसकी सूचना उन्होंने निम्नांकित पंक्तियों में दी -

"आज दिवस लौ उगि चुक्यो मार्तण्ड उदन्त ।
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त ।।"[2]

उदंत मार्तण्ड यद्यपि द्विवेदी युग से बहुत पहले का पत्र था, किन्तु हिन्दी पत्रकारिता पर विचार करते समय इस पत्र की चर्चा करना परमा - वश्यक है, क्योंकि वही तो वह नींव का पत्थर है जिस पर हिन्दी पत्र - कारिता का वृहद भवन निर्मित हुआ । "जिस नवीन सामाजिक सांस्कृतिक चेतना ने सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य को नई दिशा दी है उसका उदय सर्वप्रथम बंगाल में ही हुआ था, फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी के अंत तक हिन्दी पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता ही रहा ।"[3]

1- डॉ0 लक्ष्मी शंकर व्यास - हिन्दी पत्रकारिता के युग निर्माता, पृ0 19.
2- क्षेमचन्द्र सुमन - हिन्दी के यशस्वी पत्रकार, पृ0 23 पर उद्धृत
3- डॉ0 नगेन्द्र - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 533.

नगेन्द्र जी के इस कथन से स्पष्ट है, कि हिन्दी साहित्य को नई दिशा देने का शुभ संकेत भी 'उदंत मार्तण्ड' ने ही दिया था ।

साहित्यिक पत्र-पत्रिकायें :

विश्व के विस्तृत फलक पर देखें, तो साहित्यिक पत्र का श्रीगणेश फ्रांस में हुआ था, जहाँ से सन् 1667 में 'द जरनल डेस सैक्टस' प्रकाशित होना शुरू हुआ था । इसे फ्रांसीसी पार्लियामेंट के एक सदस्य डेनिस डी सैलो ने पेरिस से निकाला था । आइजक डिसरेली के अनुसार यह विश्व का पहला साहित्यिक ही नहीं समालोचना का भी पत्र था । दूसरा पत्र 'नावेल्स डी ला रिपब्लिक डेस लेटरेस' सन् 1684 में बेल नामक एक जागरूक विद्वान द्वारा प्रकाशित किया गया । पेरिस का एक डाक्टर रेनाडो (Renaudot) अपने अस्पताल के रोगियों का मन बहलाने के लिए उन्हें रोचक विवरण तथा समाचार स्वयं लिख कर पढ़ने के लिए देता था । उसके अनुसार बड़े साहित्यिक ग्रन्थों के बजाय विविध विषयों पर छोटे विवरण लिख कर रोगियों को पढ़वाने से उनका मन रोग की चिन्ता से मुक्त होता है और रोगी प्रफुल्लित हो जाते हैं । उसका यह प्रयोग इतना सफल हुआ कि सन् 1632 ई0 में फ्रांस की सरकार से अनुमति लेकर रेनाडो ने विविध विषयक साप्ताहिक पत्र ही निकालना आरम्भ कर दिया ।

साहित्यिक पत्र प्रकाशन में दूसरा स्थान इंग्लैंड का है । इंग्लैंड के डेनियल डिफो ने साहित्य तथा समालोचना का पत्र 'द रिव्यू' निकाला था । रिचर्ड स्टील ने 'द टैटलर पत्रिका विविधा के रूप में ही निकाली

थी । बाद में सन् 1711 में प्रसिद्ध लेखक एडिसन और स्टील ने संयुक्त रूप से 'द स्पेक्टेटर' शीर्षक साहित्यिक पत्र प्रकाशित किया । और 35 साल बाद सन् 1749 में इंग्लैण्ड का सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्र 'द मंथली रिव्यू' प्रकाशित होने लगा ।

ब्रिटिश शासन की परतन्त्रता के काल में विश्व साहित्य के सम्पर्क में जब भारतीय साहित्यकार - पत्रकार आये, तो भारत में भी अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ । योरोपीय नवजागरण का प्रभाव सर्वप्रथम बंगाल में आने के कारण भारतीय भाषा का प्रथम बंगला भाषा में ही प्रकाशित हुआ । बाद में यह प्रभाव हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में भी अपना प्रसार करने लगा । हिंदी का पहला समाचारपत्र भी साप्ताहिक के रूप में 'उदंत मार्तण्ड' के शीर्षक से कलकत्ते से ही प्रकाशित हुआ । किन्तु पत्र-पत्रिका के प्रकाशन की जागरूकता तो बाद में उन सभी साहित्यकारों- पत्रकारों में प्रवाहित हुई, जो अपने लेखन को मुद्रित रूप में पाठक तक पहुंचाने को उत्सुक थे । इस युगीन प्रभाव के ही कारण उस समय का प्रत्येक साहित्यकार पत्रकार भी था, और प्रत्येक पत्रकार रचनाकार भी । हिन्दी पत्रकारिता के प्रथम उत्थान की कालावधि में सन् 1826 से 1867 के बीच अनेक पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुई, जिनमें से अधिकांश साप्ताहिक थीं । इन सभी में एक सबसे बड़ी समानता यह थी, कि इन सभी का संबंध जन - जागरण से था तथा जनता में राष्ट्रीयता और सामाजिक उत्थान की भावना प्रेरित करना ही इनका सबसे बड़ा उद्देश्य था । इनमें से अधिकांश पत्र - पत्रिकाओं का प्रकाशन कई-कई भाषाओं में हुआ करता था । किन्तु इनमें

हिन्दी भाषा के जिस रूप का प्रयोग किया जाता था, वह अव्यवस्थित थी और उसे टूटी - फूटी भाषा ही कहा जा सकता है ।

सन् 1868 से 1885 तक भारतेन्दु युग में साहित्यिक पत्रकारिता का उल्लेखनीय उत्थान हुआ । इस युग में हिन्दी के स्थिर स्वरूप-निर्धारण का कार्य आरम्भ हुआ । नवजागरण की भावना विकसित होनी आरम्भ हुई । 'कवि वचन सुधा' साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक रूप में 1868 में प्रकाशित हुई । उसके प्रकाशन से लेकर भारतेन्दु युग के अवसान के मध्य राष्ट्रीय चेतना में प्रखरता आने लगी । पत्र-पत्रिकाओं में गम्भीर साहित्यिक सामग्रियों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ और कुछ पत्रिकाओं का स्वरूप तो पूरी तरह साहित्यिक बन गया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन काल में प्रकाशित हुई पत्र-पत्रिकाओं में कुछ विशिष्ट नाम भी हैं, जिनमें 1868 में प्रकाशित 'कविवचनसुधा', सन् 1869 में प्रकाशित 'जगत समाचार', 1871 में प्रकाशित 'सुलभ समाचार', उसी वर्ष प्रकाशित मासिक 'बिहार बन्धु', 1873 में प्रकाशित 'चरणादि्र चन्द्रिका', 1873 में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', 1874 में 'बालाबोधिनी', 1874 में ही 'भारतबन्धु', 1875 में 'काशी पत्रिका' 1877 में 'हिन्दी प्रदीत', 1878 में 'कायस्थ समाचार', उसी वर्ष प्रकाशित 'आर्यमित्र' तथा 'उचित वक्ता', 1879 में 'भारत सुदशा प्रवर्त्तक', उसी वर्ष 'सार सुधा निधि', 1880 में 'क्षत्रिय पत्रिका', 1881 में 'आनन्दकादम्बिनी', 1882 में 'देवनागरी प्रचारक', 1883 में 'भारतेन्दु', 'ब्राह्मण', 'काशी समाचार' तथा 'इंदु', 1884 में 'कान्यकुब्ज प्रकाश' और सन् 1885 में प्रकाशित 'हिन्दोस्तान दैनिक' तथा 'भारतोदय दैनिक' प्रमुख हैं ।

सन् 1886 से सन् 1900 के बीच दो सौ से अधिक पत्र-पत्रिकायें हिन्दी में प्रकाशित हुईं। यह सभी पत्रिकायें महत्वपूर्ण भले ही न कही जा सकें, किन्तु उनसे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि हिन्दी भाषा लोकप्रिय हो रही थी, उसमें लेखन की ललक हिन्दी पत्रकारों-साहित्यकारों में बढ़ रही थी तथा जनजागरण की भावना को अपेक्षित व्यापकता प्राप्त हो रही थी। इस युग की विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में 1887 में प्रकाशित 'आर्यावर्त्त' 1888 में 'रहस्य चन्द्रिका', 1890 में 'हिन्दी बंगवासी', 1893 में 'नागरी नीरद', 1894 में 'साहित्य सुधानिधि', 1895 में 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' तथा 'विद्या - विनोद, 1896 में त्रैमासिक 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 1897 में 'समस्यापूर्ति तथा 'रसिक पत्रिका', 1898 में प्रकाशित 'उपन्यास' और 'पंडित' पत्रिका तथा सन् 1900 में प्रकाशित युग-प्रवर्त्तक पत्रिका 'सरस्वती' सम्मिलित हैं। यह एक बहुत बड़ा सत्य है, कि 'सरस्वती' का प्रकाशन साहित्यिक पत्रकारिता हिन्दी साहित्य तथा स्वयं हिन्दी भाषा के विकास और उत्थान में एक नयी दिशा की सूचना थी। 'सरस्वती' ने भावी हिन्दी साहित्य का स्वरूप - निर्धारण किया। इस पूरे युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विद्रोही स्वर मुखर हुआ था, जिसे व्यवस्थित, संयमित तथा सुदृढ़ दिशा-निर्देश देने का कार्य 'सरस्वती' ने किया। सन् 1900 में 'सरस्वती' का प्रकाशन तथा सन् 1903 में इसके संपादन का भार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को सौंपे जाने की घटना हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता के लिए निःसंदेह युगान्तकारी थी।

द्विवेदी युग मुख्य रूप से साहित्यिक पत्रकारिता का युग था । किन्तु इस युग में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही कुछ राजनीतिक पत्र भी प्रकाशित हुए, जो बाल गंगाधर तिलक और कालान्तर में महात्मा गांधी तथा उनकी विचारधारा से अनुप्राणित थे । युग की प्रमुख राजनीतिक पत्र -पत्रिकायें थीं - कलकत्ता से सन् 1904 में रुद्रदत्त शर्मा तथा सखाराम गणेश देउस्कर के संपादन में प्रकाशित 'हितवाणी', सन् 1907 में अम्बिका प्रसाद बाजपेयी के सम्पादकत्व में प्रकाशित साप्ताहिक 'नृसिंह', उसी वर्ष मदन मोहन मालवीय के संपादन में प्रकाशित 'अभ्युदय', पं० सुन्दरलाल के संपादन में निकले 'कर्मयोगी', कृष्ण कान्त मालवीय के संपादन में 1909 में प्रकाशित 'मर्यादा', सन् 1913 में शहीद संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी के संपादन में प्रकाशित 'प्रताप', सन् 1913 में कालूराम के संपादन में प्रकाशित 'प्रभा', तथा कलकत्ता से आरम्भ किये गये दो दैनिक पत्र सन् 1914 में प्रकाशित 'कलकत्ता समाचार' तथा 1918 में प्रकाशित 'विश्वमित्र' का दैनिक रूप ।

इस कालावधि में इलाहाबाद से प्रकाशित 'सरस्वती' के अतिरिक्त भी कई ऐसी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं, जिनका हिन्दी-साहित्य के विकास दिशा-निर्धारण तथा साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण स्थान था । 'सरस्वती' के प्रकाशन वर्ष सन् 1900 में ही काशी से मासिक पत्र 'सुदर्शन' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, जिसके संपादक देवकी नंदन खत्री तथा माधो प्रसाद मिश्र थे । सन् 1902 में जयपुर से मासिक पत्र 'समालोचक' का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, जिसके संपादक चंद्रधर शर्मा गुलेरी

थे । यह उल्लेखनीय है, कि हिन्दी साहित्य में गुलेरी जी को अमरत्व तो उनकी एकमात्र कहानी 'उसने कहा था' से प्राप्त हुआ था । किन्तु उन्होंने संपादन आलोचना के साहित्यिक पत्र 'समालोचक' का किया था । 'देवनागर' मासिक पत्र सन् 1907 में कलकत्ता से निकला था, जिसके संपादक उमापति दत्त शर्मा तथा यशोदा नंदन अखौरी थे । सन् 1909 में काशी से 'इन्दु' मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ हुआ । इसके संपादक अम्बिका प्रसाद गुप्त थे । इलाहाबाद से सन् 1912 में मासिक पत्र 'मनोरंजन' का प्रकाशन हुआ, जिसके संपादक ईश्वरी प्रसाद शर्मा थे । 'प्रभा' मासिक पत्र सन् 1913 में खण्डवा से निकला था, किन्तु सन् 1917 में यह पत्र साप्ताहिक हो गया और उसका स्वरूप राजनीतिक बन गया । 'पाटलिपुत्र' मासिक पटना से सन् 1914 में प्रकाशित हुआ था और इसके संपादक थे काशी प्रसाद जायसवाल । सन् 1914 में ही प्रकाशित 'हिन्दी केसरी', 1915 में 'तरंगिनी' 1918 में 'हिन्दी गल्प माला', 'सूर्य' तथा 'कालिंदी', सन् 1919 में 'नवजीवन', 'अहिंसा' तथा 'नागरी प्रचारिणी माला, सन् 1921 में 'उपन्यास बहार', 'देशदूत', 1923 में 'प्रियंवदा', 'ग्रामवासी' तथा 'बंग साहित्य' भी युग के उल्लेखनीय पत्र हैं । सन् 1923 में ही लखनऊ से प्रकाशित 'माधुरी' युग की वह महत्वपूर्ण पत्रिका थी, जिसमें 'सरस्वती' की समस्त साहित्यिक विशेषतायें विद्यमान थीं और इसका संपादन बाद के वर्षों में प्रेमचंद ने किया था । द्विवेदी युग के अवसान काल में काशी से प्रेमचंद के संपादन में 'हंस' का प्रकाशन भी कम महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना नहीं थी । यह मुख्य रूप से कहानी पत्रिका थी, किन्तु अन्य विधाओं की भी इस पत्र ने उपेक्षा नहीं की थी ।

साहित्य की समृद्धि, भाषा-परिष्कार, विविध विधाओं तथा शैलियों के विकास तथा साहित्यिक पत्रकारिता के अभ्युदय की दृष्टि से इस युग की पत्र-पत्रिकाओं का जो महान योगदान रहा है, उसके संदर्भ में आवश्यक है कि युग की कतिपय महत्वपूर्ण पत्रिकाओं की कुछ विस्तृत चर्चा भी की जाये।

युग की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकायें

युग की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक विविधा 'सरस्वती' की हम पिछले अध्यायों में बार-बार चर्चा करते आये हैं। अतः पुनः उसका विशद् विवेचन करने की अपेक्षा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि द्विवेदी जी के सम्पादकत्व में 'सरस्वती' ने भाषा, साहित्य, साहित्य-विधाओं तथा साहित्यिक पत्रकारिता को जो आदर्श स्वरूप-निर्धारण कर दिया था, वही भविष्य की पत्र-पत्रिकाओं तथा उनके रचनाकारों के लिए प्रकाश - स्तम्भ बन गया और उसकी प्रतिच्छाया बहुत समय तक साहित्य जगत में दिखती रही। साहित्यिक पत्रकारिता की विकास-यात्रा में 'सरस्वती' का जो अन्यतम अवदान है, उसने हिन्दी को एक नयी साहित्यिक भाषा देने के अतिरिक्त नयी विधायें, नयी शैलियाँ तथा नये रूप-विधान भी दिये, जिनकी आभा अनेक दशाब्दियों तक साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती रही।

माधुरी

द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में लखनऊ से प्रकाशित 'माधुरी', 'सरस्वती' की परम्परा में निकलने वाली सबसे अच्छी पत्रिका कही जा सकती है।

'माधुरी' के पास केवल आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का उत्कृष्ट संपादन न था, बाकी सब कुछ था। 'सरस्वती' ने साहित्य-सर्जकों की जो लम्बी पंक्ति खड़ी कर दी थी, उसने 'माधुरी' को श्रेष्ठ रचनाकारों की कमी नहीं अखरने दी। पत्रिका के आरम्भिक काल में दुलारे लाल भार्गव तथा रूप नारायण पाण्डेय ने 'माधुरी' का सम्पादन किया। बाद के वर्षों में इस पत्रिका के संपादक प्रेमचंद जैसे श्रेष्ठ कथाकार बने, जो द्विवेदी युगीन वैचारिक मान्यताओं के ही समर्थक और पोषक थे। अत: 'माधुरी' द्विवेदी जी की 'सरस्वती' की ही परम्परा को आगे ले जाने वाली पत्रिका बन गयी। 'माधुरी' के आरम्भिक वर्षों के संपादक दुलारे लाल भार्गव और रूप नारायण पाण्डेय कवि थे। स्वाभाविक था कि उनका कवि रूप उनके संपादकीय कृतित्व में भी प्रस्फुटित हो उठता था। विविध विषयों पर संपादकीय टिप्पणी करते समय भी उनकी भाषा में कवित्व अवश्य झलकता था। किन्तु उसके साथ ही उनका यह प्रयास अवश्य रहता था कि पत्रिका की समस्त सामग्री की भाषा - शैली विषयानुकूल ही हो। 'माधुरी' को द्विवेदी जी द्वारा सृजित साहित्यिक कृतिकारों का पूरा सहयोग मिला, क्योंकि 'माधुरी' से इन्हें पारिश्रमिक अच्छा मिला करता था और 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'माधुरी' ही एक ऐसी साहित्यिक विविधा थी जिसमें रचनायें प्रकाशित करवाना साहित्यिक संतोष की बात समझी जाती थी। 'माधुरी' में मैथलीशरण गुप्त, पं0 अयोध्या सिंह उपाध्याय, जगन्नाथ दास रत्नाकर, नाथूराम शंकर शर्मा, 'शंकर', सनेही, कामता प्रसाद गुरू, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, बदरीनाथ भट्ट, श्रीधर पाठक, बदरी नारायण उपाध्याय

सुभद्रा कुमारी चौहान, मुकुट धर शर्मा आदि कवियों की रचनायें प्रकाशित होती थीं । इसके प्रमुख गद्य लेखकों में प्रेमचन्द, सूर्य कुमार वर्मा, शिव पूजन सहाय, जयशंकर प्रसाद, उमा नेहरू, कृष्ण बिहारी मिश्र, बसंत लाल, प्राण नाथ विद्यालंकार, राजेश्वर प्रसाद सिंह हैं । 'माधुरी' में गद्य रचनाओं को ही अधिक स्थान मिला करता था । किन्तु बीच-बीच में कवितायें भी हुआ करती थीं । सुमन-संचय, विज्ञान-वाटिका, महिला - मनोरंजन, पुस्तक - परिचय, साहित्य सूचना, विविध विषय तथा चित्र-चर्चा इस पत्रिका के स्थायी स्तंभ थे । यात्रा-विवरण तथा दर्शन शास्त्र संबंधित लेख भी यदा-कदा प्रकाशित होते थे । अक्सर ही राजनीतिक विषयों पर भी सामग्री प्रकाशित होती थी । जहाँ संभव होता था, लेखों के साथ चित्र भी प्रकाशित किये जाते थे -उदाहरणार्थ मार्च 1924 में प्रकाशित इंग्लैंड में मजदूर दल' शीर्षक लेख के साथ कई चित्र भी प्रकाशित किये गये । चित्रों के साथ प्रकाशित लेखों में पाठकों की रुचि स्वाभाविक रूप से बढ़ ही जाती है ।

'माधुरी' में खड़ी बोली की विकास - यात्रा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया गया, किन्तु ब्रज भाषा की श्रेष्ठ कविताओं को प्रकाशित करने से 'माधुरी' को कोई परहेज न था ।

'माधुरी' की लोकप्रियता तथा साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा के कारण ही 'मनोरमा', 'महावीर', श्री शारदा', 'ज्योती', 'स्त्रीदर्पण', 'चाँद' तथा 'गृहलक्ष्मी' जैसी पत्रिकायें 'माधुरी' तथा 'सरस्वती' जैसे रूप - रंग में प्रकाशित हुई । किन्तु यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए

कि कोई भी पत्रिका श्रेष्ठता की दृष्टि से 'माधुरी' अथवा 'सरस्वती' के समकक्ष नहीं बन सकी ।

चाँद

इलाहाबाद से प्रकाशित तथा रामरख सिंह सहगल द्वारा संपादित 'चाँद' द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध की एक लोकप्रिय पत्रिका बन गई थी । इसका पूरा श्रेय इस पत्रिका में प्रकाशित सचित्र-सामग्री तथा शैली को था । युग चेतना, सुधारवादी दृष्टिकोण, समाज में गलित कोढ़ की तरह व्याप्त कुरीतियों पर तीखा प्रहार तथा व्यंग्य चित्रों तथा व्यंग्य रचनाओं का प्रकाशन इस पत्रिका के आकर्षण को द्विगुणित कर देता था । इतना अवश्य है कि 'चाँद' का व्यंग्य हल्का और उथला नहीं होता था । भाषा में प्रौढ़ता थी, वाक्य लम्बे अवश्य होते थे, किन्तु संयत । 'चाँद' के समपादकों की एक कमजोरी अवश्य थी, कि विषय-चयन तथा भाषा में तीखापन लाने की ललक में बहकर अक्सर वे संयम खो बैठते थे । 'चाँद' का 'मारवाड़ी अंक' इसका सबसे बड़ा उदाहरण है । इस अंक ने 'चाँद' को बदनामी भी दी, अपमान भी दिया और इसके प्रशंसक ही इसके कटु आलोचक बन गये ।

इन्दु

'इन्दु' काशी से सन् 1909 में अम्बिका प्रसाद गुप्त के संपादकत्व प्रकाशित हुई । बाद में इसका संपादन जयशंकर प्रसाद ने किया । कहा ज है कि प्रसाद जी ने 'इन्दु' का प्रकाशन आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के

आक्रोश व्यक्त करने के लिए किया था। प्रसाद जी को 'सरस्वती' की आदर्शवादिता पसंद नहीं थी। आचार्य द्विवेदी के अनुसार कविता का विषय मनोरंजक ही नहीं उपदेशपरक भी होना चाहिए, इसीलिए उन्होंने निराला की 'जूही की कली' को 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं किया। साधारण श्रृंगार-वर्णन को वे कवि की काव्य - प्रतिभा का दुरूपयोग मानते थे।

प्रसाद जी ने 'इन्दु' के माध्यम से द्विवेदी जी की इस प्रवृत्ति का विरोध किया। वे आत्मानुभूतिपरक भावुकता, सौंदर्य-बोध, प्रणयोन्माद और अभिव्यक्ति की स्वच्छन्द शैली का विकास करना चाहते थे। 'इन्दु' के पहले ही अंक में साहित्य के प्रति जयशंकर प्रसाद की यह दृष्टि दृष्टव्य है —

"साहित्य स्वतन्त्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी की परतंत्रता को सहन नहीं कर सकता। संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है वह साहित्य का विषय है।"[1] प्रसाद की छायावादी प्रकृति को सबसे पहले प्रश्रय प्रदान करने वाली पत्रिका 'इन्दु' ही थी।

'इन्दु' में सन् 1907 से 1916 तक प्रसाद की लगभग 118 कवितायें प्रकाशित हुई जिनमें बंगला के पयार, उर्दू की गजल और अंग्रेजी के सॉनेट छंदों को लेकर प्रसाद ने हिन्दी के क्षेत्र में नये प्रयोग किये हैं। ये कवितायें कुछ तो अतुकांत और मुक्त छंद की हैं। उनकी छः कहानियाँ, 'चंदा पंचायत,'

1- इन्दु, कला 1, किरण 1, सन् 1909 ई०

'ब्रह्मर्षि', 'गुलाम', 'चित्तौर का उद्धार' तथा 'ग्राम' 'इन्दु' में प्रकाशित हुई थीं ।...... इस काल में प्रसाद के चार नाटक 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री' और 'करुणालय' 'इन्दु' में प्रकाशित हुए । प्रसाद के इन प्रारम्भिक रूपकों से उनकी रचना-पद्धति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है । इन रूपकों में नान्दी पाठ और भरत वाक्य की योजना हुई है । यद्यपि प्रसाद की ये प्रारम्भिक रचनाएं ही हैं, पर इन्हीं रचनाओं पर 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त', 'अजातशत्रु' का स्वरूप निर्मित हुआ ।"[1]

'इन्दु' में रायकृष्ण दास, रामचन्द्र शुक्ल, पारसनाथ त्रिपाठी, अखोरी कृष्ण प्रसाद सिंह, रुद्र दत्त भट्ट, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, मैथिली शरण गुप्त, विश्म्भरनाथ जिज्जा, राजेश्वर प्रसाद सिंह आदि की रचनायें प्रकाशित होती थीं ।

'इन्दु' पत्रिका में कवितायें, संस्मरण, शब्दचित्र, रेखाचित्र कहानियाँ नाटक, पुस्तक समीक्षा, इतिहास एवं विज्ञान संबधी लेख तथा आलोचनात्मक लेख भी प्रकाशित होते थे । 'पुस्तक-परिचय', स्तम्भ में समालोचना काफी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत की जाती थी -

"चैत्र अंक मेरे सामने है । स्थान-स्थान पर कई एक छोटी-छोटी भूलें रह गयी हैं । नहीं जानता वे भूलें लेखकों की हैं या छापने वालों की कहीं निवेदन 'स्त्रीलिंग हो गया है तो कहीं 'स्त्रियों', 'कानोंपर डाला' इत्यादि । ऐसी ही और भी कई भूलें हैं, जिन्हें दिखाना मैं व्यर्थ समझता हूं ।"[2]

1- डॉ0 कुसुम अग्रवाल, बीसवीं शताब्दी : दो दशक, पृ0 34-35.
2- इन्दु, 1915.

मर्यादा
=====

'मर्यादा' का प्रकाशन कृष्ण कान्त मालवीय के सम्पादकत्व में प्रयाग के 'अभ्युदय' प्रेस से हुआ था, किन्तु बाद में यह काशी के ज्ञानमण्डल प्रेस से प्रकाशित होने लगी । 'सरस्वती' के समान ही इसे भी साहित्य में सम्मान पूर्ण स्थान प्राप्त था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वदेशी भाषा के जिस आन्दोलन का शुभारम्भ किया था, उसे 'मर्यादा' ने गति प्रदान की ।

'मर्यादा' में उस समय के प्रायः सभी लेखकों की रचनायें प्रकाशित होती थीं । इसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, मिश्र बन्धु, बालकृष्ण भट्ट राजेश्वर प्रसाद सिंह आदि साहित्यिक विषयों पर और मोहनदास करमचंद गांधी, लाला लाजपत राय, सरोजिनी नायडू, रामेश्वर नेहरू, यदुनाथ सरकार, एनीबेसेन्ट, पुरूषोत्तम दास टण्डन आदि राजनीतिक विषयों पर 'मर्यादा' में लेख लिखते थे । 'इन्दु' तथा 'सरस्वती' की तरह 'मर्यादा' ने भी हिन्दी साहित्य के विकास की दिशा निर्धारितकरने में उल्लेखनीय योगदान किया ।

नवनीत
=====

लक्ष्मी नारायण गर्दे के सम्पादकत्व में 'नवनीत' पत्रिका का प्रकाशन काशी से सन् 1913 में हुआ । 'नवनीत' ने हिन्दी साहित्य के विकास में उल्लेखनीय योगदान प्रदान किया था । इस पत्रिका के दो स्थायी स्तम्भ थे - प्रासंगिक विचार और साहित्य-स्वागत । 'प्रासंगिक विचार' स्तंभ के अन्तर्गत तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति पर मौलिक चि

प्रस्तुत किया जाता था ।

'नवनीत' पत्रिका के लिए राजनीतिक लेख लिखने वालों में बाबू राव विष्णु पराड़कर और सम्पूर्णानंद जैसे सुधी सम्पादक और ओजस्वी मनीषी भी थे । इसके 'पुस्तक समीक्षा' स्तंभ के अन्तर्गत नयी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के गुण-देष का सम्यक् विवेचन किया जाता था । इसमें संपादकों और लेखकों की त्रुटियां भी निकाल कर रख दी जाती थीं ।

बालकृष्ण भट्ट की 'शिक्षा दान' की समीक्षा 'नवनीत' में इस प्रकार छपी थी - " भट्टजी के विचार उनकी भाषा और उनके कार्य से जिन्हें परिचय नहीं ऐसा मनुष्य हिन्दी सुशिक्षित समाज में नहीं है । उन्हीं भट्टजी की पुस्तक की प्रशंसा हम क्यों करें, सभी लोग कर रहे हैं । हम इतना अवश्य कहेंगे कि जिन्हें हिन्दी की प्रकृति का परिचय पाना हो तो वे भट्ट जी की पुस्तक अवश्य पढ़ें ।"[1]

त्याग भूमि

हरिबाबू उपाध्याय के संपादकत्व में 'त्यागभूमि' का प्रकाशन आरम्भ हुआ । 'त्यागभूमि' ने गांधीवादी आदर्शों का प्रचार-प्रसार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । यह पत्रिका अपनी सादगी के लिए बहुत प्रसि थी ।

दैनिक पत्र

साहित्यिक पत्रकारिता तथा साहित्य-प्रधान पत्र-पत्रिकाओं की चर्चा करते समय, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि द्विवेदी -

---

1- नवनीत, वैशाख , सं0 1961, पृ0 580.

युगीन काल-खण्ड में दैनिक पत्र भी हिन्दी में निकाले गये, जिनका कलेवर समाचार-प्रधान हुआ करता था । यह बात अलग है कि उस समय का समाचार-लेखन आज जैसा कदापि नहीं था । उस पर भी साहित्यिक पत्र - कारिता का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था । खोजी पत्रकारिता जैसा सनसनीखेज और रोचक समाचार-लेखन उनमें नहीं था ।उस समय न आज जैसे लुभावने शीर्षक थे, न आकर्षक पेज मेकप, न वर्गीकृत समाचार प्रस्तुतिकरण । किंतु समाचार जो भी लिख जाते थे, उनमें साहित्यिक पुट के साथ ही राष्ट्रीय चेतनायुक्त तीखा तेवर भी होता था । साहित्यिक पत्रकारिता तथा समाचार लेखन में राजनीतिक - सामाजिक चेतना, राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय अस्मिता के प्रति सचेष्ट लगाव सामान्य रूप से व्याप्त था । दोनों की अन्तर्धारा एक जैसी थी । मिशन जैसी भावना और उससे उद्‌भूत ईमानदार तीखापन दोनों में ही सर्वत्र उजागर होता था ।

द्विवेदी युग में हीकाशी से 'आज' जैसा दैनिक प्रकाशित हुआ, जिसका राष्ट्रीय स्वर अत्यधिक प्रेरक था । राष्ट्रीय चेतना की जो धारा सौम्य रूप में द्विवेदीजी की 'सरस्वती' में प्रवाहित थी, वही 'आज' और गणेश शंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' में ऐसी आग उगलती चलती थी, जिसका ताप दूर - दूर तक अपना असर छोड़ता था । 'विश्वमित्र', 'आर्यमित्र', 'सैनिक', 'अभ्युदयों' जैसे दैनिक भी प्रकाशित हुये, जिनके पत्रकारी लेखन में भी विद्रोही स्वर व्याप्त रहता था । पूरे युग में चौवालिस दैनिक - पत्र निकले, और उन सब में राष्ट्रीय चेतना तथा विदेशी शासन के विरूद्ध विद्रोही स्वर समान रूप से कहीं कम कहीं अधिक व्याप्त था । तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक

जीवन पर उनका प्रभाव भी पड़ा और विशुद्ध समाचार-प्रधान दैनिक पत्रों के भावी युग का आभास भी इन पत्रों ने दिया । किंतु इसके बावजूद उस युग को दैनिक पत्रों तथा समाचार - प्रधान पत्रकारी लेखन का युग नहीं माना जा सकता । युग तो वह साहित्यिक पत्रकारिता और साहित्य-प्रधान विविधाओं का ही था । यह भी अकाट्य सत्य है कि वह साहित्यिक पत्रकारिता का ऐसा स्वर्ण युग था, जो आगे कभी लौट कर पुन: आयेगा यह संदेहास्पद ही है ।

द्विवेदी युगीन पत्र - पत्रिकाओं का विवरण सन् 1900 से 1925 तक

दैनिक पत्र

क्रम संख्या	पत्र का नाम	संपादक	प्रकाशक	प्रकाशक तिथि	भाषा	टिप्पणी
1-	आनंद	महेशनाथ	शिवनाथ लखनऊ	1904	केवल हिंदी	
2-	सम्राट	रमेश सिंह	कालाकांकर	1908	-	
3-	भारत मित्र	ठाकुर कृष्ण नारायण सिंह	कलकत्ता	1912	-	
4-	कानपुर गजट	-	कानपुर	1913	-	
5-	हिन्दी बिहारी	-	बांकीपुर, पटना	1913	-	
6-	भारत जीवन	रामचन्द्र वर्मा	श्रीकृष्ण वर्मा काशी	1914	-	
7-	अभ्युदय	पं0 मदन मोहन मालवीय	प्रयाग	1915	-	
8-	आनंद	-	लखनऊ	1917	-	
9-	विश्वमित्र	मूलचन्द्र अग्र - वाल बी0ए0	कलकत्ता	1917	-	
10 -	प्राविंशल प्रेस ब्यूरो	संयुक्त प्रांत, आगरा व अवध प्रान्त सरकार	प्रयाग	1918	हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी	
11-	लड़ाई का अखबार	डॉ0 गारफिल्ड विलियमस तथा सत्यानंद जोशी	पब्लिसिटी कमेटी, प्रयाग	1918	-	

12- सूर्य	हेरम्ब मिश्र	काशी	1918	हिन्दी	दैनिक
13- विजय	बलभद्र विद्या-लंकार	दिल्ली	1919	-	
14- वीरभारत	-	दिल्ली	1919	-	
15- आज	श्रीप्रकाश, बी0 ए0	शिव प्रसाद गुप्त, भारत समाचार समिति, काशी	1920	-	
16 प्रताप	गणेश शंकर विद्यार्थी	कानपुर	1920	-	
17- भविष्य	सुन्दरलाल	प्रयाग	1920	-	
18- भावनामा	-	गुजरानवाला	1920	-	
19- लोकमत	-	कानपुर	1920	-	
20- वर्तमान	विश्वम्भरनाथ जिज्जा	कानपुर	1920	-	
21- साम्यवादी	मूलचंद्र अग्रवाल	विश्वमित्र कार्यालय, कलकत्ता	1920	-	
22- स्वतंत्र	अम्बिका प्रसाद बाजपेयी	कलकत्ता	1920	-	
23- स्वराज्य	-	दिल्ली	1920	-	
24- हिन्दी समाचार	-	दिल्ली	1920	-	
25- आदर्श	-	कस्तूरी नारायण कानपुर	1921	-	
26- तिलक	रामचरणलाल शर्मा	जबलपुर	1921	-	
27- प्रकाश	-	कलकत्ता	1922	-	

28- मातृभूमि		कानपुर	1922	हिन्दी
29- वंदेमातरम्	पंचशिख भट्टाचार्य	कलकत्ता	1922	-
30- विक्रम	नारायण प्रसाद अरोड़ा, बी0ए0	कानपुर	1922	-
31- स्वराज्य	विश्वम्भर नाथ बाजपेयी	उन्नाव	1922	-
32- अर्जुन	इन्द्र विद्या वाचस्पति	दिल्ली	1923	-
33- नवयुग	गौरीशंकर मिश्र	प्रयाग	1923	-
34- नवयुग	राधामोहन गोकुल जी देवकीनंनदन विभो	आगरा	1923	-
35- प्रकाश	बल्देव प्रसाद मास्टर	सागर	1923	-
36- ब्रह्मऋर्षि	-	पटना	1923	-
37- कलकत्ता समाचार	झाबरमल शर्मा	कलकत्ता समाचार लि0	1914	-
38- विजय	नारायणदत्त कश्यप	नागपुर	1923	-
39- व्यापार	पं0 रमाशंकर	कलकत्ता	1923	-
40- प्रणवीर	भैयालाल सती-दास	नागपुर	1924	-
41- प्रेत	-	लखनऊ	1924	-
42- आर्यमित्र	हरिशंकर शर्मा कविरत्न	आर्य प्रति - निधि सभा, आगरा	1925	
43- भविष्य	राम रतन द्विवेदी	कानपुर .	1925	-
44- सैनिक	श्रीकृष्णदत्त पाली -	आगरा	1925	-

द्विवेदी युगीन साप्ताहिक

क्रम सं0	पत्र	प्रकाशन
1-	आर्य जगत	लाहौर
2-	तरूण राजस्थान	अजमेर
3-	रंगीला	गयाधाम
4-	प्रेम	वृन्दावन
5-	अग्रसर	कलकत्ता
6-	कर्त्तव्य	इटावा
7-	हिन्दी केसरी	बनारस
8-	महिला सुधार	कानपुर
9-	गरीब	बिजनौर
10-	तिरहुत समाचार	मुजफ्फरपुर
11-	मारवाड़ी ब्राह्मण	कलकत्ता
12-	सिन्धु समाचार	शिकारपुर
13-	देश	पटना
14-	शंकर	मुरादाबाद
15-	हिन्दी राजस्थान	देहली
16-	मारवाड़ी	नागपुर
17-	मतवाला	कलकत्ता
18-	मौजी	कलकत्ता

19-	जैन मित्र	सूरत
20-	उदय	सागर
21-	शक्ति	अल्मोड़ा
22-	श्रमिक	कलकत्ता
23-	स्वदेश	गोरखपुर
24-	महावीर	हरिद्वार
25-	सूर्य	काशी
26-	भविष्य	कानपुर
27-	कैलाश	मुरादाबाद
28-	हिन्दू सम्बन्ध सहायक	सहारनपुर

द्विवेदी युगीन अर्द्ध साप्ताहिक

1-	प्रणवीर	नागपुर

युग के पाक्षिक पत्र

1-	गढ़वाली	देहरादून

युग के मासिक पत्र

1-	सानाढ्य हितकारी	झाँसी
2-	विद्यार्थी	प्रयाग
3-	देशबन्धु	कलकत्ता

4-	हिन्दी प्रचारक	मद्रास
5-	शिशु	प्रयाग
6-	हलवाई वैश्व संरक्षक	काशी
7-	सम्मेलन पत्रिका	प्रयाग
8-	ब्राह्मण सर्वस्व	इटावा
9-	गहोई वैश्य सेवक	उरई
10-	प्रजा सेवक	हुशंगाबाद
11-	द्विजराज	प्रयाग
12-	कलवार क्षत्रिय मित्र	प्रयाग
13-	ब्रह्मचारी	हरिद्वार
14-	भ्रमर	बरेली
15-	सरस्वती	प्रयाग
16-	महिला महत्त्व	कलकत्ता
17-	प्रभा	कानपुर
18-	निगमागम चन्द्रिका	बनारस
19-	मालव मयूर	काशी
20-	सानाढ्योपकारक	आगरा
21-	ब्राह्मण	देहली
22-	सुखमार्ग	अलीगढ़
23-	हिन्दी गल्प माला	काशी
24-	बिजारत	शाहजहाँपुर

25-	सम्प्रदाय	बड़ौदा
26-	परमार बंधु	जबलपुर
27-	बरन बाल चन्द्रिका	काशी
28-	अनुभूत योग माला	इटावा
29-	क्षत्रिय मित्र	काशी
30-	गृहलक्ष्मी	प्रयाग
31-	छत्तीसगढ़	रामगढ़
32-	बालसखा	प्रयाग
33-	माधुरी	लखनऊ

द्विवेदी युगीन फुटकर अनियतकालिक पत्र

1-	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	काशी
2-	कान्फरन्स	अजमेर
3-	युगान्तर	कलकत्ता
4-	लोकमान्य	बाँदा
5-	कान्यकुब्ज	काशी
6-	धर्म रक्षक	कलकत्ता
7-	महिला सुधाकर	कानपुर
8-	महेश्वरी	कलकत्ता
9-	सनातन धर्म	कलकत्ता
10-	समालोचक	सागर

11-	ेमहेशवरी सुधाकर	अजमेर
12-	समालोचक	फर्रुखाबाद
13-	समन्वय	कलकत्ता
14-	सावधान	कलकत्ता
15-	नाई ब्राह्मण	कानपुर
16-	आर्य	लाहौर
17-	शिक्षामृत	नरसिंहपुर
18-	मोहनी	दामोह
19-	आभीर समाचार	शिकोहाबाद
20-	जैन गजट	कलकत्ता
21-	क्षत्रिय वीर	पाँड़ी
22-	योग प्रचारक	काशी
23-	कलाधन मित्र	भागलपुर
24-	कलवार केसरी	लखनऊ
25-	कवि कौमुदी	प्रयाग
26-	दिगम्बर जैन	सूरत
27-	जैन महिला आदर्श	सूरत
28-	साध्वी सर्वस्व	प्रयाग
29-	कूर्मि क्षत्रिय हितैषी	पन्नागार

30-	स्वास्थ्य	कानपुर
31-	शान्ति	सहारनपुर
32-	शिक्षा प्रभाकर	अलीगढ़
33-	प्रताप	कानपुर
34-	शिक्षा सेवक	पटना

उपसंहार

द्विवेदी - युग की साहित्यिक गतिविधियां हिंदी पत्रकारिता और रचनात्मक लेखन के संबंध का स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व की हैं । साहित्य और पत्रकारिता के परस्पर अन्योन्याश्रित होने का जो स्वस्थ आधार उस युग में बना, वह उस युग के राष्ट्रीय जागरण की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के रूप में विशेष रूप से रेखांकित करने योग्य है । यद्यपि द्विवेदी युग में समाचार-प्रधान पत्र पत्रिकाओं का अभाव था, लेकिन फिर भी पत्रकारिता का आदर्श रखने और पत्र-पत्रिकाओं को सामाजिक तथ्यों के विवेचनापूर्ण प्रतिफलन के योग्य बनाने में द्विवेदी जी और उनके सहयोगियों का योगदान अप्रतिम है ।

जब हम पत्रकारिता की बात करते हैं, तो हमारी दृष्टि में आज के परिप्रेक्ष्य में समाचार पत्र का ही चित्र उभरता है, किन्तु पत्रकारिता इतनी छोटी सीमा में बंधने वाली कला नहीं है । समाचार वास्तव में समाचार पत्रों के अस्तित्व के पूर्व भी थे, और उनका सम्प्रेषण करने वाले पत्रकार भी किसी - न - किसी रूप में विद्यमान थे, भले ही उन्हें पत्रकार न कहा जाता रहा हो । पत्रकारिता मूल रूप से मनुष्य की इस जिज्ञासा पर आधारित है, कि इसके चारों ओर व्याप्त संसार में क्या घटित हो रहा है । यह जिज्ञासा मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, जो उसके अस्तित्व के आरम्भ से ही उसमें विद्यमान रही है । यही नहीं, अपने चारों ओर घटित हो रहे घटना-क्रम तथा चारों ओर व्याप्त नये विचारों को किसी

और से कह डालने की उत्कंठा भी मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, और इसी में पत्रकार के बीज विद्यमान हैं।

साहित्यिक पत्रकारिता का युग हिन्दी में सन् 1867 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ आरम्भ हुआ। सन् 1885 में भारतेन्दु युग के समापन के साथ ही धार्मिक तथा सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने के उद्देश्य से अपनायी गयी प्रचार प्रवृत्ति पत्रकारिता पर हावी थी। कुछ साहित्यिक पत्र थे भी तो उनकी लोकप्रियता नगण्य थी। सन् 1900 में प्रकाशित 'सरस्वती' तथा 1903 में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा पत्रिका का सम्पादन भार ग्रहण करने के साथ ही साहित्यिक पत्रकारिता का स्वर्ण युग आरम्भ हुआ। हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य के विकास में 'सरस्वती' का सर्वश्रेष्ठ स्थान बन गया। सरस्वती' अपने युग का दस्तावेज बन गयी। अन्य पत्रिकाओं ने भी 'सरस्वती' का ही अनुकरण किया। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक उत्थान के स्वर भी पत्रकारी लेखन ही नहीं रचनात्मक कृतियों में भी प्रतिध्वनित हुए।

भरतमुनि का महावाक्य "सरस्वती श्रुति महती न हीतयाम" अर्थात 'सरस्वती' ऐसी श्रुति है जिसका कभी नाश नहीं होता, सर्जनात्मक साहित्य के लिए, पूरी तरह सत्य है। वास्तविक सर्जनात्मक साहित्य वही है, जो कभी नष्ट नहीं होता। भरतमुनि का यही महावाक्य 'सरस्वती' का सिद्धान्त वाक्य था। इसी वाक्य के निहितार्थों को पल्लवित करके तथा अनन्त विस्तार देकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने युग की

साहित्यिक पत्रकारिता तथा रचनाधर्मिता को अमरत्व प्रदान कर दिया । आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' को हिन्दी साहित्य, साहित्यिक पत्रकारिता तथा संपादन-कला का अलम्बरदार बना दिया । द्विवेदी जी ने रचनाकार ही नहीं, युग के श्रेष्ठ पत्रकारों को भी प्रेरित किया था । गणेश शंकर विद्यार्थी और पराड़कर जैसे श्रेष्ठ पत्रकार द्विवेदी जी तथा उनकी 'सरस्वती' की ही देन थे ।

द्विवेदी जी के विषय-चयन में विविध आयामी दृष्टि कार्य करती थी। ज्ञान - राशि के संचित कोश को ही वे साहित्य की मान्यता देते थे । ज्ञान-राशि को साहित्य के माध्यम से पाठकों तक संप्रेषित कर देने की कला को ही वे साहित्य तथा पत्रकारिता का परम लक्ष्य मानते थे । इसके लिये साहित्य की जो भी विधा उन्हें उपयुक्त लगी, उसे उन्होंने अपनाया और लोकप्रिय बनाया । उपयोगी साहित्य ही उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ था । और लोकादर्श की स्थापना साहित्य का परमलक्ष्य यही कारण था कि 'सरस्वती' हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के विकास और हिन्दी गद्य साहित्य की समृद्धि के लिये नव-क्रान्ति का संदेश लेकर साहित्य में उपस्थित हुई ।

हिन्दी की समृद्धि में 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं का योगदान साहित्यिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण था ही, हिन्दी भाषा की दृष्टि से भी वह अत्यधिक महत्वपूर्ण था । द्विवेदी जी ने भारत जैसे बहुजातीय तथा बहुभाषी देश के लिये एक सर्वमान्य भाषा की आवश्यकता को महसूस किया था । और उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया था, कि

नव-विकसित हिन्दी ही राष्ट्र की सम्पर्क भाषा का गौरव प्राप्त कर सकती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पत्रकारिता और रचनात्मक लेखन के बीच जो रिश्ता द्विवेदी जी के युग की प्रेरणाओं से निर्मित हुआ था, वह जितनी महत्वपूर्ण भूमिका हिंदी साहित्य के विकास में निभा रहा था, उतना ही महत्वपूर्ण योगदान हिन्दी पत्रकारिता के विकास में दे रहा था । लेकिन उपसंहार में पत्रकारिता तथा रचनाधर्मिता के उस वर्तमान परिदृश्य का विश्लेषण करना भी आवश्यक है, जो द्विवेदी युग के सन्दर्भ में बिलकुल ही बदला हुआ प्रतीत होता है । जहाँ पत्रकारी लेखन तथा रचनात्मक लेखन आकाश की ऊँचाइयों को छू रहा है, वहीं संकट भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । साहित्यिक पत्रकारिता लुप्तप्राय है । जो साहित्यिक पत्र निकलते भी थे, वे या तो बन्द हो गये, या अपना कलेवर पूरी तरह बदल कर राजनीतिक स्वरूप धारण कर चुके हैं । वास्तव में यह युगीन प्रभाव ही कहा जायगा । स्वतंत्रता के बाद की बदली हुई परिस्थितियों में राजनीति और कहना चाहिए कि दिग्भ्रमित राजनीति ही सर्वोपरि हो गई है, बाकी कुछ गौण बन चुका है । पाठक की रुचि भी दिग्भ्रान्त हो कर राजनीति के मायाजाल में फँस चुकी है । पाठक को सृजनात्मक साहित्य उतना नहीं लुभाता, जितना राजनीतिक खोजी-रपट - ऐसी रपट जो खोज बीन करते-करते और समाचारों के पीछे की बातों की खोज-खबर लेते-लेते अक्सर पीत पत्रकारिता की सीमायें छूने लगती हैं, लेकिन उसकी चटपटेपन का स्वाद पाठकों को लुभा लेता है । बात खोजी - रपट के विरोध की

नहीं है, बात सौम्यता और ईमानदारी की लक्ष्मण रेखा को लांघ कर रपट को सनसनीखेज बनाने की है, जो औचित्य की परिधि तो तोड़ ही देती है। साहित्यिक पत्रकारिता के नाम पर कुछ पत्रिकायें निकलती भी हैं, तो केवल स्वान्तःसुखाय और लघु रूप में-बहुत कम प्रचार-प्रसार, केवल रचनाकारों और चन्द साहित्य-प्रेमियों के बीच वितरित। दूकानों पर जिनका कोई विक्रय नहीं, आम पाठकको जिनमे कोई रुचि नहीं। जब सर्जनात्मक साहित्य में ही आम पाठक को कोई रुचि नहीं रही, तो साहित्यिक पत्रिकाओं में रुचि कैसे हो? यह एक संकट है - ऐसी पत्रिकाओं पर ही नहीं, साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता पर भी।

महावीर प्रसाद द्विवेदी, पराड़कर और गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे समर्पित सम्पादकों का स्थान वर्तमान युग में सुविधाभोगी सम्पादकों ने ले लिया है, जिनके लिए पत्र-मालिक और सत्ता के बीच सम्पर्क साधना अनिवार्यता है। ऐसे भी सम्पादक हैं, जो स्वयं पत्र के मालिक हैं, क्योंकि सम्पादक होना अति महत्वपूर्ण व्यक्ति बन जाना है, जो बड़े-से-बड़े उद्योग - पति के लिए भी सम्भव नहीं होता। एक ओर आर्थिक दबाव से त्रस्त पत्रकार हैं, दूसरी ओर लम्बे वेतन भोगी आधुनिक सुविधा सम्पन्न सम्पादक। दोनों के बीच गहरी खाई, बहुत बड़ी असमानता। यह ऐसे संकट हैं, जिन्होंने वर्तमान पत्रकार जगत तथा पत्रकारी - लेखन को आक्रान्त कर रखा है। ये संकट स्वाभिमान-सम्पन्न, ईमानदार पत्रकार-रचनाकार को यह सोचने के लिए भी विवश करते हैं, कि समाज और राजनीति को नई दिशा देने वाले, सत्ता को उलट देने तक की क्षमता रखने वाले पत्रकारी-

लेखन को यह त्रासदी किस सीमा तक ले जायगी और पत्रकारिता की आदर्शवादी लक्ष्मणरेखा के पार किन सरहदों तक पीत पत्रकारिता को छूने वाला पत्रकारी-लेखन जायगा ? यह भी प्रश्न उठता है, कि इन संकटों के बीच से स्वर्ण - मार्ग निकालने की क्षमता रखने वाला कोई महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसा सम्पादक पुन: अवतरित होगा भी या नहीं ? पत्र - कारिता के विकास-क्रम में यह भी एक पड़ाव ही है, ऐसा पड़ाव जो पत्र - कारों-रचनाकारों के लिए गहन विचार-मंथन का भी पड़ाव है ।

सहायक ग्रन्थों की तालिका

[क] हिन्दी ग्रन्थ

रचनाकार	रचना	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष	संस्करण
अम्बिका प्रसाद बाजपेयी	समाचारपत्रों का इतिहास	-	-	प्रथम
ओंकार नाथ शर्मा	हिन्दी निबन्ध का विकास	-	-	-
उदयभानु सिंह	महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	लखनऊ विश्व-विद्यालय	सं0 2008	प्रथम
कमलापति त्रिपाठी एवं पुरुषोत्तम दास टंडन	पत्र और पत्रकार	ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी	सं0 2002	प्रथम
डॉ0 केसरी	आधुनिक काव्य	प्रकाशन केन्द्र लखनऊ	-	प्रथम
किशोरी लाल गुप्त	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	हिन्दी प्रचारक बनारस	सन् 1956	प्रथम
डॉ0 गंगानाथ झा	आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का विकास	हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग	-	द्वितीय
डॉ0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	हिन्दी गद्य के युग निर्माता	-	सन् 1951	प्रथम
डॉ0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा	हिन्दी की गद्य शैली का विकास	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	संवत् 1996	प्रथम
जयशंकर प्रसाद	प्रेम पथिक	लक्ष्मी नारायण प्रेस बनारस	-	प्रथम
जयशंकर प्रसाद	करुणालय	भारती भण्डार काशी	-	प्रथम

जवाहरलाल नेहरू	मेरी कहानी	सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली	सन् 1936	प्रथम
दान बहादुर पाठक	मैथलीशरण गुप्त और उनका साहित्य	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	-	प्रथम
द्वारका प्रसाद गुप्त रसिकेन्द्र	आत्मार्पण	-	-	प्रथम
डॉ० देवी प्रसाद गुप्त	हिन्दी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन	अपोलो पब्लि - केशन जयपुर	सन् 1968	प्रथम
डॉ० नगेन्द्र	हिन्दी साहित्य का इतिहास	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली	सन् 1973	प्रथम
नरेन्द्र देव	हिन्दी साहित्य का इतिहास	-	-	-
नंद दुलारे बाजपेयी	आधुनिक साहित्य-	भारती भण्डार इलाहाबाद	-	प्रथम
पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	हिन्दी गद्य शैली का प्रभाव तथा दान	साहित्य भवन, प्रयाग	-	-
पूनमचन्द्र तिवारी	द्विवेदी युगीन काव्य	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल	सन् 1972	प्रथम
प्रेमनारायण टंडन	द्विवेदी मीमांसा	-	-	प्रथम
डॉ० ब्रज भूषण सिंह 'आदर्श'	पत्रकार जगत	प्रताप प्रकाशन गंजीपुर, जबलपुर	सन् 1969	प्रथम
बी० एस० ठाकुर और सुशील कुमार पाण्डेय	हिंदी पत्रों के संपादक	स्वतंत्र प्रकाशन मंडल, लखनऊ	-	प्रथम
बैजनाथ सिंह 'विनोद'	द्विवेदी पत्रावली	-	-	-
डॉ० भारत भूषण अग्रवाल	हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव	दिग्दर्शनचरण जैन, ऋषभचरण जैन एवं सन्तति दिल्ली-6	सन् 1971	प्रथम

महावीर प्रसाद द्विवेदी	शिक्षा	इंडियन प्रेस प्रयाग	सन् 1916	प्रथम
महावीर प्रसाद द्विवेदी	कविता-लाप		1921	प्रथम
महावीर प्रसाद द्विवेदी	साहित्य की महत्ता (निबन्ध)	-	-	-
माधुरी दुबे	हिन्दी गद्य का वैभव काल	दिल्ली विश्व - विद्यालय		प्रथम
महावीर प्रसाद द्विवेदी	रसज्ञ रंजन	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा	सन् 1986	[illegible]
महावीर प्रसाद द्विवेदी	कवि-कर्त्तव्य	इंडियन प्रेस, प्रयाग	सन् 1914	प्रथम
डॉ० मु० व० शाह	हिन्दी निबन्धों का शैलीगत अध्ययन	-	-	-
मैथिली शरण गुप्त	किसान	साहित्य सदन, झाँसी	-	-
मैथिली शरण गुप्त	जयद्रथ वध	-	-	प्रथम
मैथिली शरण गुप्त	शकुन्तला	-	-	-
मैथिली शरण गुप्त	साकेत	-	-	-
डॉ० रवीन्द्र भ्रमर	हिन्दी के आधुनिक कवि	भारती प्रकाशन, मंदिर, दिल्ली	सन् 1964	प्रथम
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	सं० 2047	तेईसवाँ
डॉ० रामरतन भटनागर	हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	इलाहाबाद प्रेस, इलाहाबाद	-	प्रथम
डॉ० राम रतन भटनागर.	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	किताब महल प्रयाग	-	प्रथम

डॉ० राम सकल राय शर्मा	द्विवेदी युग का हिंदी काव्य	अनुसंधान प्रकाशन कानपुर	सन् 1966	प्रथम
डॉ० राम मूर्ति त्रिपाठी	हिन्दी साहित्य का इतिहास	-	-	-
डॉ० राम विलास शर्मा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	-	प्रथम
डॉ० रवीन्द्र सहाय	हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव	गोरखपुर विश्व - विद्यालय	सन् 1960	प्रथम
रमाकान्त त्रिपाठी	हिन्दी गद्य मीमांसा	हिन्दी साहित्य माला कार्यालय, कानपुर	सन् 1926	प्रथम
रामदास गौड़	हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थ	हिन्दुस्तानी ऐकेडमी - इलाहाबाद		-
रामचरित उपाध्याय	रामचरित चिन्तामणि	ग्रंथमाला कार्यालय, बाँकीपुर	सन् 1920	प्रथम
रामनरेश त्रिपाठी	मिलन	हिन्दी मंदिर प्रयाग	सन् 1988	-
रामनरेश त्रिपाठी	पथिक	"		द्वितीय
डॉ० रामरतन भटनागर	हिन्दी गद्य	किताब महल, इलाहाबाद	सन् 1948	प्रथम
डॉ० रत्नाकर पाण्डेय	पत्रकार प्रेमचंद और हंस	राजेश प्रकाशन कृष्ण नगर नई दिल्ली	1977	प्रथम
रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि	इण्डियन प्रेस, प्रयाग	सन् 1956	द्वितीय
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	हिन्दी साहित्य का इतिहास	लोक भारती प्रका० इलाहाबाद	सन् 1981	चौदहवाँ
डॉ० वेद प्रकाश वैदिक	हिन्दी पत्रकारिता - विविध आयाम	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	सन् 1976	प्रथम

विश्वनाथ प्रताप मिश्र	हिन्दी का सामयिक साहित्य	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली	-	-
शंकर दयाल चौऋषि	द्विवेदी युग की हिंदी गद्य-शैलियों का अध्ययन	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली	सन् 1965 -	प्रथम -
डॉ० शंभू नाथ सिंह	हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका	पराग प्रकाशन दिल्ली	-	प्रथम
डॉ० शिति कंठ मिश्र	खड़ी बोली का आंदोलन	-	-	-
डॉ० शैल कुमारी	आधुनिक हिन्दी कविता में नारी भावना	हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद	सन् 1851	प्रथम
डॉ० सत्यकाम वर्मा	हिन्दी का आधुनिक साहित्य	भारती प्रकाशन मंदिर दिल्ली	-	प्रथम
सुमित्रानंदन पंत	ग्रंथि	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद	सन् 1939,	चतुर्थ
सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला	जूही की कली	गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ	सन् 1968	प्रथम
सुमित्रानंदन पंत	छाया	इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद	-	प्रथम
सियारामशरण गुप्त	मौर्य विजय	राम किशोर गुप्त झांसी	-	द्वितीय
डॉ० सुधीन्द्र	हिन्दी काव्य में युगान्तर	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	सन् 1950	प्रथम
डॉ० सुधीन्द्र	हिन्दी कवि	सौरभ प्रकाशन, दिल्ली	सन् 1950	प्रथम
डॉ० कृष्ण लाल	हीरक जयंती ग्रन्थ	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी	सं० 2011	प्रथम
डॉ० कृष्ण लाल	आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास	हिंदी परिषद, इलाहाबाद विश्व विद्यालय, प्रयाग	-	प्रथम
डॉ० कृष्ण लाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास	आनन्द पुस्तक भवन	सं० 1962	प्रथम

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बंबई	सन् 1959	प्रथम
डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी	द्विवेदी जी की देन - शैली	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी	-	प्रथम

हिन्दी पत्रिकायें

1- आदर्श
2- आनन्द-कादम्बिनी
3- आर्य-जीवन
4- आर्य-महिला
5- आलोक
6- आशा
7- इन्दु
8- उत्थान
9- उषा
10- औदुम्बर
11- ओष
12- कथामुखी
13- कमला
14- कमलिनी
15- कल्याण
16- कवि व चित्रकार
17- कान्यकुब्ज
18- कान्य कुब्ज-नायक
19- कान्यकुब्ज-बंधु
20- कान्यकुब्ज-सुधारक
21- कान्य कुब्ज - हितकारी
22- काशी-पत्रिका
23- काव्य कलाधर
24- काव्य कलानिधि
25- किशोर
26- किसानोपकारक
27- कृषि-सुधार
28- गंगा
29- गृह - लक्ष्मी
30- ग्राम-सन्देश
31- चाँद
32- चिकित्सा
33- चित्रमय जगत्
34- तरंगिणी
35- सरस्वती
36- माधुरी
37- प्रताप

कोश

पुस्तक	रचनाकार
1- हिन्दी मानक कोश	रामचन्द्र वर्मा
2- हिन्दी - अंग्रेजी कोश	मीनाक्षी
3- एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका	
4- साहित्य कोश	

अंग्रेजी पत्रिकायें

1- The Gazette of India, Calcutta

2- Government Gazette, Allahabad

3- Provincial Press Bureau, Allahabad

4- Government Gazette, United Provinces, Agra, Oudh, Allahabad.

5- Provincial Press Bureau, Nainital.

6- India

7- Memories of the Asiatic Society, Bengal

अँग्रेजी पत्रिकायें

1- The Gazette of India, Calcutta

2- Government Gazette, Allahabad

3- Provincial Press Bureau, Allahabad

4- Government Gazette, United Provinces, Agra, Oudh, Allahabad.

5- Provincial Press Bureau, Nainital.

6- India

7- Memories of the Asiatic Society, Bengal